प्रथम वर्ष

चौथी संख्या

प्राचीन भारत

[भारतीय शास्त्र एवं संस्कृति सम्बन्धीय मुख्य मासिक पत्रिका]

वैशाख

संवत् १९९८

सम्पादक—महामहोपाध्याय सकलनारायण शर्मा

सह० सम्पादक—श्री कालिदास मुकरजी एम. ए., एम. आर. ए. एस.

सह० सम्पादिका—कुमारी पद्मा मिश्र एम. ए.

परिचालक—श्री सतीश चन्द्र शील, एम. ए., बी. एल.

दि इन्डियन रिसर्च इन्स्टिट्यूट

१७०, मानिकतला स्ट्रीट कलकत्ता

सम्पादक-मंडल

नियमावली

(१) माघ माह से प्राचीन भारत का वर्ष आरम्भ होता है। हर माह के पहले हफ्ते में यह पत्रिका प्रकाशित होती है। हर संख्या में लगभग ७२ पृष्ठ रहते हैं।

(२) इस पत्रिका का वार्षिक मूल्य ४) तथा छमाही मूल्य २।) रुपये (डाक सहित) है। प्रति संख्या की कीमत ।≠), डाक अलग।

(३) वार्षिक या छमाही मूल्य पहले देना पड़ता है।

(४) किसी विशेष-संख्या के प्रकाशित होने पर वार्षिक-ग्राहकों को उसकी कीमत नही देनी पड़ती है।

(५) वर्ष-समाप्ति के एक माह पूर्व वसूली के लिये पत्र दिया जाता है नहीं तो वर्ष-समाप्ति के बाद पहली संख्या वी० पी० द्वारा भेजी जाती है। जो महोदय पत्रिका बन्द करना चाहते हैं उन्हे पहले ही सूचित करना आवश्यक है।

(६) ग्राहक का पता यदि बदल जाय तो जितनी जल्दी हो सके सूचित करना चाहिये।

(७) ठीक समय में यदि पत्रिका न मिले तो ग्राहक १५ दिन के भीतर सह० सम्पादक को सूचित करें।

(८) लेखक कृपया पृष्ठ की एक ओर अपना लेख भेजें। प्रूफ केवल एक ही बार लेखक के पास भेजा जा सकता है।

(९) जो महाशय १००) देने की कृपा करेंगे वे इस संस्था के आजीवन—सदस्य बनेंगे। उन्हें पत्रिका एव इस संस्था से प्रकाशित हिन्दी पुस्तकें मुफ्त में दी जावेंगी।

Printed and Published by Mr Gour Chandra Sen, B Com from the Indian Research Institute, 170, Maniktala Street, Calcutta, at the Sree Bharatee Press of the same address.

सूचीपत्र

प्राचीन भारत

(भारतीय शास्त्र एवं संस्कृति सम्बन्धीय मुख्य मासिक पत्रिका)

प्रथम वर्ष } वैशाख (संवत् १९९८) { चौथी संख्या

महात्मा बुद्धदेव के प्रारम्भिक जीवन पर एक दृष्टि

डा० डी० आर० भण्डारकर, एम० ए०, पी-एच० डी०, अफ० आर० ए० एस० बी०

लोग कहते हैं कि भारतवर्ष प्राकृतिक विभूतियों का भंडार है किन्तु प्राचीन अथवा आधुनिक भारत मानसिक, नैतिक तथा कला-कौशल सम्बन्धी ज्ञान में भी अन्य देशों से श्रेष्ठ है और आध्यात्मिक ज्ञान की उन्नति में तो यह सर्वोत्कृष्ट ही नहीं वरन अद्वितीय है। आज का सुअवसर इस बात को प्रमाणित करता है। आज वही दिन है जिस दिन महात्मा बुद्धदेव का जन्म हुआ था, उनकी मृत्यु हुई थी तथा उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था। जब कभी आज की भांति कोई सुअवसर आता है तो हम देखते क्या हैं? भारतीय जनता का ऐसे अवसरों पर योग लेना तो स्वाभाविक ही है, किन्तु ऐसा देखा जाता है कि इनमें भाग लेने वाले केवल बंगाली ही नहीं होते वरन् देश के प्रत्येक भाग के निवासी होते हैं। यही नहीं नेपाली, तिब्बती, ब्रह्मदेश के निवासी, सिन्हली, जापानी, चीनी और कभी कभी युक्तिवादी योरोपियन लोग भी इनमें भाग लेते दृष्टिगोचर होते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि भिन्न भिन्न राष्ट्रों के मनुष्य, वास्तव में सारी दुनियां के लोग ऐसे अवसरों पर उपस्थित होकर बुद्धदेव की स्मृति में श्रद्धा प्रकट करते हैं। वे एक भारतीय थे और उन्होंने यहीं रह कर अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया था। हम लोगों को इस बात का गर्व है कि वे भारत में उत्पन्न हुए थे और उन्होंने उसे संसार की दृष्टि में ऊंचा उठाया था। निस्सन्देह वे भारत माता के सबसे श्रेष्ठ पुत्र थे।

बौद्ध धर्म के संस्थापक की, जिसकी स्मृति में श्रद्धाञ्जलि भेंट करने को हम लोग आज एकत्रित हुए हैं, मृत्यु हुए लगभग चौबीस शताब्दी हो गई है। वे इक्ष्वाकु वंशीय थे और "शाक्य" जाति के

क्षत्रिय सर्दार शुद्धोदन के पुत्र थे। शाक्यों का राज्य नेपाल की पहाड़ी घाटी में आधुनिक बस्ती और गोरखपुर जिले के अन्तर्गत था। जिस समय बुद्धदेव का जन्म हुआ था उस समय यह कौशल नरेश के आधीन था और यहां का शासन कार्य यहा के प्रधान जनों के हाथ में था (Aristocratic republic)। बुद्ध जी की जीवनियां उनकी मृत्यु के बहुत दिन बाद लिखी गई थीं जिनमें कपोल-कल्पित कहानियां ही अधिक थीं। उत्तर में तिब्बत और नेपाल के बौद्ध धर्म की पुस्तक "बुद्ध-चरित्र" और "ललितविस्तार" तथा दक्षिण में लका की पुस्तक "जातक-अट्ठकथा" के आधार पर यदि उनकी एक जीवनी तैयार की जाय तो उसमें कुछ सार हो सकता है किन्तु यह भी तभी तक माना जा सकेगा जब तक कोई प्राचीन पाली ग्रन्थ इसे खण्डित नहीं करे। बुद्धदेव के विषय में आवश्यकता से अधिक लिखा जा चुका है, किन्तु कार्लाइल ने कहा है 'A well written life is as rare as a well spent one' अर्थात् "सुन्दर रूप से लिखा हुआ जीवनचरित्र उतना ही दुर्लभ है जितना कि उत्तम रूप से बिताया गया जीवन"। बुद्धदेव का महान् जीवन हमारे सामने है पर दुर्भाग्यवश किसी ने उसका सुन्दर चित्रण नहीं किया है। निस्सन्देह बुद्धदेव एक गुणवान् और महान् पुरुष थे। गुणवानों की ईश्वर प्रदत्त दिव्य दृष्टि होती है, उनमें असुविधाओं का सामना करने की सामर्थ्य होती है और उनकी अति तीक्ष्ण विचारशक्ति भी हुआ करती है। बुद्धदेव में ये सभी गुण विद्यमान थे।

सबसे पहले यह विचार करना आवश्यक है कि शाक्य राजकुमार की बुद्धि कितनी सूक्ष्म थी। किसी बाह्य दृश्य को देखकर उसकी कोमलता और गूढ़ता तक पहुंचना साधारण आंखों का काम नहीं है वरन् इसके लिये ज्ञानचक्षु की आवश्यकता है—एक संगीतज्ञ संगीत की अत्यन्त कोमल एवं सूक्ष्मध्वनि सुन सकता है जो साधारण मनुष्य के लिये असम्भव है—एक चित्रकार विभिन्न रंगों को देखकर मुग्ध हो सकता है जिसे साधारण मनुष्य नहीं समझ सकते—किसी कवि को प्रकृति के सौंदर्य और कोमलता का बोध बड़ी शीघ्रता से होता है जिसे हम अपनी साधारण आंखों द्वारा नहीं देख सकते। वास्तव में किसी गुणवान् पुरुष के लिये यह ससार साधारण वस्तु से अधिक है। कोमल और शीघ्रग्राही स्वभाव के कारण उसे यहां की साधारण से साधारण वस्तुओं में भी विशेषता दिखलाई देता है। यह सत्य है कि बुद्धदेव किसी राजा के पुत्र नहीं थे तथापि एक उच्च परिवार की सन्तान थे। वे स्वयं कहते हैं कि उनके पिता ने उनके लिये तीन प्रासाद (महल) क्रमशः ग्रीष्म, शरद और वर्षा काल के लिये बनवाये थे और उसमें सब प्रकार के सुख के साधन जुटाये गये थे जिसमें उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न हो अथवा किसी भद्दे दृश्य को देखकर वे विरक्ति न हों—तथापि एक वृद्ध, एक रोगी और एक मृतक को देखकर वे इतने व्यग्र हुए थे कि कदाचित् ही हम लोगों में कोई वैसा हुआ होगा। कहा जाता है कि महल से बाहर जाते समय उन्होंने एक बुड्ढे को देखा था जिसके बाल सफेद हो गये थे, वह हाथ में लाठी लिये दृष्टिहीन, दन्तहीन और सर्वस्वहीन खड़ा था। उसी प्रकार दूसरे दिन उन्होंने एक बीमार मनुष्य

को देखा था जिसका पेट फूल गया था, अस्थिपंजर कांप रहे थे और बड़े ही करुण स्वर से वह "मां मां" कह चिल्ला रहा था। तीसरे दिन उन्होंने देखा कि चार आदमी एक मुर्दे को ले जा रहे थे और उसके पीछे पीछे कुछ लोग अत्यन्त शोकाकुल होकर छाती पीटते हुए जा रहे थे। यदि रास्ते में हम किसी कोढ़ी को देखते हैं तो नगर के प्रबन्धकों के ऊपर झल्लाते हैं और उन्हें कोसते हुए अपनी जान लेकर भागते हैं। यदि हम किसी जीर्ण शीर्ण मनुष्य को अन्न के लिये चिल्लाते देखते हैं तो नाक सिकोड़ लेते हैं। इसी प्रकार यदि हम किसी मुर्दे को देख लेते हैं तो आंखों और कानों को बन्द कर उस दृश्य को देखने से मुँह मोड़ लेते हैं—यद्यपि हम यह जानते हैं कि हम भी किसी न किसी दिन रोगों के शिकार होंगे, वयोवृद्ध होंगे और हमें भी इस नश्वर शरीर को त्याग करना पड़ेगा, किन्तु उस समय हमारे लिये इन दृश्यों से बढ़ कर भयानक और दूसरा कुछ नहीं होता। किन्तु अत्यन्त विलासपूर्ण जीवन बिताने पर भी बुद्धदेव की दशा हम लोगों से भिन्न थी। वे प्रति दिन होने वाली घटनायें थीं तथापि उनके ऊपर इनका गहरा प्रभाव पड़ा था।

बुद्धदेव के जीवन की यह घटना हम लोगों को कबीर दास की एक कहानी की याद दिलाती है। कहा जाता है कि एक समय कबीर उस स्थान पर गये जहां कि एक स्त्री चक्की चला रही थी। कबीर वहां खड़े होकर उसे देखते रहे फिर अचानक चिल्ला उठे। उनके चारों ओर बहुत से आदमी एकत्रित हो गये पर किसी की समझ में यह बात नहीं आई कि एक साधारण चक्की को देखकर वे क्यों इस प्रकार रो पड़े। इसका कारण पूछने पर कबीर चक्की को दिखाकर कहने लगे कि जिस प्रकार इस चक्की में जो अन्न बाहर से डाला जाता है वह अन्दर जाकर पिस कर चूर्ण हो जाता है उसी प्रकार यह ससार भी एक चक्की है जो इसमें रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को पीस डालता है। कुछ लोग तो उन्हें सनकी कह कर हँसने लगे लेकिन कुछ ऐसे भी मनुष्य थे जिन्हे उनकी बातों से आश्चर्य हुआ किन्तु वे उन्हें किसी प्रकार की सान्त्वना नहीं दे सके। कबीर रो ही रहे थे कि निपटनिरजन नामक एक साधू वहां पर आया और कबीर के रोने का कारण जान कर हस कर बोला कि कबीर ने जो कुछ देखा है उसका आधा सत्य है। यह सत्य है कि चक्की के अन्दर जो अन्न जाता है वह चूर चूर हो जाता है किन्तु उसके निचले भाग में एक कील दृढ़ता पूर्वक जमी है जिसके सहारे चक्की का ऊपरी पल्ला घूमता रहता है। उस कील के निकट पड़ा हुआ अन्न का दाना जिस प्रकार बच जाता है उसी प्रकार इस ससार में वह व्यक्ति जो ईश्वर के ऊपर विश्वास करता है सहज में ही ससाररूपी चक्की में पिसने से बच जाता है। कबीर इस व्याख्या का अर्थ समझ कर हँसते हुए घर चले गये।

भारतवर्ष के घरों में चक्की चलाने का दृश्य अत्यन्त साधारण है। यदि हम ऐसे स्थान पर जाते हैं जहां चक्की चल रही है तो उस ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता और अगर हम चक्की से निकली ध्वनि को समझने की चेष्टा करे तो लोग अवश्य ही हमें पागल समझेंगे, परन्तु गुणवान् व्यक्ति के लिये

कुछ भी साधारण नहीं है। कबीर भी एक गुणवान् व्यक्ति थे इसलिये चक्की चलने के एक अतिसाधारण दृश्य से भी उनके हृदय में गंभीर भाव उत्पन्न हो गया था—इतना गंभीर जिससे कि वे चिल्ला उठे थे। कबीर भाग्यवान् थे उन्हें अधिक देर तक रोना नहीं पड़ा था। निपटनिरंजन ने उन्हें इसका भेद बता कर समय के पहले ही उनकी सहायता की थी। बुद्धदेव की दशा कुछ और ही थी—रोगी, वृद्ध और मृतक मनुष्य को देख कर उन्हें इस बात का ज्ञान हुआ था कि उन्हें भी बुढ़ापा, रोग और मृत्यु का शिकार होना पड़ेगा। इस विचार ने उनकी प्रसन्नता नष्ट कर दी थी और वे मन ही मन सोचने लगे थे कि क्या कोई ऐसा उपाय नहीं है जिससे ससार के सब दुःखों से मुक्ति मिल सके? इसका केवल एक ही साधन था—गृह त्याग; लेकिन घर छोड़ना इतना आसान नहीं था, उन्हें अपनी स्त्री और माता-पिता से बहुत प्रेम था। जिस समय वे मनुष्य मात्र के विषय में विचार कर रहे थे और गृह-त्याग की बात सोच रहे थे उसी समय उनका एक पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ तो उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि उस बन्धन में जो उन्हें इस सांसारिक माया मोह में जकड़ा है, एक नई गांठ पड़ गई इसलिये उन्होंने शीघ्र ही घर छोड़ने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली। घर छोड़ने के कुछ देर पहले उन्हें अपने नवजात शिशु को देखने की प्रबल इच्छा हुई और उसी इच्छा से प्रेरित हो वे सूतिका-गृह में गये जहां उनकी स्त्री यशोधरा गहरी नींद में सो रही थी। उसका एक हाथ बच्चे के शरीर पर था और बच्चा दूसरी ओर मुंह करके सोया हुआ था। शिशु को देखने के लिये माता का हाथ हटाना आवश्यक था और ऐसा करने से यशोधरा निश्चय ही जाग उठती और उन्हें अपने विचार बदलने को बाध्य करती। इस प्रकार उनके मन में एक भीषण द्वन्द उठ खड़ा हुआ।

समालोचक कह सकते हैं कि बुद्धदेव के इस मानसिक द्वन्द का उल्लेख पाली धर्म ग्रन्थ में नहीं है, किन्तु पाली धर्म-ग्रन्थ में तो उनकी स्त्री का भी उल्लेख नहीं है और पुत्र राहुल का उल्लेख है। अगर स्त्री नहीं थी तो राहुल उत्पन्न कैसे हुए? उत्तर तथा दक्षिण में उनकी जो जीवनियां सुरक्षित हैं उनसे पता चलता है कि गृह त्याग के समय उन्हें घोर मानसिक अशान्ति का सामना करना पड़ा था। बुद्धदेव गुणवान् और असाधारण प्रतिभाशाली पुरुष थे। सस्कृत के एक कवि ने "उत्तर-रामचरित्र" में लिखा है कि आदर्श पुरुषों के विषय में कौन सोच सकता है, उनका हृदय फूल सा कोमल और पत्थर सा कठोर होता है। राम को अपनी सीता से जितना प्रेम था ससार में कदाचित् ही किसी मनुष्य को अपनी स्त्री से उतना होगा किन्तु जनसाधारण के सुख और शान्ति के लिये सीता को निर्वासित कर उन्होंने राजा के कर्त्तव्य का पालन किया था। बुद्ध जी को अपनी स्त्री और पुत्र पर प्रगाढ़ प्रेम था लेकिन जब उन्होंने ससार में सत्य की खोज करने के लिये घर छोड़ने का पक्का इरादा कर लिया तो उनका कोमल और मर्मस्पर्शी हृदय पत्थर की भांति कठोर हो गया—उन्होंने स्त्री और पुत्र का कुछ भी ख़याल नहीं किया और उस गृह को जो उनके लिये अत्यन्त प्यारा था सदा के लिये छोड़ दिया। असाढ़ महीने की रात थी, कलाधर अपनी सम्पूर्ण कला सहित आकाश में विहँस रहा था,

बुद्धदेव अपने प्रिय घोड़े कन्ठक पर सवार होकर 'छन्ना' नामक साईस को साथ ले घर से चल पड़े और जब तक उन्होंने कोल्य देश की सीमा पर अनोमा नदी पार न कर ली तब तक वे चलते ही रहे। यहां से घोड़े और साईस को बिदा कर सिर के बाल और दाढ़ी को काट, गेरुआ वस्त्र धारण कर, वे चल पड़े।

कई समालोचकों का विचार है कि बुद्धदेव का गृहत्याग कोई असाधारण घटना नहीं थी इस तरह की घटनायें भारतवर्ष में रोज ही होती रहती हैं। खेद है कि हम इन समालोचकों को समझ नहीं सकते ; ऐसे बहुत से व्यक्ति हैं जिन्होंने किसी दुर्भाग्य से घर छोड़ दिया है, ऐसे भी अनेक व्यक्ति हैं जिन्होंने सांसारिक कृतघ्नताओं से ऊब कर प्रसन्नतापूर्वक जगल में अपना जीवन बिता दिया है—ऐसी घटनायें सदा से नये और पुराने युगों में होती आई हैं, संसार में ऐसे भी मनुष्य हैं जिन्हें सुख और साम्राज्य में भी किसी वस्तु का अभाव मालूम पड़ा है। याज्ञवल्क्य ने बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है कि ऐसे व्यक्ति सदैव से बहुत कम रहे हैं पर वे गृहत्याग के बाद अवश्य ही किसी न किसी सस्था के सदस्य बन जाते हैं। किन्तु बुद्धदेव ने ऐसा नहीं किया। गृहत्याग कर किसी धार्मिक सस्था से सम्बन्ध स्थापित करने का उनका विचार नहीं था। मृत्यु, रोग आदि देख कर उनके मन में ऐसा विचार आया कि इस ससार में वास्तविक सुख नहीं है। अनन्त सुख को खोजने की इच्छा से उन्होंने घर छोड़ा था और तरह तरह को यातनायें और कठिनाइयां झेली थीं। पहले दिन के भिक्षाटन द्वारा प्राप्त भोजन के विषय में उन्होंने कहा है कि उनका जी मचलने लगा, ऐसा मालूम होने लगा मानो प्राण मुह से बाहर आ रहे हैं, लेकिन अपनी दृढ़ इच्छाशक्ति से उन्होंने भोजन के कष्ट पर विजय पाई। इस तरह उनके प्रारम्भिक कष्टों का अनुमान किया जा सकता है। ज्ञान प्राप्त करने के लिये उन्हें जितनी कठिनाइयां झेलनी पड़ीं वे सब झेलते ही गये।

अनुपिप के निकट आम के एक घने कुञ्ज में सात दिन तक विश्राम कर वे मगध के राजा बिम्बिसार की राजधानी राजगृह गये। कहा जाता है कि बिम्बिसार ने उन्हें गृहस्थ बनाने की बड़ी चेष्टा की थी लेकिन बुद्ध जी अपने निश्चय पर अटल रहे। वहां से वे उस स्थान पर गये जहा "अलारकालाम" अपने शिष्यों के साथ ठहरा था। वहां उन्होंने समाधि के सिद्धान्तों का मनन कर उसका अभ्यास किया था। थोड़े ही दिनों में "अलारकालाम" उन्हें अपना सहकारी समझने लगा। वे इतने से ही सन्तुष्ट नहीं थे ; यहां से वे उद्रक रामपुत्र के निवास की ओर गये जहा उन्होंने उच्च कोटि की समाधि का अभ्यास किया जिसे "नैव संज्ञाना सज्ञायतन" कहते हैं।

किन्तु इससे कुछ विशेष सहायता नहीं मिली। उन्हें ज्ञात हुआ कि योग साधन से ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। अब उन्होंने तप करने का निश्चय किया और वे बौद्ध-गया के निकट "उरुवेला" के वन में चले गये। यह नया जीवन भली भांति आरम्भ हुआ। एक नीरव घने कुञ्ज को उन्होंने अपना निवास स्थान बनाया, आस-पास के खेतों की हरियाली और निकटवर्ती नदी का कल-कल निनाद उस स्थान को और भी अधिक मनोहर बना रहा था। पांच ब्राह्मण उनकी सेवा में सदैव तत्पर रहने लगे तथा

उनकी ज्ञान प्राप्ति की प्रतीक्षा करने लगे। ऐसे अनुकूल वातावरण में उन्होंने अपनी तपस्या आरम्भ की और उसे दिन प्रतिदिन कठिन बनाते गये। कभी कभी तो उनका शरीर और मन ऐसे कठिन परिश्रम से घबड़ा उठता था किन्तु अपनी दृढ़ मनोवृत्ति से उन्होंने अपने ऊपर विजय पाई, इसका परिणाम यह हुआ कि पेट छूने पर पीठ की रीढ़ का स्पर्श होने लगा, अंगों को रगड़ने पर सिर से बाल टूट कर गिरने लगे। इस प्रकार के कठिन व्रत और साधन से रक्त मांस सूख गया और शरीर का ढांचा मात्र ही शेष रह गया। आत्मसंयम अपनी सीमा लांघ गया फिर भी ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ। अतः उन्हें यह निश्चय हो गया कि जप तप सब तत्वहीन है और ज्ञान प्राप्ति का मार्ग कोई दूसरा ही है। ऐसे दुर्बल और क्षीण शरीर से कभी ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इस दशा में अपने सोच विचार को जारी रखने के लिये उन्होंने खीर, चावल आदि भोजन करने का निश्चय किया। इससे उनके शरीर और आत्मा को शान्ति मिली लेकिन उन पांच ब्राह्मणों की, जो दिन रात उनकी सेवा किया करते थे, श्रद्धा उनके ऊपर से हट गई और उनकी सेवा से विमुख हो उन लोगों ने अपना अपना रास्ता लिया। वैशाख मास की पूर्णिमा थी, 'निरंजरा' (Neranjara) नदी के तट पर एक पेड़ के नीचे बुद्धदेव बैठे थे। उसी समय किसी सर्दार की लड़की सुजाता उस स्थान पर पूजा करने आई और उन्हें वहां देवरूप में बैठे देख कर कुछ दूध और चावल भेंट कर गई। उन्होंने उसका भोजन किया और किसी घसियारे द्वारा दी गई घास को फैलाकर उस पर पाल्थी मार कर उसी पेड़ के नीचे वे बैठ गये। उन्होंने अपने मन में यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि मेरा शरीर नष्ट क्यों न हो जाय, मेरा रक्त मांस सूख क्यों न जाय किन्तु जब तक मैं उस अलौकिक ज्ञान को प्राप्त न कर लूंगा, इस आसन से कदापि नहीं हिलूंगा। आश्चर्य! उसी दिन उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ और उन्होंने संसार के रहस्य को प्रकट किया।

अब यह प्रश्न उठता है कि बुद्धदेव के जीवन का यह भाग विचारणीय है या नहीं? हम जानते हैं कि गौतम सिद्धार्थ ने उन्तीस वर्ष की आयु में घर छोड़ा था और पैंतीस वर्ष की अवस्था में उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था। इस छः वर्ष के समय को हम "सत्य की खोज" का काल कह सकते हैं। अभाग्य वश इस काल का पूरा पूरा विवरण हम लोगों को मालूम नहीं है। कुछ धर्मग्रन्थों से पता चलता है कि इस काल में वे पहले "अलार-कालाम" के फिर "उद्दकराम" के शिष्य रहे। उसके बाद कठोर तपस्या करते रहे। जिस समय वे सत्य की खोज में व्यस्त थे उस समय के जीवन की निस्सन्देह ये प्रधान घटनायें हैं किन्तु यह कभी नहीं माना जा सकता कि इस काल में उनका जीवनचरित्र केवल इन्हीं घटनाओं तक सीमित था। "पिटक" में कई घटनाओं का उल्लेख है कि बुद्धदेव को उस समय के प्रचलित धार्मिक विधानों का भी ज्ञान था। अब यह पूछा जा सकता है कि उन्हें इन धार्मिक विधानों का ज्ञान कहां से और किस प्रकार प्राप्त हुआ था?

यदि वे अपने पिता के राजप्रासाद में ही अपना जीवन व्यतीत कर देते तो यह सब जानना

उनके लिये सम्भव न था और ज्ञान प्राप्त करने के बाद वे संसार के सामने एक अनुभवी उपदेशक के रूप में प्रकट हुए। इसलिये इस प्रश्न का यही उत्तर है कि उन्हें इन विषयों का ज्ञान उसी समय प्राप्त हुआ था जिस समय कि वे सत्य का अन्वेषण कर रहे थे। सच्चे सुख को खोजने की इच्छा से उन्होंने धार्मिक और दार्शनिक विषयों का खूब मनन किया था। लोगों का यह भ्रम निर्मूल है कि गुणवान् पुरुषों को केवल कुछ समय तक सोचने विचारने से ही सत्य का ज्ञान हो जाता है। वे भूल जाते हैं कि विद्वानों को भी तरह तरह की कल्पना करनी पड़ती है, उसीके आधार पर उन्हें प्रयोग भी करना पड़ता है जिसमें बहुधा असफलता ही मिलती है। समय और बुद्धि खर्च कर अनेक गलत और सही रास्ते पर चलने के बाद सत्य प्रकट होता है। हां एक बार सत्य को जान लेने पर इसको खोजने वाला गुणवान् कहलाने लगता है। न्यूटन, कालविन आदि वैज्ञानिकों की भी यही दशा थी; उनके आविष्कारों के चमत्कार से हम इतने प्रभावित हो जाते हैं कि हमारे मन में यह विचार ही नहीं उठता कि इसके लिये उन्हें कितना परिश्रम और कष्ट उठाना पड़ा होगा। कार्लाइल ने ठीक कहा है :—

Genius is "the transcedent capacity of taking trouble"

अर्थात् गुणवानों में कष्ट सहने की शक्ति अद्भुत होती है। धार्मिक या वैज्ञानिक क्षेत्र का कोई भी ऐसा प्रतिभावान पुरुष नहीं है जिसे अपने ध्येय को सफल बनाने में अधिक परिश्रम न करना पड़ा हो। बुद्धदेव भी ऐसे ही प्रतिभावान् पुरुष थे। इस बात को उन्होंने सिद्ध कर दिया है कि उनमें भी कष्ट सहने की अपार शक्ति थी। ज्ञान उन्हें शीघ्र नहीं प्राप्त हुआ था। इसके लिये उन्हे छः वर्षों तक परिश्रम कर इधर उधर भटकना पड़ा था। उन्होंने अपने समय और शक्ति का ह्रास किया, बड़ी बड़ी भूले कीं, इतना तप किया कि उनके प्राण तक निकलने लगे। यहां तक कि शुद्धोदन को उनकी मृत्यु कि सूचना भेजी गई लेकिन जब तक आवागमन के रहस्य को उन्होंने जान न लिया वे अपने काम से विमुख नहीं हुए।

अब हम देखते हैं कि उनको दिव्य दृष्टि थी और उनमें कष्ट सहन करने की ऐसी अपार शक्ति थी जिससे उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था। यदि वे किसी प्रकार की भूल किये बिना ही अपने कार्य को सफल बना लेते तो हम लोग उन्हें स्वर्ग का देवता समझते। किन्तु वे भी एक मनुष्य थे और मनुष्य की भांति ही उन्होंने अपना जीवन भी बिताया था; निस्सन्देह उनका जीवन हम लोगों के जीवन से उत्तम और उच्च कोटि का था यद्यपि उनके जीवन में बहुत सी असाधारण घटनायें घटी जो अद्भुत हैं फिर भी वे एक मनुष्य थे—यही बात हम लोगों का ध्यान आकर्षित करती है। उदाहरणार्थ—"मार" ने उन्हें तप से डिगाने की बड़ी चेष्टा की थी। एक बार जब वे 'निरंजरा' नदी के तट पर विश्राम कर रहे थे "मार" प्रकट हुआ और उसने बोला "भगवन् अब आप निर्वाण प्राप्त करें"। बुद्धदेव ने उत्तर दिया "मैं तब तक निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकता जब तक मेरे इस पवित्र

धर्म का पूर्ण प्रचार न हो जाय"। यह घटना अस्वाभाविक मालूम होती है। लेकिन हम हर एक बात को बहुत जल्दी अस्वाभाविक कह देते हैं। यदि हम एक भूत को भी कब्र से निकलते देखें तो इसे भी अपनी आंखों का भ्रम ही कहेंगे। तथापि प्राचीन समय में लोगों का यह विश्वास था कि दूसरे लोक के जीव इस लोक के प्राणियों से मिलते हैं; इसलिये अविश्वास का कोई कारण नहीं है कि "मार" बुद्धदेव से नहीं मिला था। ऐसी ही घटना योरोप के मध्य काल के धर्मसुधारक "लूथर" के साथ भी घटी थी। कहा जाता है कि वार्टबर्ग में जहां वह बाइबिल का अनुवाद कर रहा था दीवाल पर अभी भी एक काला दाग है। "लूथर" बैठा बाइबिल के एक भजन का अनुवाद कर रहा था, वह भूख और परिश्रम के कारण अत्यन्त थका हुआ था, उसी समय उसके सामने एक छाया मूर्त्ति प्रकट हुई; उसे अपने काम में बाधा डालने वाला समझ कर उसे मारने के लिये "लूथर" ने अपनी दावात उसके ऊपर फेंक दी, वह छाया मूर्त्ति अदृश्य हो गई और परिणामस्वरूप वह काला धब्बा दीवाल के ऊपर पड़ गया। यदि हम किसी वैज्ञानिक से इसके विषय में पूछें तो वह इसे 'मस्तिष्क की कल्पना' कहेगा। यह जाग्रतावस्था का स्वप्न हो अथवा मस्तिष्क की कोरी उपज, लेकिन केवल ऐसी मानसिक अवस्था अथवा शारीरिक भ्रम ही इसका कारण नहीं होता वरन् स्वस्थ शरीर से हम इन बातों की कल्पना कर सकते हैं। यह अत्यन्त भावुक मस्तिष्क की कल्पना है कि भूत प्रेत से साक्षात् किया जा सकता है। मनुष्य की निर्भयता का प्रमाण इससे अधिक क्या हो सकता है कि वह दुष्ट आत्मा भूत प्रेत का भी सामना करता है। इसी भांति हम समझते हैं कि बुद्ध जी की "मार" से लड़ाई अवश्य हुई होगी। बुद्धदेव से बढ़ कर साहसी पुरुष इस संसार में न होगा।

बुद्धदेव ने छः वर्ष के कठोर तप के बाद सांसारिक दुःखों को दूर करने का जो उपाय बताया है उस पर हम समयाभाव के कारण विचार नहीं कर सकते। जो व्यक्ति जिस वातावरण में रहता है उसकी उपेक्षा वह नहीं कर सकता किन्तु यदि वह अपने विचारों को अधिक उन्नत बना लेता है तो हम उसे बुद्धिमान् कहते हैं। ऐसे मनुष्य को अपने समय की प्रचलित धार्मिक प्रथाओं का आदर करना पड़ता है। बुद्धदेव ने भी अपने समय के प्रचलित धार्मिक प्रथाओं का अध्ययन किया था फिर उन्हो ने अपनी बुद्धि से ज्ञान के मार्ग को खोज निकाला। उपदेशक बुद्धदेव के चरित्र का पूर्ण चित्रण करना सम्भव नहीं है फिर भी उनका पवित्र धर्म हम लोगों की सब शंकाओं का समाधान कर देता है।

अनुवादिका :—

कनक लता पुरी।

---

*भारतीय स्त्रियां—आधुनिक और प्राचीन

कुमारी पद्मा मिश्र, एम० ए०

किसी भी देश की संस्कृति और सभ्यता का बोध साधारणतया वहां की स्त्रियों की सामाजिक स्थिति से हो जाता है। इसी तरह भारतीय नारियों की दशा यहां की विभिन्न काल की संस्कृति की द्योतक रही है। अंगरेजों के भारत में अधिकार स्थापित करने के समय संस्कृति के साथ ही साथ यहां की स्त्रियों की स्थिति बहुत शोचनीय हो गई थी। उनका कर्मक्षेत्र घर की चहरदीवारी तक ही सीमित था। पढ़ना लिखना सीखना उनके नैतिक पतन की पहली सीढ़ी समझा जाता था। गृह-प्रबन्ध और धार्मिक कृत्यों में भाग लेना केवल एक नाम मात्र की प्रथा थी। पर्दे के कारण तो उनके रहे सहे अधिकार भी जाते रहे। उनके मनोरंजन का साधन था पारस्परिक निन्दा—और प्रवीणता थी उनकी बत्तियां बनाने में। इस प्रकार पर्दे से जकड़ी, शिक्षा से दूर और अधिकारों से वञ्चित नारी अपनी जीवन-नौका को संसार की लहरों की दया पर छोड़ चुकी थी। विधवाओं की दशा तो और भी गई बीती थी। पुनर्विवाह का नाम लेना तो क्या, उसका विचार भी मन में लाना पाप था। उन्हें तो किसी न किसी तरह अपने भारस्वरूप जीवन को घृणा और अपमानों के बीच व्यतीत करना पड़ता था। यह थी अंगरेजों के अधिकार स्थापित करने के समय भारतीय नारियों की अवस्था।

अंगरेजों के शासन के साथ ही साथ उनकी संस्कृति और उनके विचार भी हिन्दुस्तान में आते गये, जिनके संघर्षण से भारतीय सभ्यता ने भी अंगड़ाई ली और भारतीयों को सुधारों की आवश्यकता मालूम पड़ी। भारतीय पुरुषों ने स्त्रियों के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझा और उनके पक्ष को लेकर वे आगे बढ़े। स्त्रियों ने भी अपनी दशा सुधारने की ठानी। उन्होंने घर से निकल कर जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी प्रवेश किया और अपूर्व सफलता पाई। राजकार्य में निपुण, ओजस्वी व्याख्यान देने में कुशल और सामाजिक सुधारों में दक्ष महिलाओं की आज कमी नहीं है। बङ्गाल में मिसिज़ मुरशैद, पंजाब में बेगम शाहनवाज और बम्बई में हंसा मेहता पार्लियामेन्टरी सेक्रेटरी के पद पर प्रतिष्ठित हैं। मिसिज़ जुबैदा अतरू रहमान आसाम की और बेगम अज़ीज़ रसूल संयुक्त प्रान्त की व्यवस्थापिका सभा की उपसभानेत्री हैं। मद्रास में भी स्त्रियों की प्रतिनिधिस्वरूप श्रीमती रुक्मिणी लक्ष्मीपति लेजिस्लेटिव असेम्बली की डिप्टी स्पीकर हैं। संयुक्तप्रान्त में उपसभानेत्री ही नहीं किन्तु मन्त्री के पद पर भी विजयलक्ष्मी पण्डित जैसी सुयोग्य कार्यकर्त्री की नियुक्ति से स्त्री-समाज का मस्तक ऊंचा हो गया है। अवैतनिक

* १४ अप्रैल को बलंगीर (पटना स्टेट) में पढ़े गये भाषण का भाषान्तर।

विचाराधीश (Honorary magistrates) के पद के लिये तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं के लिये अधिकाधिक संख्या में आजकल स्त्रियों का चुनाव हो रहा है। भारत की कोकिला, श्रीमती सरोजिनी नायडू एक कुशल नेता, भावुक कवि और प्रखर वक्ता हैं। विभिन्न आन्दोलनों के कारण अब पर्दे का भी बहुत कुछ परित्याग हो गया है। प्रारम्भ में इन स्त्रियों को बड़े विरोध का सामना करना पड़ा था पर अब वह विरोध धीरे धीरे शान्त होता जा रहा है। लेकिन अब भी समाज के किसी किसी विभाग से यह शंका उठती है कि क्या स्त्रियों का इस तरह सार्वजनिक कार्यों में भाग लेना श्रेयस्कर है? इसका समुचित उत्तर यही होगा कि आजकल की स्त्रियां कोई अनोखा काम नहीं कर रही हैं। वे केवल अपनी प्राचीन और मध्यकालीन बहिनों के पद-चिह्नों पर चलने का और एक भूली हुई परम्परा को फिर से प्रवर्तित करने का प्रयत्न कर रही हैं।

शासन करने वाली रानियों और सम्पत्ति आदि के निरीक्षण में दक्ष स्त्रियों के उदाहरण भारतीय इतिहास के लिये नये नहीं हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में भी राज्य करने वाली स्त्रियां भारत में वर्तमान थीं, यह जोन स्टुअर्ट मिल के कथन से प्रतीत होता है। आपका नाम किसने नहीं सुना है? आप एक प्रसिद्ध दार्शनिक, अर्थशास्त्र के अद्वितीय पण्डित और श्रेष्ठ लेखक थे। स्त्रियों की आधीनता (Subjection of women) नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में एक अंगरेज़ कर्मचारी के कथन के आधार पर उन्होंने लिखा है—'अगर किसी हिन्दू राज्य में बिना दबाव के सुख और शान्ति का साम्राज्य हुआ, किफ़ायत और सावधानी से राज काज चलता हुआ मिला, प्रजा धन-धान्य से सम्पन्न हुई और कृषि की दशा अच्छी हुई, तो चार में से तीन स्थानों में राज्य की संचालिका स्त्री ही होगी१। आधुनिक महिलाओं की प्रबन्ध-पटुता की इससे बढ़कर प्रशंसा और क्या हो सकती है? प्राचीन भारत में भी यही हाल था। साहित्य के ग्रन्थों और लेखों से प्रतीत होता है कि किसी स्त्री का शासनकार्य अपने हाथ में ले लेना कोई अनहोनी घटना न समझी जाती थी। वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि जब रामचन्द्र जी को वनवास की आज्ञा हुई थी, उस समय वृद्धजनों की इच्छा थी कि उनकी जगह सीता देवी का अभिषेक कर दिया जाय२। इसी प्रकार महाभारत में भी भीष्म-पितामह ने युधिष्ठिर से कहा था कि पुत्रहीन राजा की मृत्यु के बाद राज्य की अधिकारिणी उसकी कन्या मानी जाय३। राजाओं का अभिषेक भी अकेले नहीं होता था, परन्तु उनकी पत्नियों के साथ। देवी शब्द का प्रयोग संस्कृत-साहित्य में 'पट्टाभिषिक्त रानी' के लिये होता था। इसका यही तात्पर्य हुआ कि राज्य के प्रभुत्व की वे भी उतनी ही अधिकारिणी समझी जाती थीं जितने उनके पति। गुप्त साम्राज्य

---

१ Altekar—The position of Women in Hindu civilisation, p. 222.

२ वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, ३७, २३-२४

३ अल्टेकर की उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २१८

के संस्थापक चन्द्रगुप्त प्रथम के सिक्कों पर उनके और उनकी पत्नी कुमारदेवी दोनों के नाम अंकित रहते थे और दोनों ही की प्रति-छवि भी रहती थी। गौतमीपुत्र शातकर्णी का एक आदेश नासिक की खोह में मिला है जिसे उन्होंने और उनकी पत्नी, दोनों ने मिल कर दिया था४। स्त्रियां केवल राज्य करने के अधिकार का उपभोग ही नहीं करती थीं, परन्तु वे बहुधा अपने शासक पतियों से बिना पूछे ही आज्ञा देती थीं और भूमि आदि का दान भी देती थीं। चालुक्य वंश के चन्द्रादित्य की पत्नी विजयमहादेवी ने तांबे पर लिखे दान के दो आदेशपत्र अपने पति की या उनके भी अधिपति विक्रमादित्य की चर्चा किये बिना ही दिये थे५। ऐसे दान-पत्र शासकों द्वारा या उनकी सम्मति से दिये जाने पर ही प्रामाणिक समझे जाते थे। विजय महादेवी के अपने ही नाम से दिये गये दानपत्रों से प्रकट होता है कि प्रजा में उनके आदेशों का भी उतना ही मूल्य था, जितना उनके स्वामी अर्थात् राजा चन्द्रादित्य के आदेशों का। यह विशेषाधिकार सामन्तों की स्त्रियों को ही प्राप्त थे यह बात न थी, बड़े बड़े राजाओं और चक्रवर्तियों की रानियां भी इससे वंचित न थीं। राष्ट्रकूट वंश के ध्रुव की अर्धांगिनी शील्महादेवी, परमेश्वरी परम-भट्टारिका कहलाती थी और ग्राम आदि के दान के लिये आज्ञापत्र भी देती थीं। स्त्रियां अपने पति के जीवनकाल में ही नहीं परन्तु उनके बाद भी शासन-कार्य संभाल सकती थीं। पुत्रों की संरक्षिका और प्रतिनिधि बन कर राज्य का प्रबन्ध करने वाली रानियों के अनेक उदाहरण हैं। ईसा की चौथी शताब्दी में प्रभावती गुप्ता६ ने अपने पुत्र के बाल्य-काल में राज्य की देखभाल की थी। काश्मीर की रानी सुगन्धा और दिद्दा ने भी पुत्रों की संरक्षिका होकर प्रजा पालन किया था। वे राज्य के प्रबन्ध के लिये अपने कर्मचारियों पर ही निर्भर न रहती थीं, परन्तु राज्य-संचालन में सक्रिय भाग लेती थीं। विवाह के कारण ही स्त्रियों को शासन का अधिकार मिलता हो यह बात न थी, कभी कभी यह अधिकार उन्हें जन्म से ही मिल जाया करता था। उड़ीसा में 'कर' वंश की कुमारी दण्डि महादेवी शासक के पद पर प्रतिष्ठित हुई थी,७ यद्यपि उनका एक भाई भी था जो उनके बाद गद्दी पर बैठा था। इससे प्रकट होता है कि कुछ परिवारों में राज्य पर कन्याओं का भी अधिकार होता था।

राजपूतों में रानियों के समानाधिकार और प्रतिनिधित्व (Regency) की प्रथा बहुत प्रचलित थी। राजपूत रानियां केवल शासन करने में ही कुशल न होती थीं, किन्तु समय पड़ने पर वे सेना का संचालन भी करती थीं। तलवार और भाला चलाने में वे सिद्धहस्त होती ही थीं, कूटनीति और युद्ध-विद्या अथवा व्यूहरचना में भी वे पारंगत होती थीं। पति के स्वर्गारोहण के बाद कूर्मादेवी ने

४ डा. भण्डारकर —Women as administrators and rulers in Ancient India.

५ डा. भण्डारकर—उपर्युक्त लेख।

६ ,, ,,

७ ,, ,,

मेवाड़ का शासन सँभाला और कुतुबुद्दीन के आक्रमणों को रोका था। राणा सांगा की रानियों ने जिनका नाम कर्णवती और जवाहिर देवी था, विपक्षी की असंख्य सेना की कुछ भी परवाह न कर चित्तौड़ की रक्षा का प्रबन्ध किया था और जवाहिर देवी ने तो स्वदेश की रक्षा में लड़ते हुए अपने प्राणों की बलि दे दी थी। महाराष्ट्र की स्त्रियां भी अपने देश के राजनैतिक और सेनासंबन्धी कार्यों में भाग लेती थीं। शासन-प्रबन्ध और सैनिक-शिक्षा मराठा राजवंश की स्त्रियों की शिक्षा का एक मुख्य अंग था। यशवन्त राव होलकर की कन्या भीमाबाई ने सर जोन मेलकम से कहा था कि पति और पुत्र की अनुपस्थिति में सेना का नेतृत्व करना महाराष्ट्र की राजकुमारियों का कर्त्तव्य समझा जाता है८। वास्तव में उनके ऐसा करने के अनेक उदाहरण हैं। कोल्हापुर राजवंश की संस्थापिका ताराबाई ने औरंगज़ेब का विरोध करने के लिये मराठों का संगठन किया था, और यह जानते हुए भी कि उसके शत्रु के पास समस्त भारत की युद्धसामग्री थी वह बिलकुल विचलित न हुई९। लक्ष्मीबाई का युद्धनैपुण्य और उसकी वीरता की कथायें किसे नहीं मालूम हैं? उनकी प्रशंसा उनके शत्रुओं ने भी की थी। साधारणतया राजनीति के कार्यों में भी रानियों का हाथ रहता था और आपत्ति के समय वे असाधारण धैर्य का परिचय देती थीं। राजकुमारियों को भी राज्य के काम सौंपे जाते थे। ग्यारहवीं शताब्दी में जयसिंह तृतीय की बड़ी बहिन अक्का देवी किन्सुकाद की देखरेख में नियुक्त थीं और विजयादित्य की बहिन कर्नाटक में घरबार का काम सँभाले थीं१०। ऐसी स्त्रियां अधिकतर राजपरिवार की या सम्भ्रान्त कुल की होती थीं। मध्यकालीन साधारण स्त्रियां इस प्रकार की शिक्षा के अभाव से ऐसे उच्च पद पर न पहुँच सकती थीं।

केवल राजनैतिक क्षेत्र में ही स्त्रियों की कीर्त्ति नहीं फैली थी, अन्य क्षेत्रों में भी वे उतनी ही सफलता के साथ बढ़ी थीं। विदुषी कन्या परिवार का अलंकारस्वरूप समझी जाती थी और उसके जन्म के लिये एक विशेष विधि की व्यवस्था की गई थी।११ परमार्थ-विद्या, तत्त्वज्ञान, गणित, चिकित्सा और पढ़ाने में प्रवीण स्त्रियों की समाज में कमी नहीं थी। उनका उपनयन संस्कार होता था और वेदाध्ययन की वे पूरी अधिकारिणी थीं। इस तात्पर्य का यह श्लोक भी है:—

'पुरा कल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां सावित्री वचनं तथा॥'

---

८ अल्टेकर—उपर्युक्त पुस्तक पृ, २५
९ ,, ,, पृ, २५
१० ,, ,, पृ, २२४
११ ,, ,, पृ, ४

अर्थात्—प्राचीन काल में स्त्रियां वेद पढ़ती थीं और गायत्री का जप करती थीं। उस समय स्त्रियों के दो विभाग कर दिये गये थे ब्रह्मवादिनी और सद्योद्वाहा। जो उच्च कोटि की विद्या-प्राप्ति को अपना ध्येय समझती थीं, वे ब्रह्मवादिनी कहलाती थीं और आजीवन कुमारी रह सकती थीं। साधारण शिक्षा-प्राप्ति के बाद जिनका विवाह हो जाता था वे सद्योद्वाहा कहलाती थीं। ईसा से पूर्व की शताब्दियों में शिक्षा के मुख्य विषय थे वैदिक और दार्शनिक साहित्य। प्राचीन साहित्य का एक अंग पूर्व मीमांसा है, जिसमें वैदिक यज्ञों से सम्बन्ध रखने वाली समस्याओं पर विचार प्रकट किये गये हैं। यह भी गणित की तरह शुष्क और गूढ़ विषय है। तब भी इतनी स्त्रियां इसे पढ़ती थीं कि संस्कृत-व्याकरण को उनके लिये एक नये नाम की रचना करनी पड़ी थी। पतञ्जलि अपने भाष्य में लिखते हैं—'काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी, तामधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी'। काशकृत्स्न नाम के एक विद्वान् ने मीमांसा लिखी थी, जो उनके नाम पर काशकृत्स्नी कहलाई। उसको पढ़ने वाली काशकृत्स्ना कही जाती हैं[१२]। इसी प्रकार पढ़ाने वाली स्त्रियों और शिक्षकों की पत्नियों में अन्तर दिखाने के लिये एक नया शब्द संस्कृत में बनाना पड़ा था। उपाध्याय की पत्नी उपाध्यायनी कहलाती थीं पर जो स्वयं पढ़ाती थीं उनके लिये उपाध्याया शब्द का प्रयोग होता था। अध्यापिकाओं की संख्या अवश्य ही बहुत रही होगी तभी तो उनके लिये अलग शब्द बनाने की आवश्यकता पड़ी थी।

तत्त्वज्ञान में भी स्त्रियों ने अपूर्व सफलता प्राप्त की थी। मैत्रेयी को बनाव शृंगार की वस्तुओं की उतनी चाह न थी, जितनी मोक्ष के साधनों को ढूँढ़ निकालने की। राजा जनक के दरबार में जो शास्त्रार्थ हुआ था, उसमें गार्गी ने प्रमुख भाग लिया था और अनेक तत्त्वज्ञानियों के सामने याज्ञवल्क्य से उन्होंने वाद-विवाद किया था। गणित शास्त्र में स्त्रियों की कितनी पहुँच थी, इसका प्रमाण तो लीलावती की लिखी 'लीलावती' ही है। गणित जैसे नीरस विषय को उन्होंने सरस बनाने का प्रयत्न किया था। उनके प्रश्न ललित और सरल पद्यों में हैं, जिन्हें पढ़ कर गुणा भाग के परिश्रम को विद्यार्थी भूल ही जाते हैं। उदाहरण के लिये यह सवाल देखिये :—

'अमलकमलराशेस्त्र्यंशपञ्चांशषष्ठै-
त्रिनयनहरिसूर्या येन तुर्येण चार्या।
गुरुपदमथ षड्भिः पूजितं शेषपद्मैः,
सकलकमलसंख्यां क्षिप्रमाख्याहि तस्य॥'

सवाल यों है—एक कमल के फूलों का ढेर है, उसके तीसरे, पांचवें और छठे भाग से शिव जी, विष्णु भगवान् और सूर्यदेव की पूजा की गई। चौथे भाग के फूलों से पार्वती जी की पूजा हुई।

---

१२ अल्टेकर—उपर्युक्त पुस्तक पृ, १४

अब शेष बच गये ६ कमल, जिन्हें गुरुजी के चरणों पर चढ़ा दिया। झट-पट बताइये तो कुल कितने फूल थे? प्रश्न पूछने का कितना अनूठा ढंग है?

दुर्भाग्यवश स्त्री-चिकित्सकों के नाम या उनके ग्रन्थ अब नहीं मिलते। केवल एक ऐसी स्त्री का पता चला है, जिनकी एक पुस्तक का अरबी में अनुवाद खलीफा हारूँ की आज्ञा से आठवीं सदी में हुआ था। अरबी में इनका नाम रूसा हो गया है[१३]।

साहित्य में भी हमारी बहिनें किसी से कम न थीं। विश्व-साहित्य की सबसे प्राचीन विभूति ऋग्वेद में स्त्रियों की भी बनाई हुई ऋचायें हैं। भाग्य ने ऐसा पलटा खाया है कि हम उन्हीं ऋचाओं के पढ़ने से वंचित हैं जिनमें से बहुत सी हमारी ही पूर्वज बहिनों ने लिखी थीं। जिनकी रचनाओं को वेद में स्थान मिला है उनमें से कुछ के नाम हैं विश्ववारा, रेवा, रोहा और राजकुमारी घोषा। वैदिक संस्कृत के बाद जब उससे कुछ भिन्न संस्कृत में काव्य आदि की रचना होने लगी तो उस भाषा में भी सुन्दर भावमयी कविता द्वारा स्त्रियों ने साहित्य की श्री-वृद्धि की थी। राजशेखर ने ऐसी कुछ स्त्री कवियों की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। उनका कहना है कि सुभद्रा की शैली कवियों और समालोचकों दोनों को ही आकृष्ट करती थी। शीला की भाव-व्यंजना उनकी कल्पना की भांति ही चमत्कारपूर्ण थी, रह गई विज्जका, उनकी तो बात ही निराली थी, वे तो साक्षात् सरस्वती थीं, अन्तर केवल यह था कि विज्जका का रंग सांवला सा था। इस श्यामवर्ण को छोड़ कर उनमें और सरस्वती में कोई भेद ही न था। इन्दुलेखा, कुन्तीदेवी, मदालसा और अनेक कवियित्रियों की रचनाओं को सुन्दर व श्रेष्ठ कविताओं के संग्रह ग्रन्थों में स्थान मिला है। राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी एक भावुक कलाकार ही नहीं परन्तु कला की पारखी भी थी। साहित्य के विवादग्रस्त विषयों पर उनकी सम्मति उनके पति राजशेखर ने (जो स्वयं एक उच्चकोटि के विद्वान थे) 'काव्यमीमांसा' में जगह जगह उद्धृत की है। 'कौमुदी महोत्सव' नामक संस्कृत का एक नाटक है जिसमें पाटलिपुत्र की किसी राजनैतिक उथल-पुथल का वर्णन है। इसकी रचना का श्रेय भी एक स्त्री को ही दिया जाता है। संस्कृत में पद्य रचना करने वाली स्त्रियां पिछली शताब्दी तक हुई हैं पर उनकी संख्या कम होती जाती थी और सभ्य परिवारों में ही वे अधिकतर होती थीं।

संस्कृत नाटकों में नायिका और उनकी सखियों के वर्णन से प्रतीत होता है कि स्त्रियां उस युग में संगीत, चित्रकारी और नृत्य आदि कलाओं में निपुण होती थीं। यह सच है कि प्राचीन काल में भी पर्दे की प्रथा थी, पर वह प्रथा इतनी कड़ी न थी कि स्त्रियां सार्वजनिक कार्यों और दरबार आदि में होने वाले संगीत सम्मेलनों में भाग न ले सकें। एक रानी ने अपने पति के दरबार में जहां उनके राज्य के और बाहर के अन्य प्रतिष्ठित सज्जन उपस्थित थे इतनी अच्छी तरह गाया था कि राजा ने प्रसन्न हो

---

१३ अल्टेकर—उपर्युक्त पुस्तक, पृ, ११

कर उन्हें कुछ इनाम देना चाहा। पर रानी ने उसके बदले कुछ भूमि दान देने की आज्ञा प्राप्त कर ली, और राजा से कहा कि वे उनको दी हुई आज्ञा को अपनी स्वीकृति से पक्का कर दें। यह खेद का विषय है कि रानी स्वयं दानपत्र नहीं दे सकती थीं और उन्हें उसके लिये राजा से कहना पड़ा था। इससे यह भी प्रकट होता है कि उस समय रानियों को अपने आप दानपत्र देने का अधिकार नहीं था। जिस रानी के गाने से राजा इतने प्रसन्न हुये थे उनका नाम सावल देवी था और उनके पति का सोम। वे कलचुरी वंश के थे और कल्याणी में राज्य किया करते थे। कल्याणी आजकल निजाम की रियासत में है। यहां एक बात और ध्यान देने की है कि उस रानी की बहिन बावलदेवी केवल गाने में ही नहीं नृत्यकला में भी निपुण थीं[१४]। बारहवीं शताब्दी तक ये कलायें सम्भ्रान्त कुल की स्त्रियों की शिक्षा का आवश्यक अंग समझी जाती थीं। रानियां यद्यपि परदे में रहती थीं पर विशेष अवसरों पर जनता के सामने नृत्य और गान का प्रदर्शन बिना किसी अनौचित्य के कर सकती थीं। कालिदास के समय में अर्थात् ईसा की पांचवीं शताब्दी में भी राजपरिवार की कुमारियों को ये कलायें सीखनी पड़ती थीं। *'मालविकाग्निमित्र'* नामक नाटक में उन्होंने राजा के सामने दरबार में मालविका के नृत्य दिखाने का वर्णन किया है। हर्ष का विषय है कि आजकल स्त्रियां अधिकाधिक संख्या में कला और विज्ञान के क्षेत्रों में उन्नति कर रही हैं।

---

१४ Collected works of Sir R G Bhandarkar, vol. III, p. 342-344

मोहनजोदारो

श्री बैजनाथ पुरी, एम० ए०

सिंध में लरकाना नाम का एक शहर है जिससे २२ मील की दूरी पर डोकरी नाम का एक स्टेशन है। वहा से करीब ७ मील के घेरे का एक बड़ा लम्बा चौड़ा टीला है। इस टीले का नाम मोहनजोदारो है। वहां के लोग इसे 'मोहनजोदगो' याने मोहन का अजीब टीला कह कर पुकारते हैं। यह टीला जमीन से कोई ३०-४० फीट ऊँचा है। पुराने जमाने में सिंधु नदी इधर ही से होकर बहती थी जिससे यह स्थान सभ्यता का केन्द्र था। सन् १९२३ में यह विचार किया गया कि यह भारतवर्ष की बहुत पुरानी सभ्यता का केन्द्र रहा होगा और यदि खुदाई की जाय तो बहुत सी पुरानी चीज़ें निकल सकती हैं जिससे उस समय के रहने वालों के हाल चाल का पता लग सकेगा। खुदाई में कुछ मिट्टी और पत्थर के मोहर मिले हैं जिन पर जानवरों की तसवीरें और कुछ अक्षर खुदे हुए हैं। सर जान मारशल और रायबहादुर काशीनाथ दीक्षित जी ने उनकी पूरी तौर पर खुदाई कराई जिससे उस समय की सभ्यता का पता लगता है। इतिहासकारों का कहना है कि यह सभ्यता ईसा से कोई ३००० वर्ष पहले की होगी।

टीले के ऊपर थोड़ी सी खुदाई करने से घरों की दीवालें निकल आईं। ये दीवालें ईंटों की बनी हैं और आज तक उसी हालत में हैं। ऊपर के घरों की दीवालों को खोदने पर दूसरे नीचे के घरों की दीवालें निकल आईं जिससे यह मालूम पड़ता है कि एक शहर पर दूसरा शहर बसा हुआ है। जो मकान निकल आये हैं उनमें से सबसे छोटा दो कमरों का है और सबसे बड़ा एक महल है जिसका सहन ८५ फीट लम्बा है। इस बड़े महल से सटे हुए बहुत से कमरे हैं जिनके फर्श पत्थर के बने हैं। उनके नीचे नालियां हैं जिससे पानी बाहर जा सके। मन्दिरों की ज़मीन कुछ ऊँची रखी गई है और उनकी दीवालें कुछ मोटी हैं लेकिन उनके कमरे मामूली घरों से थोड़े छोटे हैं। इससे यह मालूम होता है कि ये मन्दिर कई मञ्ज़िलों के थे। इनके चारों तरफ खुले सहन हैं और उनके चारों कोने पर चार कमरे पाये जाते हैं, मन्दिरों में कोई मूर्ति नहीं मिली है। केवल एक नीले रंग की मिट्टी की बनी हुई पट्टी मिली है। इस पर एक सिंहासन बना हुआ है और एक बैठे हुए आदमी की तसवीर है, दो आदमी उसके दाहिने बायें हाथ जोड़ कर खड़े हुए हैं। इससे यह अनुमान करना ज़रा कठिन है कि इन मन्दिरों में किस तरह की पूजा होती थी। दो तरह की चीज़ें मन्दिरों में और मिली हैं, एक तो दो छेद वाले पत्थर और दूसरी पत्थर या चिनी मिट्टी की मोहरें। ये छेद वाले पत्थर इतने भारी हैं कि इनको उठाने के लिये चार पांच आदमियों की आवश्यकता है।

मन्दिरों से मिले हुए घर बराबर कतारों में हैं और इनके बीच में गलियां हैं। बहुत से

घरों के कोने वाले कमरों में ईंटों का बना हुआ पक्का कुआं भी मिलता है जिससे यह मालूम पड़ता है कि यह शायद स्नानागार रहा हो। वहां से एक नाली बनी मिलती है जो घर के पानी को ले आकर बाहर मोड़ वाली नाली में गिराती है। मकानों के ऊपर के कमरों को छत से नीचे पानी गिराने के लिये मिट्टी के बड़े बड़े नल लगाये जाते थे और उनके चारों तरफ ईंटें लगती थीं। गोसलखानों में सबसे बड़ा ४० फीट लम्बा और २४ फीट चौड़ा है। इसका फर्श आस पास के कमरों से ८ फीट नीचा है। इसकी दीवालें बहुत मोटी हैं और उनके पीछे डामर लगा हुआ है ताकि उस गोसलखाने की सील्न दूसरे कमरों में न जा सके। इस बड़े नहाने के कमरे के पास एक और छोटा गोसलखाना है जिसकी दिवालें नीची हैं और वहां गर्म पानी का इन्तजाम था। इसका यह गुण था कि नहाने से सब बीमारियां दूर हो जाती थीं।

मन्दिरों, मकानों और गोसलखानों से उस समय के लोगों की रहन सहन और सभ्यता का पता चलता है। वे लोग बड़ी शान से अच्छे घरों में रहते थे। उनके व्यापार और पहनावे का पता वहां खुदाई में मिली चीज़ों से लगता है। उस समय के लोग खेती करते थे। खुदाई में उस वक्त का गेहूं भी मिला है जो आजकल के पंजाबी गेहूं से करीब करीब तिगुना है। सिंध प्रदेश उस समय बहुत उपजाऊ था। सिंधु नदी और एक दूसरी नदी मेहरान से, जो ईसा की करीब पन्द्रहवीं सदी तक रही, सिंध में सिंचाई होती थी। इसके अलावा वहां पर उस समय पानी भी काफी बरसता था। इस कारण वहां की ज़मीन बहुत उपजाऊ थी और अधिकतर लोग खेती करते थे। जिन जानवरों के बदन के ढांचे मिले हैं उनसे मालूम पड़ता है कि उस समय लोग बैल, भैंस, भेड़, हाथी और चिड़ियां इत्यादि पालते थे। मगर और मछलियों की भी तसवीरें मिली हैं। इससे यह मालूम पड़ता है कि खेती के अलावा उस समय के लोग जानवर पालते थे जिनसे दूध मिल सके और मछलियों का शिकार भी करते थे। इसके अतिरिक्त बहुत से लोग कारीगरी का भी काम करते थे। खुदाई में कारीगरी की जो चीज़ें मिली हैं वे बहुत सुन्दर बनी हुई हैं। इनकी सुन्दरता इस बात की साक्षी है कि उस समय के लोग बड़े अच्छे कारीगर थे और सब तरह की चीज़ें बनाते थे। मिट्टी का काम वे बड़ी सुन्दरता से करते थे। मिट्टी की मोहरों के अतिरिक्त बर्तनों में डेढ़ इंच की कुल्हियों से लेकर बड़े बड़े मटके और नांद तक मिले हैं। इनमें से कुछ तो हाथ की बनी हैं और कुछ चाक की। पत्थर की मोहरों पर जानवरों की तसवीर बड़ी बारीकी के साथ बनी हुई है। बहुत से बर्तन रंगे हुए मिले हैं। चीनी मिट्टी के सुन्दर बर्तन और खिलौने भी इस बात के द्योतक हैं कि उस समय के लोग बड़े अच्छे कारीगर थे। नालियों के नल बनाने में भी वे लोग बहुत होशियार थे। एक नल को दूसरे नल में जोड़ने के लिये ३ इंच की चूड़ी रहती थी। पत्थर का वे लोग अच्छा काम करते थे। दो टूटी हुई आदमियों की मूर्त्तियां मिली हैं उनमें से एक तो संगमरमर की है और दूसरी चूने के पत्थर की। इन पर

मसाले का बढ़िया प्लास्टर चढ़ा हुआ है। इनके कपड़े गेरू से रंगे हुए हैं और इनकी आंखों में सीप जड़ा है। इन मूर्त्तियों के चेहरे दढ़ियल, क़द छोटा, नाक बड़ी, ओठ मोटे और आंखें पतली तथा तिरछी हैं। इन मूर्त्तियों से मालूम पड़ता है कि उस समय के लोग चपटे सिर और गोल मुंह वाले होते थे। इन मूर्त्तियों के अलावा भद्दे पत्थर के औज़ार, हाथी दांत की चीज़ें, सोने, चांदी, अकीक या बिल्लौर और खूब पकाई हुई मिट्टी की बहुत सी चीज़ें पाई गई हैं। इनके साथ ही कुछ तांबे और कांसे के टुकड़े भी मिले हैं। एक जगह एक चांदी का चौकोन टुकड़ा मिला है जिस पर पुराने समय के अक्षर लिखे हुए हैं। एक घर के नीचे गड़े हुए कुछ तांबे के बर्तन और औज़ार भी मिले हैं। इनमे से एक मुड़ी हुई आरी भी है। एक बड़े बर्त्तन में सोने चांदी की चूड़ियां, कान के गहने, सोने की बुनने की सूइयां, सोने से मढ़ी हुई मोहरें और लाल रंग के बिल्लोर के लम्बे दानों का हार भी मिला है। इस हार या करधनी के इधर उधर तांबे के छोटे २ दाने भी हैं। एक ५५ दानों का सबसे बड़ा हार मिला है। लाख की बनी चूड़ियां और तांबे की बनी पहुचियां भी मिली हैं। इन सब चीज़ों को देख कर यह पता चलता है कि उस समय के लोग बड़े अच्छे कारीगर थे। वे लोग तरह २ की कारीगरी का काम करते थे।

उन लोगों की चाल-ढाल के अलावा, उनके पहिनावे का पता वहां पर प्राप्त मूर्त्तियों से चलता है। वे चादर ओढ़ते थे। उस समय के आदमी थोड़ी सी दाढ़ी और मूंछ भी रखते थे और सिर के पीछे के बाल बांध दिया करते थे। वे एक छोटी लम्बी सी टोपी पहनते थे। नाचने वाली औरतों की तसवीरों से पता चलता है कि वे गरदन पर घुँघराले बाल रखती थीं। दोनों हाथों में चूड़ियां पहनी रहती थीं और कमर में करधनी पहनती थीं। सूत और ऊन के कपड़े वे लोग पहनते थे क्योंकि खुदाई में सूत और ऊन मिला है। वे लोग जूते वगैरह नहीं पहनते थे। बूटेदार कपड़े अधिकतर आदमी पहनते थे। एक पत्थर की मूर्त्ति निकली है जिसमें बूटेदार कपड़े दिखाये गये हैं जिससे यह मालूम पड़ता है कि उस समय के लोग भड़कदार चीज़ों का बहुत प्रयोग किया करते थे।

उन लोगों के धर्म के विषय में इतना कह देना काफ़ी होगा कि वे लोग शक्ति, शिवलिंग, पेड़, जानवर और पत्थर की पूजा करते थे। इससे यह मालूम होता है कि वे लोग अनार्य थे और आर्य्यों के भारत में आने के पहले सिंध प्रदेश में रहते थे। उनकी सभ्यता बड़ी उच्चकोटि की थी। वे मुर्दों को गाड़ते नहीं थे बल्कि जला दिया करते थे। जली हुई हड्डियों के कुछ टुकड़े और राख एक कुल्हड़ या मिट्टी के बर्त्तन में मिले हैं जिनके अन्दर राख और हड्डियों के टुकड़े पाये गये हैं। तीन आदमियों के बदन के ढांचे या ठठरियां भी खुदाई में मिली हैं। यह मोहनजोदारो के अजायब घर में अब तक उसी तरह रक्खी है। खुदाई के समय यह बहुत नाजुक दशा में थी। इनमें से एक चित पड़ी थी, दूसरी पहली के पैरों के पास और तीसरी करवट लिये पड़ी हुई थी। ये तीनों एक गली में खुदाई करने पर

मिली हैं। इससे यह पता चलता है कि शायद ये तीनों एक ही घर के थे और मकान गिरने के कारण दब कर मर गये थे। इनके अलावा कई और ठठरियां मिली हैं जिनमें से किसी किसी के पैर की उंगलियों और अंगूठों में तांबे के छल्ले पड़े हैं। सम्भव है उस समय कोई भूकम्प आया हो जिसके कारण बहुत से आदमी दब कर मर गये हों।

इन सब बातों को देखते हुए यह मालूम पड़ता है कि ये किसी सभ्य जाति के थे। पंजाब के मोंटगोमरी जिले में हरप्पा नाम की जगह पर भी खुदाई हुई थी जिसमें इसी तरह की चीज़ें मिली हैं। इसलिये या तो एक ही तरह के लोग उन दोनों जगहों में रहते थे या दो भिन्न भिन्न जाति के लोग रहते थे जो आपस में व्यापार के कारण एक दूसरे से बहुत कुछ मिल-जुल गये थे। इनकी सभ्यता का पता सुन्दर महल, मन्दिर स्नानागार और बहुत सी कारीगरी की चीज़ों से लगता है। इनका पहिनावा, चाल-ढाल और रहन-सहन इनकी उच्च सभ्यता के द्योतक हैं। मोहरों पर लिखे अक्षर यह बतलाते हैं कि वे लोग पढ़ लिख भी सकते थे। वे अक्षर अभी तक पढ़े नहीं जा सके हैं। बड़े बड़े विद्वानों का कहना है कि मोहनजोदारो के लोग ईसा से तीन हज़ार वर्ष पहले के होंगे। यदि मोहनजोदारो में और खुदाई की जाय तो शायद ६-७ हज़ार वर्ष पहले के लोगों का भी हाल चाल मिल सकेगा।

बाण का जीवन-वृत्तान्त

श्री सूर्यनारायण चौधरी एम० ए०

वात्स्यायन-वंश भागीरथी के प्रवाह के समान पावन था। उस वंश में असाधारण द्विज हुए थे। वे कवि वक्ता और गृह-मुनी थे। नम्र नैष्ठिक दयालु और क्षमाशील थे। गङ्गा और शोण के सङ्गम से बहुत दक्खिन की ओर तथा शोण से कुछ ही पूरब की ओर प्रीतिकूट नामक स्थान पर वे रहते थे। प्रसवों की परम्परा से उस वंश का अनवरत विकाश हुआ था। छठवीं सदी के अन्त में अथवा सातवीं के आरम्भ में उसी वंश में बाण का जन्म हुआ था। उसका वंश-वृक्ष यों है :—
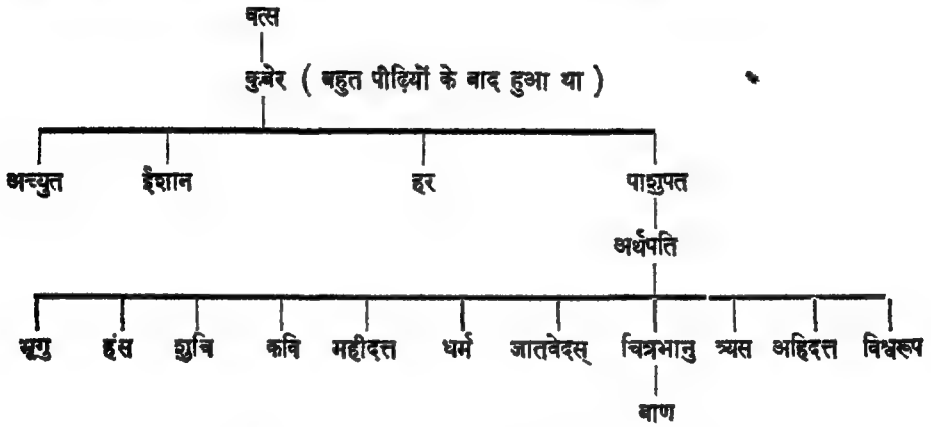
बाण के पिता का नाम चित्रभानु था और माता का राजदेवी। पुत्र के बाल-काल में ही माता का देहान्त हो गया था। पिता को पुत्र से बड़ा स्नेह था और उसी ने माता का काम किया। बाण की उपनयन-आदि क्रियायें की गईं और अल्पायु में ही वह स्नातक हुआ। चौदह वर्ष की आयु से भी कुछ पहले ही उसका पिता भी अकाल ही अस्त हो गया। पिता की मृत्यु पर उसे बड़ा शोक हुआ। दिन-रात जलते हृदय से वह कुछ दिनों तक घर ही में रहा।

धीरे धीरे शोक विरल होने पर वह कुछ कुछ उच्छृंखल हो गया। शिशु-सुलभ चपलताएँ करता हुआ वह भ्रमण-शील हो गया। समान आयु के इसके मित्र और सहायक थे। चन्द्रसेन और मातृषेण नामक दो वर्णशङ्कर भाई, ईशान नामक भाषा-कवि, रुद्र और नारायण नाम के दो प्रणयी, वारबाण और वासबाण नाम के दो विद्वान्, वेणीभारत नामक वर्ण-कवि, वायुविकार नामक प्राकृत-कवि, अनङ्गबाण और सूचीबाण नाम के दो चरण, चक्रवाकिका नाम की काषाय वस्त्र धारण करने वाली बूढ़ी विधवा,

मयूरक नामक विष-वैद्य, चण्डक नामक तमोली, मन्दारक नामक वैद्य-पुत्र, सुदृष्टि नामक पुस्तक-वाचक, चामीकर नामक सुनार, सिन्धुषेण नामक सुनारों का अध्यक्ष, गोविन्दक नामक लेखक, वीरवर्मा नामक चित्रकार, कुमारदत्त नामक लिपिकार, जीमूत नामक मृदङ्ग बजाने वाला, सोमिल और ग्रहादित्य नाम के दो गायक, कुरंगिका नाम की सेविका, मधुकर और पारावत नाम के दो वंशी बजाने वाले, दर्दुरक नाम का संगीत-शास्त्र का उपाध्याय, केरलिका नामक संवाहिका (=पैर आदि मलने वाली), ताण्डविक नामक युवा नर्तक, आखण्डल नामक जुआड़ी, भीमक नामक धूर्त (=जुआड़ी), शिखण्डक नामक युवा अभिनेता, हरिणिका नाम की नर्तकी, सुमति नामक पाराशरी भिक्षु, वीरदेव नामक क्षपणक, जयसेन नामक कथक, वक्रघोण नामक शैव, कराल नामक मन्त्र-साधक, लोहिताक्ष नामक धातुवाद का ज्ञाता, विहङ्गम नामक रासायनिक, दामोदर नामक कुम्हार, चकोराक्ष नामक ऐन्द्रजालिक, ताम्रचूड़ नामक परिव्राजक,—इन तथा अन्य अनुगामियों के साथ, देशान्तर देखने के प्रबल कुतूहल से, पूर्वजों से प्राप्त सम्पत्ति एवं अटूट विद्या-क्रम के रहने पर भी वह घर से चल पड़ा और बड़ों के उपहास का पात्र बना।

उसने उदार व्यवहार से मनोहर राज-कुलों को देखा, विद्या से चमकते गुरु-कुलों का सेवन किया, अमूल्य आलाप करने वाले गुणियों की सभाओं में उपस्थित हुआ, विद्वानों की मण्डलियों में गोते लगाये। फिर बहुत समय के बाद अपनी जन्म-भूमि को लौट गया। चिरकाल के बाद बाण को देख कर उसके बन्धुओं का हृदय स्नेह से भर गया और उन्होने उसका यथोचित आदर किया। बाण को बड़ा आनन्द हुआ।

एक दिन सम्राट् हर्ष के भाई कृष्ण के यहां से मेखलक नामक विश्वस्त दूत पत्र ले कर बाण के घर आया। उस पत्र का सार यह था :—"मेखलक से सदेश जान कर आप-सरीखे बुद्धिमानो को फल के बाधक विलम्ब को पास न फटकने देना चाहिए।" तब परिजनों को हटाकर उसने मेखलक से कृष्ण का संदेश पूछा। सदेश का मुख्य अश यों है :—"जिस तरह चन्द्र दूरस्थ कुमुदालय के प्रति बिना कारण ही स्निग्ध होता है, उसी तरह दूरस्थ आपके प्रति, मानो समीपस्थ बन्धु के प्रति मेरा हृदय स्निग्ध हो रहा है। आप का चित्त शिशु-सुलभ चपलताओं से पराङ्मुख नहीं था, इस लिये किसी असहन शील व्यक्ति ने चक्रवर्ती हर्ष से कुछ अनुचित बात कह दी थी। दुर्जनों ने भांति भांति से इन्हें आपके विरुद्ध किया। किन्तु सत्य को खोजने वाले हम लोगों ने आपको दूरस्थ होने पर भी प्रत्यक्ष की तरह जान लिया और सम्राट् से निवेदन किया :—"प्रायः प्रथम वयस में सभी कोई चपलताएँ करने का अपराधी होता है।" यह बात स्वामी ने मान ली। अतः आप अविलम्ब राज-कुल में आवें। आपको न तो सेवा की विषमता से विषाद ही होना चाहिए और न सम्राट् के समीप आने का भय ही होना चाहिए। ये स्वामी अमृतमय हैं। ये अहङ्कार से सर्वथा रहित हैं। ये साधुओं को रत्न समझते हैं, न कि पत्थर के टुकड़ों को। ये मोती के समान सफेद गुणों को सिंगार समझते हैं, न कि गहनों के बोझों को।

इनकी आत्मा मित्रों के उपकार के लिए है। इनकी प्रभुता भृत्यों की भलाई के लिए है। इनकी विद्वता पण्डितों के उपकार के लिए है। इनकी लक्ष्मी बन्धुओं को भलाई के लिए है। इनका ऐश्वर्य दुःखियों के उपकार के लिए है। इनका सर्वस्व द्विजों की भलाई के लिए है।"

मेखलक के चले जाने पर वह सोचने लगा—"क्या करूं। राजा ने मुझे कुछ और ही समझ लिया है। अकारण बन्धु कृष्ण ने इस तरह का सदेश भेजा है। और, सेवा कष्ट-दायक है। दासत्व विषम है। महान् राज-कुल अति गम्भीर है। वहां पूर्वजों से आई मेरी प्रीति नहीं है और न वंश-परम्परा से आई पहुँच ही है। न ऐसा कोई उपकार है, जिसके स्मरण से अनुग्रह हो सकता है; और न बचपन की सेवा ही है, जिसके कारण स्नेह हो सकता है। न ऐसा ज्ञान है, जिसके आदान-प्रदान का प्रलोभन हो सकता है। न अतिशय विद्या है, जिसके कारण उत्कण्ठा हो सकती है। न सुन्दर आकृति है, जिसके कारण आदर हो सकता है। न तो सेवा के अनुकुल वाणी-कौशल ही है। न तो विद्वानों की सभा के योग्य चतुरता है। किन्तु जाऊंगा अवश्य।" इस तरह सोच कर उसने सम्राट् के समीप जाने का निश्चय किया।

दूसरे दिन उठ, सवेरे ही नहा कर उसने प्रस्थान के उपयुक्त वैदिक सूक्त और मंत्र बार बार पढ़ा। दूध से नहला कर, फूल धूप गंध आदि से उसने देवों के देव शिव की पूजा की। द्विजों को यथाशक्ति धन दिया। उसने एक श्रेष्ठ गाय की प्रदक्षिणा की। उजले लेप, उजली माला तथा उजले वस्त्र से अपने को भूषित किया। उसने गिरिकर्णिका-फूलों से अपने कानों को अलङ्कृत किया। शिखा में सरसों के कुछ दाने रख लिये। माता के सदृश, स्नेह से आर्द्र हृदय वाली, श्वेत-वसना, पिता की छोटी बहन मालती ने यात्रा के समय किये जाने वाले सभी मंगल कार्य किये। गुरुजनों से आशीर्वाद पाकर वह प्रीतिकूट से निकल गया। पहले दिन चण्डिका-कानन पार कर वह मलकूट नामक गांव में गया। वहां जगत्पति नामक भाई और मित्र ने उसका सत्कार किया। दूसरे दिन भागीरथी नदी पार कर, उसने यष्टिग्रहक नामक जंगली गांव में रात बिताई। तीसरे दिन वह शिविर पहुँचा, जो मणितार नगर के निकट अजिरवती नदी के किनारे बनाया गया था। वह राज-भवन से कुछ ही दूर पर ठहर गया।

स्नान भोजन और विश्राम के बाद मेखलक के साथ वह राज-द्वार गया, जो हाथियों से श्यामल हो रहा था, ऊँटों से भूरा हो रहा था, आतपत्रों से श्वेत हो रहा था, तथा चामरों से दोलायमान हो रहा था। वहां पराजित सामन्तगण लाज से मानो अपने अंगों में घुसे जा रहे थे। नाना देशों के भूपाल वहां आये हुए थे, जो सम्राट् के दर्शन के समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। वहां जैन, आर्हत, शैव, पाराशरी भिक्षु और ब्रह्मचारी एकान्त में बैठे हुए थे। वहां सभी देशों के निवासी और म्लेच्छ-जातियों के लोग वर्तमान थे। अन्य सभी देशों से आये हुए राजदूत वहां उपस्थित थे। राज-द्वार

को देखकर वह बड़ा विस्मित हुआ। कुछ देर के बाद अन्दर से आये पारियात्र नामक द्वारपाल के बताये रास्ते से वह कुछ भीतर की ओर गया, जहां उसने वनायु, आरट्ट, कम्बोज, भरद्वाज, सिन्ध और फारस के अश्वों से भूषित एक अश्व-शाला देखी। कुछ और भीतर जा कर उसने सम्राट् के प्रिय हाथी दर्पशात को देखा। तब हजारों भूपालों से भरे तीन आंगन पार कर चौथे में उसने चक्रवर्ती हर्ष को देखा।

निकट आकर उसने स्वस्ति शब्द का उच्चारण किया। राजा ने उसे देख गम्भीर स्वर से पूछा—क्या यही वह बाण है? द्वारपाल ने निवेदन किया—"देव की जैसी आज्ञा हो, यह वही है।" राजा ने समीप बैठे हुए मालव-राज के पुत्र से कहा—"यह महान् भुजङ्ग है।" राजा का वचन नहीं समझ कर वह चुप रहा। और राज-लोक भी मूक रहा। एक क्षण के बाद बाण ने निवेदन किया—"देव, आप क्यों ऐसी आज्ञा दे रहे हैं? जान पड़ता है जैसे आप सत्य को नहीं जानते हैं, मुझ पर विश्वास नहीं कर रहे हैं, पर-वश हैं, लोक-वृत्तान्त से अनभिज्ञ हैं। लोगों का स्वभाव और प्रवाद स्वेच्छाचारी और विचित्र होते हैं; किन्तु बड़ों को तो सत्य को देखना चाहिए। आप मुझे साधारण आदमी की तरह अन्यथा नहीं समझें। मैं ब्राह्मण हूँ और सोम-पान करने वाले वात्स्यायनों के वंश में उत्पन्न हुआ हूँ। मेरे उपनयन-आदि संस्कार उचित समय पर किये गये हैं। मैं ने अङ्गों सहित वेद अच्छी तरह पढ़ा है और यथाशक्ति शास्त्र सुना है। विवाह के समय से मैं गृहस्थ हूँ। मेरी क्या भुजङ्गता है? दोनों लोकों के अविरुद्ध चपलताओं से मेरा शैशव शून्य नहीं था; इतना मैं मानता हूँ। इसके लिये मेरा हृदय पश्चात्ताप सा कर रहा है। किन्तु इस समय सम्राट् के शासन में कौन व्यक्ति अविनय का अभिनय करने की मन से भी कल्पना कर सकता है? मनुष्यों की बात तो दूर रहे। आप के प्रभाव से भौंरे भी मानो भीत हो मधु पीते हैं। चक्रवाक भी प्रियाओं की अतिशय आसक्ति से लज्जित होते हैं। बन्दर भी मानो चकित हो चपलताएँ करते हैं। हिंसक पशु भी मानो सदय हो मांस खाते हैं। समय पाकर स्वामी स्वयं ही मुझे जान जायेंगे।" इतना कह वह चुप हो गया। राजा भी 'हम लोगों ने ऐसा सुना था" कह चुप हो गया। उसने सम्भाषण आसन-दान आदि बाह्य सत्कारों से उसे अनुगृहीत नहीं किया; किन्तु स्नेह-भरे दृष्टिपातों से आन्तरिक प्रीति प्रगट की। अस्ताभिलाषी सूर्य के नीचे उतरने पर राज-लोक को विसर्जित कर उसने भीतर प्रवेश किया। बाण भी निकल कर अपने निवास-स्थान पर चला गया।

उसने मन में सोचा—"देव हर्ष भी अति उदार हैं, जो बाल्यावस्था की मेरी अनेक चपलताओं से कुपित होने पर भी मन ही मन मुझ से स्नेह करते हैं। यदि मैं उनकी आंखों का कांटा होता, तो वह मुझे दर्शन देने की कृपा नहीं करते। वह चाहते हैं कि मैं गुणवान् होऊँ। धिक्कार है मुझे जिसका मन अपने ही दोष से अन्धा हो गया है और जो बाह्य अनादर से दुःखी हो इस प्रकार के गुणवान् राजा के प्रति तरह तरह की चिन्ताएँ कर रहा है। अब सभी प्रकार से वैसा ही करूँगा, जिससे समय पाकर

ये मुझे ठीक ठीक जान लेंगे।" ऐसा निश्चय कर, दूसरे दिन शिविर से निकल कर वह मित्रों और बन्धुओं के घर चला गया। वहां वह तब तक रहा, जब राजा स्वयं ही इसके स्वभाव को जान कर प्रसन्न हुआ। फिर भी उसने राज-भवन में प्रवेश किया। राजा ने उसे सम्मान, प्रेम, विश्वास, धन, परिहास और प्रभाव की पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया।

अनन्तर, शरत्समय के आरम्भ होने पर, जब आकाश धुली तलवार की तरह निर्मल हो जाता है, और इन्द्रधनुष तथा विद्युत्-मालायें नष्ट हो जाती हैं, बाण बन्धुओं को देखने के लिए अपनी जन्म-भूमि को लौट आया। राजा के समीप बेत के आसन पर बैठने वाले बाण को देख उसके बन्धुगण परम प्रसन्न हुए। गणपति, अधिपति, तारापति और श्यामल नाम के चचेरे भाइयों ने बाण से हर्षचरित सुनने की इच्छा प्रगट की। किन्तु सौ पुरुषों की आयु से भी हर्षचरित का अविकल वर्णन सम्भव नहीं देख, वह एक ही अंश का वर्णन करने को प्रस्तुत हुआ। दूसरे दिन प्रातःकाल ही उसने सभी बन्धुओं के सामने हर्षचरित कहना आरम्भ किया और लगभग छः अध्यायों में पूर्वजों सहित हर्ष के कतिपय कार्यों का उसने वर्णन किया।

हर्ष के इन कतिपय कार्यों का वर्णन बाण-कृत हर्षचरित नामक ग्रन्थ में है। इसमें कुल आठ अध्याय हैं। पहले कई अध्यायों में लेखक ने अपनी आत्म-कथा लिखी है। इसी के आधार पर इस निबन्ध का ऊपरी अंश तैयार किया गया है।

कादम्बरी नामक प्रसिद्ध कथा-ग्रन्थ समाप्त करने के पूर्व ही बाण स्वर्गीय हो गया। उसके विद्वान् पुत्र ने उस अधूरी कथा को पूरा किया। कादम्बरी के उत्तर-भाग की भूमिका में उसने कहा है :—

याते दिवं पितरि तद्वचसैव सार्धं
विच्छेदमाप भुवि यस्तु कथा-प्रबन्धः।
दुःखं सतां तदसमाप्तिकृतं विलोक्य
प्रारब्ध एव स मया न कवित्व-दर्पात्॥

(पिता के स्वर्गीय होने पर उनकी वाणी के साथ ही पृथ्वी पर कथा का जो क्रम टूट गया, उसकी असमाप्ति से होने वाले सज्जनों के दुःख को ही देख मैंने इसे आरम्भ किया है, न कि कवित्व के गर्व से।) दिवंगत पिता को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए पुत्र ने कहा है :—

आर्यं यमर्चति गृहे गृह एव लोकः
पुण्यैः कृतश्च यत एव ममात्मलाभः।

सृष्टैव येन च कथेयमनन्यशक्या
वागीश्वरं पितरमेव तमानतोऽस्मि ॥

(जिन आर्य की लोग घर घर पूजा करते हैं, पुण्यों के ही कारण जिनका मैं पुत्र हुआ हूँ, और जिन्हो ने इस अनन्यशक्या अर्थात् दूसरों से न हो सकने योग्य कथा की सृष्टि की है, उन वागीश्वर पिता को मैं प्रणाम करता हूँ ।) बाण की मृत्यु के बाद ही उसकी जो कीर्ति-चन्द्रिका घर घर फैल गई, वह क्षण-भगुर नहीं थी। वह दिन दिन बढ़ती ही गई और आज तो वह पृथ्वी के एक बड़े भाग में व्याप्त है।

अश्विन और महादेवी

डा० ए० बरडेल कीथ

एशिया के प्राचीन धर्म और प्रो० ज़िलस्की[1] (Prof. Przyluski) के सिद्धान्त की सहायता से वैदिक धर्म पर हम प्रकाश डालने की चेष्टा कर सकते हैं। अवेस्ता की अनाहित देवी हाथ में कुछ छोटे छोटे डंडों की बोझ से अंकित की गई हैं। प्रो० ज़िलस्की ने अदिति में भी महादेवी का आदर्श पाया है। रोम और यूनान (ग्रीस) में महादेवी का डंडे से मारना या बेत से पीटना भी शास्त्रानुयायी समझा जाता था। अथर्ववेद में अदिति को 'मधुकशा' कहा गया है—अर्थात् वह देवी जिनका कोड़ा शहद है। वास्तव में डंडे मारकर[2] या दो चार हाथ कोड़े से बरसाने पर जानवरों में फिर से काम करने की शक्ति पैदा हो जाती है। अड़ियल घोड़े को दो चार चाबुक पड़ते ही वह सीधा सरपट लेने लगता है। इसीसे हम समझ सकते हैं कि भारतवर्ष में महादेवी के कर-कमलों में कोड़ा क्यों अंकित रहता है और ईरान, यूनान और इटाली में वे डंडों से सुसज्जित क्यों रहती हैं। यदि अथर्ववेद में महादेवी का कोड़ा शहद कहा गया है या शहद के साथ उस कोड़े की तुलना की गई है तो इसका तात्पर्य यही है कि सब भोजनों का सार (मधु या शहद) ताकत देने वाला होता है। कोड़े और शहद का एक ही कार्य हुआ करता है—ताकत बढ़ाने की और पुनर्जीवन दान करने की क्षमता। इसीलिये उस समय कोड़े और शहद की कल्पना 'मधुकशा' में करना स्वाभाविक ही था।

---

१ हरवर्ड जरनल आफ एशियाटिक स्टडीज़, १ (१९३६), १२९—१५।
२ कीथ—Religion and Philosophy of the veda, ii, 342.

क्या इसका कुछ प्रमाण है कि वैदिक आर्य अदिति को मधुकशा धारण की हुई सोचा करते थे ? अथर्ववेद का 'मधुदेवत्यां आश्विनम्' मंत्र उस कोड़े का महत्व बतलाता है३। अथर्ववेद के मंत्रों के अनुसार वह कोड़ा आदित्यों की माता, वसुओं की कन्या, अमर होने का एक मात्र उपाय, सुनहला और उससे घी टपकता हुआ कहा गया है। यह अदिति को मधुकशा कहने के बिलकुल विपरीत है और अवेस्ता के अनाहित और अदिति में भेद है।

अदिति और मधुकशा में आपस में क्या सम्बन्ध है इसका कोई वैदिक प्रमाण नहीं है और इसलिये प्रो० ज़िलस्की का सिद्धान्त स्वीकार करना हमारे लिये कठिन हो पड़ता है। इसके अलावा वास्तव में 'मधु' क्या है ? अदिति की बात छोड़ दीजिये, अश्विनों का इससे क्या सम्पर्क है ? स्वभावतः इसका अर्थ ओस४ ही होगा जिससे कि इन देवियों का कुछ नाता अवश्य है।

इसके अलावा अदिति और अश्विन एक ही प्रकार की देवियां कही गई हैं। लेकिन वेद के अनुसार इसकी कोई भित्ति नहीं दीख पड़ती। अदिति का अश्विनों के साथ थोड़ा सा ही सम्पर्क है। उनका विशेष गुण५ यह है कि वे आदित्यों की माता हैं और शारीरिक क्लेशों और पापाचारों से हमें मुक्त करती हैं। अन्यान्य देव-देवियों की तरह वे उनकी पूजा करने वालों को, संतानों और जानवरों को आशीर्वाद नहीं देती हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि अश्विनों के चरित्र की यदि हम जांच करें—यह कि उनका अदिति के साथ विशेष सम्बन्ध है—तो यह बिलकुल मिथ्या प्रमाणित होता है।

अदिति और अश्विनों के सम्पर्क पर वेद में कुछ भी नहीं मिलता। हरप्पा में एक मोहर मिली है उसमें एक स्त्री का चित्र खिंचा हुआ है। उसकी बांई ओर दो जानवरों के चित्र मिलते हैं। सर जान मार्शल६ का कहना है कि वह स्त्री-चित्र मैयादेवी की है; खैर ऐसा कहा जा सकता है कि ऋग्वेद-धर्म पर हरप्पा का कुछ प्रभाव पड़ा था७।

फिर क्या अश्विन अश्वदेवियां थीं ? प्रो० ज़िलस्की का कहना है८ कि 'नासत्य' शब्द 'न' और 'सत्य' के योग से बना हुआ है। यहां 'न' प्रत्यय है जैसा कि पत्तन और वहण में है। ये अनार्य शब्द हैं और सत्य का अर्थ घोड़ा है जैसा कि आजकल 'मुंडा' शब्द 'सदम' है। प्रो० साहब की राय अशतः ठीक मालूम पड़ती है क्योंकि अशोक के 'सातियपुत' और 'सतकनि' एक ही हैं, जिनका अर्थ अश्व-पुत्र या घोड़े का लड़का है, याने वह घोड़ा जिसकी आवश्यकता अश्वमेध में हुआ करती है और वह

३ Contrast Przyluski, IHQ, X (1934), 422, 423,

४ Oldenberg, Religion des veda, p. 209.

५ Macdonell, Vedic Mythology p. 122.

६ मोहनजोदारो, १,५१,७०, प्लेट १२, १९

७ Ojha Commemoration Volume—Keith.

८ I HQ ९, ८८-९१

'सत्यंत' से भिन्न हुआ करता है। लेकिन कुछ भी हो ये तर्क बिलकुल कल्पनामूलक और अविश्वास योग्य हैं। इसका कुछ भी प्रमाण नहीं है कि किसी राजकुमार ने अपना जन्म अश्वमेध में समर्पित घोड़े से कहा है। निःसन्तान राजा पुत्र की अवश्य ही कामना किया करते थे और इसलिये उन्हें कई क्रियाएँ करनी पड़ती थीं, लेकिन घोड़े से कभी उनका पुत्र उत्पन्न नहीं होता था।

तिस पर भी यदि हम यह विश्वास करें कि नासत्य (न+सत्य) अश्विन का अनार्य रूपान्तर है तो भी अश्विन घोड़े या जानवरों की श्रेणी में नहीं आ सकते। इसका हमारे पास कोई वैदिक प्रमाण नहीं है कि अश्विन की लोग अश्वाकार में कल्पना किया करते थे या नहीं, यद्यपि ओल्डेनबर्ग[९] (Oldenberg) ने यह कल्पना की थी कि ऐसा एक बार हुआ था। प्रो० ज़िलस्की के 'नासत्य' से भी इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसका अर्थ 'अश्व सहित' हो सकता है और वैदिक साहित्य ने इसका तात्पर्य 'रथ का अश्व' ही बतलाया है याने वे अश्व जिन पर कि अश्विन विचरण किया करती थीं। जब हम भारतीय आर्यों का घोड़ों से क्या सम्बन्ध था इस पर विचार करते हैं तो यह आसानी से समझ में आ जाता है कि अश्विन का अनार्य नाम उस प्राचीन काल में किस तरह पड़ा था। इससे यह भी सिद्ध होता है कि अनार्य नाम का प्रभाव आर्य अश्विन पर इतना गहरा पड़ा था कि वह 'मितन्नी' तक पहुँच चुका था।

इसके अतिरिक्त और एक तुलना पर विचार करना है। ऐसा कहा जाता है कि वैदिक काल में यह प्रथा थी कि देवियों और उनकी सेविकाओं की कल्पना एक पवित्र-वृक्ष से जिस पर कि दो पक्षी रहते थे, की जाती थी। इस विषय में ऋग्वेद, १०,११४,३ देखिये; यह मन्त्र सब देवताओं के लिये लागू हो सकता है। यहाँ चार केश-गुच्छ और दो पक्षियों के सहित एक कुमारी की बात मिलती है जिसमें कि बरगेन[१०] (Bergaigne) ने अश्विन का समावेश पाया है। लेकिन उनकी यह कल्पना भित्तिहीन है क्योंकि पाठ से अग्नि और सोम का अर्थ ही प्रकट होता है, अश्विनों का नहीं। उस कुमारी का तात्पर्य वेदी से हो सकता है। दूसरा श्लोक भी उसी तरह की पहेली सा है। उस श्लोक की संख्या १,१६४,२० है जिसमें यह लिखा हुआ है कि एक वृक्ष पर दो पक्षियां हैं, उनमें से एक मीठे गूलर खा रहा है और दूसरा बैठे हुए सोच रहा है। यहां अश्विनों की कल्पना करना मूर्खता-मात्र है। इस कल्पना की एक और दूसरी कल्पना भी सहायता नहीं करती, वह यह है कि सिंधु तट की एक मोहर में एक पवित्र वृक्ष अंकित किया हुआ है और वह सींग वाले सिरों से युक्त है[११]। वह चाहे ऐसा हो या न हो उसका कुछ भी प्रकाश ऋग्वेद पर नहीं पड़ता।

---

९ Religion des veda, p. 73.

१० Religion Vedique, ii, 489.

११ Marshall, op. Cit. ii, 390 ; iii pl cxii, no, 387.

प्रो० ज़िल्स्की ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि सीरिया की तरह वैदिक धर्म में भी महादेवी की परिकल्पना सूर्य में की गई है अथवा महादेवी का सूर्य में रूपान्तर हुआ है। सीरिया की बात पर टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन जैसा कि ऊपर बतलाया गया है महादेवी और सूर्य का सम्मिश्रण करना व्यर्थ है। वहां तो सूर्य महादेवी से बढ़ जाते हैं जो कि प्रारम्भ में सूर्यमंडल की सहायता करती हैं। वेद में 'सूर्या' और अश्विनों का सम्बन्ध पाया जाता है जो कि प्रारम्भ में उसके पति के रूप में सामने आते हैं और बाद में१२ सोम और 'सूर्या' की शादी की बरात में भाग लेते हैं। वैदिक साहित्य में सूर्य की अश्विन पर कोई प्रधानता नहीं दीख पड़ती वह उनकी सहधर्मिनी है। वह सूर्य की माता नहीं है और न अश्विन उसकी सहायता करते हैं। उसका उनसे यही नाता है कि रोशनी से उनका सम्बन्ध बना हुआ है। उनका रथ हिरण्यत्वच या सूर्यत्वच कहा गया है क्योंकि उस रथ में उसका भी एक स्थान है।

इसलिये ऐसा कहा जा सकता है कि महादेवी और उनकी सेविकाओं में वैदिक अदिति और अश्विनों का आदर्श पाना कठिन है। इन देवियों की उत्पत्ति पर भी कुछ कह बैठना ठीक न होगा। वैदिक साहित्य में भी अश्विनों के लिये 'अश्व' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। यास्क ने भी उनकी उत्पत्ति अश्वाकार१३ में नहीं कहा है और 'निरुक्त-कथा' के बारे में भी ऋग्वेद में कुछ नहीं मिलता।

अदिति और अश्विन दोनों आर्य-नाम हैं। ईरान की महादेवी के कई नाम हैं—अनैतिस, अनाहित या अनाहीद और प्रो० ज़िल्स्की ने उन्हीं नामों के अनुसार अदिति पर भी प्रकाश डाला है। इसी प्रकार पैलेस्टाइन की अनत, सीरिया और एशिया माइनर (Syria and Asia Minor) की ननइ या नना या तनइस देवियों के नामों पर भी उन्होंने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। उनका कहना है कि आस्ट्रो-एशियाटिक-समुदाय (Austro-Asiatic Group) में 'ट' और 'न' के बीच में एक ध्वनि है और उस समुदाय की भाषाओं का आर्यों के पहले की भाषाओं में एक गहरा प्रभाव पड़ा था इसलिये सुमेरियन भाषाओं पर उसका प्रभाव पाया जाना कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। 'तनइ' या 'ननइ' सेमिटिक भाषाओं से ईरान में—और वहां से वैदिक भाषाओं में आने पर क्रमशः अनैतिस और अदिति हो गया होगा, और इन शब्दों में 'ति' स्त्री-लिंग वाचक है। प्रो० साहब का यह भी कहना है कि 'ड' ध्वनि आर्यों के पहले की है और उसके अनुनासिक को हटाकर वह भारतीय-आर्य-भाषाओं में व्यंजन बना लिया गया था और संयुक्तस्वर (Diphthongs) 'इ' में परिणत हो गया था। कुछ भी हो प्रो०

---

१२ ऋग्वेद, १०, ८५।

१३ निरुक्त, १२, १०।

साहब का ऐसा कहना बहुत कुछ जिसकी लाठी उसकी भैंस सरीखे मालूम पड़ता है—क्योंकि यह ज़बरदस्ती से कहा हुआ है जब कि 'अदिति' शब्द को समझाने के लिये और दूसरा कोई चारा न रह गया था। प्रो० जिमरुकी ने यह बतलाया है कि अदिति का दूसरे देवताओं से यह पार्थक्य है कि उनकी (अदिति) क्षमता अद्वितीय है और वे उन सबों से महान् हैं जहां कि देवताओं की क्षमता सीमित है और वे केवल अन्यान्य देवियों से क्षमताशाली हैं। लेकिन जैसा कि प्रो० मैकडोनेल (Prof. Macdonell) ने कहा है कि उपर्युक्त कथन वेद-संगत नहीं है। उनका कहना है कि अदितेः पुत्राः से सम्भवतः अदिति की उत्पत्ति हुई है जैसा कि इन्द्र की माता 'शवसी' कही जाती हैं क्योंकि वे शवसः के पुत्र हैं और उनकी स्त्री सची हैं क्योंकि वे शचीपतिः कहे जाते हैं। यदि इसे हम विश्वास न करें तो ऋग्वेद (१,८९,१०) में वर्णित श्लोक को हमें अवश्य ही स्वीकार करना चाहिये जिसमें लिखा है कि अदिति स्वर्ग हैं, वायु मंडल हैं; यही नहीं वे माता, पिता और पुत्र भी हैं; अदिति में ही सब देवताओं और पांच जातियों का समावेश है, आज तक इस निखिल भू-लोक में जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है या भविष्य में जिसकी उत्पत्ति होगी उन सबका समावेश अदिति में हो है।

अनुवादक—
प्रफुल्ल कुमार मुकर्जी।

माधुकरी

भिक्षु श्रीमत्स्वामी श्री शंकर तीर्थ जी महाराज

(गत अङ्क के बाद)

ॐकार का एक पाद जान लेना चाहिये। पाद ही मात्राएं हैं इसमें सन्देह नहीं। ॐकार का एक एक पाद जान कर किसी बात की चिन्ता न करनी चाहिये। प्रणव में चित्त लगाना चाहिये। प्रणव निर्भय ब्रह्म है। जो मनुष्य प्रणव के ध्यान में नित्य लगा रहता है उसको कभी भय नहीं होता। प्रणव ही सब का आदि, मध्य तथा अन्त है। इस प्रणव को जानने से आनन्द प्राप्त होता है। प्रणव को सब के हृदय में स्थित ईश्वर जानना चाहिये। प्रणव सर्वव्यापी है ऐसा जानकर पण्डित को सोचना नहीं पड़ता है। अमात्र, अनन्तमात्र, अद्वैत तथा परमानन्दरूप प्रणव को जो जान लेता है वह साक्षात मुनि है, साधारण मनुष्य नहीं।

१५। ओमिति परब्रह्मणः सर्वोत्तम नामास्ति। अस्यैव प्रणव इति च संज्ञा विद्यते। प्रकर्षेण स्तूयते परमात्मानेनेति प्रणवः। यस्मादोंकारादेव सर्व अजायन्त ॐकार एवान्ते लीयन्ते अतो मंत्राणामादावन्ते चोंकारो नियुज्यते। अस्य जपश्चैकाग्रतया शुद्धावस्थायां सद्भिः कार्यः। अनेनैकाक्षरेणै-वस्तुतः परमात्मा बहुभिर्नामभिः स्तूयते। अकारोकारमकारैश्चोंकारो भवति। [पंचमहायज्ञविधिः]

ॐ यह परमात्मा का सर्वोत्तम नाम है। इसी को प्रणव भी कहते हैं। जिससे परमात्मा की स्तुति होती है उसे प्रणव कहते हैं। क्योंकि ॐकार ही से सब उत्पन्न होते हैं तथा अन्त में ॐकार ही में सब लीन हो जाते है। इसलिये मंत्रों के आदि तथा अन्त में ॐकार लगाया जाता है। सज्जनों को इसका जप एकाग्र चित्त होकर शुद्ध अवस्था में करना चाहिये। इसी एक अक्षर से परमात्मा की स्तुति करने से कई नामों से स्तुति हो जाती है। अ-उ-म् इन तीन अक्षरों से मिल कर ॐकार बनता है।

१६। सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तत्ते पद संग्रहेण ब्रवीमि ओमित्येतत्। [कठवल्लीश्रुतिः]

कर्म, उपासना तथा ज्ञानकाण्डमय ऋगादि सब वेद जिस पद को मानते हैं वह पद तुमसे संक्षेप में कहता हूँ, वह "ॐ" है।

२—गायत्री।

१। गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि नहि पद्यसे। नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसेऽसावदो मा प्रापत्। [बृहदा० उ० अ० ५ ब्रा० १४ कं० ७]

अहो गायत्री ! पृथ्वी, आकाश तथा स्वर्ग ये तीन लोक रूप एक चरण से तू एकपदी है (भूमिः, अन्तरिक्षं, द्यौः ये आठ अक्षर हैं। गायत्री का पहला पद आठ अक्षरों का है।) ऋक् यजुः साम तीन वेदरूप चरण से तू द्विपदी है (ऋचः, यजूंषि, सामानि ये आठ अक्षर हैं। गायत्री दूसरा पद इन आठ अक्षरों का स्वरूप है)। प्राण, अपान, व्यान रूप तृतीय चरण से तू त्रिपदी है। सूर्यमण्डल के मध्य में पुरुष रूप चतुर्थ चरण से तू चतुष्पदी है। क्योंकि पूर्वोक्त चार उपासक पदों से ही तू मिल सकती है अन्यथा नहीं, इस कारण तू पदरहित है। तेरे दर्शन के योग्य रज से परे वर्त्तमान अर्थात् शुद्ध सत्त्वस्वरूप तथा ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव से भिन्न अर्थात् परब्रह्मस्वरूप चतुर्थ पद के निमित्त अथवा कारण रूप तीन उपाधि रहित ईश पद के निमित्त नमस्कार है। जिस नमस्कार से तुझको प्राप्त करने में विघ्न करने वाला पाप अपने अभिप्राय को (अर्थात् तुझको प्राप्त करने में विघ्न करने को) प्राप्त न हो अर्थात् मैं परब्रह्म रूप तुझे प्राप्त करूँ।

२। इदं समस्त श्रुतिभिर्गायत्री चेत्युदाहृता।
विधिनैवाभ्यसेद्यावत्तुरीय परम पदम्॥
भूरित्यादि त्रिभिर्मन्त्रैर्जप्या गायत्र्यनारतम्।
तस्य प्रथमपादेन भूर्भुवः स्वर्जगत्त्रयम्॥
व्याप्य द्वितीय पादेन वेदानां त्रितय तथा।
तृतीयेन तु पादेन प्राण व्यानमपानकम्॥
व्याप्त चतुर्थपादेन परम रविमण्डलम्।
क्रमेणानेन संक्रान्तं यथा व्याप्तमिद जगत्॥
गायत्री सर्ववेदानां माता साक्षाद् द्विजाश्रया।
तामेव प्रजपेद्भक्त्या ध्यायेत्र सततं द्विजः॥
दुष्प्रतिग्रहदुर्भक्ष्य रूपांहोभ्योऽनिशं द्विजम्।
गायन्तं त्रायते यस्माद् गायत्रीति स्मृता ततः॥
प्राणा गया इति प्रोक्ता त्रायते तानथ पिवा।
गायत्रीति भवेन्नाम केवलं त्रायतीति वा॥
ज्ञात्वा पदानि श्रुत्वाथ तुरीयं पादमव्ययम्।
ब्रह्मणा याति तत्साम्यं पदं ज्ञात्वा तुरीयकम्॥
या गायत्री त्रिचरणा सा त्रिमूर्तिस्वरूपिणी।
उपास्यानन्तरं विप्रैस्त्रिसन्ध्यासु त्रिमूर्त्तिषु॥

तुरीयपादमेतस्या ज्ञात्वा चोपास्तिमाचरेत् ।

सरत्नपूर्णां पृथिवीं गृह्णन्नो दोषभाग् भवेत् ॥ [भरद्वाजस्मृतिः]

सारे संसार में ईश्वर को श्रुतियों ने गायत्री नाम से पुकारा है। ब्राह्मणों को यह उचित है कि तुरीय पद प्राप्त होने तक विधि के साथ ही इसका अभ्यास किया करें। भूः आदि तीन मन्त्रों के सहित गायत्री का नित्य जप करना उचित है। उस गायत्री के प्रथम पाद से भूः भुवः स्वः ये तीन लोक व्याप्त हैं। द्वितीय पाद से ऋक् यजुः साम ये तीनों वेद व्याप्त हैं। तृतीय पाद से प्राण, व्यान तथा अपान व्याप्त हैं। चतुर्थ पाद से सर्वोत्तम सूर्यमण्डल व्याप्त है। इस क्रम से यह गायत्री सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करके स्थित है। सब वेदों की माता गायत्री द्विजों को आश्रय देती है। द्विज को उचित है कि उसी का नित्य भलीभांति जप तथा ध्यान करे। क्योंकि वह गायत्री अपने भक्तों को शूद्र आदि के प्रतिग्रह तथा अभोज्य भोजन रूप पापों से बचाती है इसलिये उसका नाम "गायत्री" है, अथवा गय प्राणों को कहते हैं, उनको जो बचाती है, उसका नाम "गायत्री" है। अथवा रक्षा करती है केवल इसी अर्थ से "गायत्री" नाम है। गायत्री के तीन पदों को जान कर तथा नाशरहित चतुर्थ पद को सुन कर ब्रह्म की प्राप्ति होती है। जिस गायत्री के तीन चरण हैं उसकी तीन मूर्तियां हैं। ब्राह्मणों को उचित है कि तीनों सन्ध्याओं में तीन मूर्तियों से उसकी उपासना करें। जो मनुष्य इस गायत्री के तुरीय पद को जान कर उपासना करता है, वह यद्यपि रत्नों से भरी हुई सारी पृथ्वी का भी प्रतिग्रह करे, तथापि दोष का भागी नहीं होता है।

३। प्रतिग्रहान्नदोषाच्च पातकादुपपातकात् ।

गायत्री प्रोच्यते तस्माद् गायन्तं त्रायते यतः ॥ [व्यासः]

प्रतिग्रह तथा अभक्ष्य भक्षण के दोष से, पातक तथा उपपातक से स्तुति करने वाले को वह बचाती है, इसी कारण उसको "गायत्री" कहते हैं।

४। सर्वेषां जपसूक्तानामृचां च यजुषान्तथा ।

साम्नांचैकाक्षरादीनां गायत्री परमो जपः ॥

तस्याश्चैव तु ॐकारो ब्रह्मणाय उपासितः ।

आभ्यान्तु परमं जप्यं त्रैलोक्येऽपि न विद्यते ॥ [बृहत्पाराशर संहिता]

ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा एकाक्षर आदि सामवेद के सब जप सूक्तों में से गायत्री का जप सबसे उत्तम है। उसमें भी ॐकार, जिसकी उपासना ब्रह्मा ने की है वह श्रेष्ठ है। तीनों लोकों में इन दोनों से और कोई उत्तम मन्त्र जपने के योग्य नहीं है।

५। एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम् ।

सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥ [मनुः]

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य वहिरेतत् त्रिकं द्विजः ।

महतोऽप्येनसो मासात् त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥ [मनुः]

जो मनुष्य ॐकार का तथा व्याहृति सहित गायत्री का जप करता है उसको वेद पाठ का फल मिलता है ।

नगर अथवा गांव के बाहर एकान्त तथा पवित्र स्थान में जाकर इन तीनों को अर्थात् प्रणव, व्याहृति तथा गायत्री को माह भर जपने से ब्राह्मण महान् पातक से भी ऐसा मुक्त हो जाता है जैसा कि सर्प अपनी कंचुली से ।

नाशयेज्जन्मजनितं पाप दशजपान्मनोः ।

पुराकृत शतजपाद् गायत्र्यास्तु द्विजन्मनः ॥

कृत युगेऽपि चैकस्मिन् सहस्रेण जपेन तु ।

सद्भक्त्या जपतस्तस्माद् गायत्रीं सर्वदा जपेत् ॥ [भरद्वाजः]

भक्ति सहित गायत्री मन्त्र के दस बार जप करने से इस जन्म का किया हुआ पाप नष्ट हो जाता है । सौ बार जप करने से पूर्व जन्म का किया हुआ पाप नष्ट हो जाता है । एक सहस्र जप करने से एक युग का पाप नष्ट हो जाता है । इस कारण गायत्री का सर्वदा जप करना चाहिये ।

दशसाहस्रमभ्यस्ता गायत्री शोधनी परा ॥ [लघु अत्रिसंहिता]

दस सहस्र गायत्री का जप परम शोधन करने वाला होता है ।

सर्वेषां चैव पापानां सङ्करे समुपस्थिते ।

दश माहस्रिकाभ्यासो गायत्र्याः शोधनं परम् ॥ [याज्ञवल्क्यः गायत्री व्याख्या]

जब बहुत से पाप आकर एकत्र हो जावें तो दस सहस्र गायत्री का जप सबसे अधिक शोधन करने वाला होता है ।

६ । ब्रह्मणः प्रणवं कुर्या दादावन्ते च सर्वदा ।

स्रवत्यनोङ्कृत कर्म परस्ताच विशीर्यति ॥ [मनुः]

वेद के आदि तथा अन्त में सदा प्रणव लगाना चाहिये अन्यथा कर्म नष्ट हो जाता है ।

तदाद्यं च तदन्तं च कुर्यात्प्रणवसंपुटम् ।

आद्यन्तरक्षित कुर्यादिति पाराशरोऽब्रवीत् ॥ [बृहत्पाराशरसंहिताम्]

गायत्री को आदि अन्त में प्रणव से संपुट करना चाहिये । पारासर कहते हैं कि आदि तथा अन्त में गायत्री को प्रणव से रक्षित करना चाहिये ।

ॐकारं पूर्वमुच्चार्य भूर्भुवस्स्वस्तथैव च ।

गायत्री प्रणवश्चान्ते जप एवमुदाहृतः ॥ [आह्निकप्रकाशिका (योगीश्वरः)]

पहले ॐकार का उच्चारण कर तब भूर्भुवः स्वः कह, तब गायत्री पढ़ कर अन्त में प्रणव लगाना चाहिये। इस प्रकार जप किया जाता है।

प्रणवो भूर्भुवस्स्वश्च पुनः प्रणवसंयुतम्।
अन्त्योंकारसमायुक्तं मन्यन्ते कवयोऽपरे॥ [बृहत्पाराशरसंहिता]

किसी किसी आचार्य का यह मत है कि पहले प्रणव करना चाहिये, तब भूर्भुवः स्वः कह, पुनः प्रणव कहे, तब गायत्री पढ़ कर अन्त में प्रणव लगावे।

३—सूर्यार्घ्य।

१। रक्षांसि हवा पुरोनुवाके तपोग्रमनछिन्त। तान् प्रजापतिर्वरेणोपामन्त्रयत। तानि वरमवृणीतादित्योनो योद्धा इति। तान् प्रजापतिरब्रवीद् योधयध्वमिति। तस्मादुत्तिष्ठन्तं हवा तानि रक्षांसि स्यादित्यं योधयन्ति यावदस्तमन्वगात्तानि हवा एतानि रक्षांसि गायत्र्याभिमन्त्रितेनाम्भसा शाम्यन्ति। तदुहवा एते ब्रह्मवादिनः पूर्वाभिमुखाः सन्ध्यायां गायत्र्याभिमन्त्रिता आप ऊर्ध्वं विक्षिपन्ति। ता एता आपो वज्री-भूत्वा तानि रक्षांसि मन्देहारुणे द्वीपे प्रक्षिपन्ति। यत्प्रदक्षिणं प्रक्रमन्ति तेन पाप्मानमवधुन्वन्ति। उद्यन्त-मस्तं यान्तमादित्यमभिध्यायं कुर्वन् ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते। स वादित्यो ब्रह्मेति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति य एवं वेद॥ [तैत्तिरीयारण्यकम् प्रपाठक २ अध्याय २]

सूर्य को अर्घ्य देने की कथा।

पूर्व काल में राक्षसों ने उग्र तप किया था। ब्रह्मा जी ने प्रसन्न होकर उनसे कहा कि तुम वर मांगो। उन्होंने यह वर मांगा कि हम सूर्य के साथ युद्ध करे। ब्रह्मा जी ने उनसे कहा कि युद्ध करो। इस कारण राक्षस सूर्योदय से सूर्यास्त पर्यन्त सूर्य के साथ युद्ध करते रहे। वे राक्षस गायत्री से अभि-मन्त्रण किये हुये जल से शान्त हुए। इस कारण ब्रह्मवादी लोग पूर्वाभिमुख होकर सन्ध्या करने में गायत्री से अभिमन्त्रित जल को ऊपर की ओर फेंकते हैं। वह जल वज्र के समान होकर उन राक्षसों को मन्देहारुण नामक द्वीप में फेंक देता है। ब्रह्मवादी लोग दाहिनी ओर जो परिक्रमा करते हैं उससे उनका पाप नष्ट हो जाता है। विद्वान् ब्राह्मण उदय तथा अस्त होते हुए सूर्य की स्तुति कर सब कल्याणों का भोग करता है। सूर्य ही ब्रह्म है ऐसी भावना करने से ब्राह्मण ब्रह्म को प्राप्त होता है।

२। त्रिंशत्कोट्यस्तु विख्याता मन्देहा नाम राक्षसाः।
उद्यन्तं ते विवस्वन्तं बलादिच्छन्ति खादितुम्॥
दिने दिने सहस्रांशुरलक्ष्यैस्तैरभिद्रुतः।
भानुर्हीनः कृतस्तूर्णं तद्वत्स्यत्वमिहागतः॥

अतस्तस्य च तेषां तु ह्यभूद्युद्धं सुदारुणम् ।
किं भविष्यति युद्धेऽस्मिन्नित्यभूत् सुरविस्मयः ॥
अरुणस्य च ये बाणा यद्वलन्ते विवस्वतः ।
बिलक्ष्यास्ते निवर्तन्ते मन्देहा नाम दर्शनात् ॥
रवेरश्मिंशवोह्यस्यायाता याताह्यशक्तितः ।
अप्राप्तावशरीराणां स्वामिन्येव लयं गताः ॥
हेषाशब्दमकुर्वाणाः शफस्फुटणवर्जिताः ।
स्तब्धांगा निर्जयाञ्जाताः सूर्यस्यन्दनवाजिनः ॥
ततो देवगणाः सर्वे ऋषयश्च तपोधनाः ।
यत्सन्ध्यान्ते उपासीनाः प्रक्षिपन्ति जलं महत् ॥
ओंकारब्रह्मसंयुक्तं गायत्र्या चाभिमन्त्रितम् ।
दग्धे रँस्तेन ते दैत्या वज्रीभूतेन वारिणा ॥ [वृहत्पाराशरसंहितायाम्]

तीस करोड़ मन्देह नामक राक्षस हैं। उदय होते हुए सूर्य को वे सवश खाने की इच्छा करते हैं। वे अलक्ष्य होकर दिन प्रति-दिन सूर्य के पीछे दौड़ते हैं। सूर्य के बलहीन होने के कारण उनके वश में हो गया। तब सूर्य का उन राक्षसों से बड़ा भारी युद्ध हुआ। देवताओं को इस बात की चिन्ता रही कि इस युद्ध का परिणाम क्या होगा। अरुण तथा सूर्य ने जो बाण चलाये वे लौट आते थे क्योंकि मन्देह राक्षस जो उनके लक्ष्य थे दिखलाई नहीं देते थे। सूर्य के किरणों का तेज भी उन राक्षसों को न पाने से पुनः सूर्य ही में लय हो गया; सूर्य के रथ के घोड़े भी पराजय होने के कारण थक गये और उन्होंने हिनहिनाना तथा अपने खुरों को खड़खड़ाना छोड़ दिया। उस समय सब देवता तथा तपस्वी सन्ध्या के अन्त में ओंकारपूर्वक गायत्री से अभिमन्त्रित जल को ऊपर की ओर फेंकते हैं और वह जल वज्ररूप होकर उन दैत्यों को जला देता है।

*

३। गायत्र्यांजलि प्रक्षेप उपस्थानं तथा रवेः ।
सन्ध्यात्रयेऽपि कर्त्तव्यं तिष्ठता सूर्यदिङ्मुखम् ॥ [आह्निकपंचाशिका]

खड़ा होकर, सूर्य की ओर मुख करके तीनों सन्ध्याओं में गायत्री पढ़ कर अञ्जलि दान तथा सूर्य का उपस्थान करना चाहिये।

प्रणवव्याहृति पूर्वया गायत्र्या तिष्ठन् सूर्योन्मुखः जलांजलिं त्रिःक्षिपेत्। कालातिक्रमे प्रायश्चित्तार्थं चतुर्थम् ॥ [धर्म्मसिन्धुसारः]

खड़ा होकर प्रणव तथा व्याहृति सहित गायत्री पढ़ कर सूर्य के सन्मुख जल की तीन अञ्जलियां दे। यदि सन्ध्या काल व्यतीत हो गया हो तो प्रायश्चित्त के निमित्त चौथी अञ्जलि दे।

पुष्पाण्यम्बुमिश्राण्यूर्ध्वं प्रक्षिप्य। [कातीयस्नानसूत्रम् कं० २]

जल सहित पुष्पों को अथवा यदि पुष्प न मिले तो बिल्वपत्र आदि को अञ्जलि में लेकर सूर्याभिमुख खड़ा होकर प्रणव तथा व्याहृति सहित गायत्री को पढ़ कर सूर्य की ओर ऊपर फेंके।

उत्थायार्कं प्रतिप्रोहेत् त्रिकेणांजलिनाम्भसः॥ [कात्यायनस्मृतिः]

खड़ा होकर जल की तीन अञ्जलियां सूर्य को दे।

ॐकारव्याहृतियुतां गायत्रीं वेदमातरम्।
जप्त्वा जलांजलिं दद्याद् भास्कराभिमुखःस्थितः॥ [कौर्मे]

ॐकार तथा व्याहृति सहित वेदमाता गायत्री को पढ़ कर सूर्याभिमुख खड़ा होकर जल की अञ्जलि दे।

४—प्राणायामः।

निरोधाज्जायते वायुर्वायोरग्निर्हि जायते।
तापेनापो हि जायन्ते ततोऽन्तः शुद्ध्यते त्रिभिः॥ [लध्वत्रिसंहिता]

श्वास निरोध से वायु उत्पन्न होता है, वायु से अग्नि उत्पन्न होती है, और अग्नि से जल उत्पन्न होता है, इन तीनों से अन्तःकरण शुद्ध होता है। जैसे पर्वत से निकले हुए धातुओं के दोषों को अग्नि जला देती है ऐसे ही अन्तर्गत पापों को प्राणायाम जला देता है।

यथा पर्वतधातूनां दोषान् दहति पावकः।
एवमन्तर्गतं पापं प्राणायामेन दह्यते॥ [महानिर्वाणतन्त्रम्]

प्राणायामाधिकारिणः—द्विजवत् त्रितयस्योक्तः प्राणायामो महामुने।
विशुद्धानां प्रबुद्धानां वैश्यानां च तथैव च॥
शूद्राणाणां च तथा स्त्रीणां प्राणसंयमने मुने।
नमोऽन्तं शिवमन्त्रं वा वैष्णवं वा न चान्यथा॥
नित्यमेवन्तु कुर्वीत प्राणायामास्तु षोडश॥ [कात्यायनः]

ब्राह्मण के समान तीनों वर्णों को प्राणायाम का अधिकार है। परन्तु अन्य वर्णों को प्राणायाम करने में शिव मन्त्र अथवा वैष्णव मन्त्र के अन्त में नमः लगाकर पढ़ना चाहिये अन्यथा नहीं, स्त्री और शूद्र के लिये भी यह नियम है; इस प्रकार नित्य सोलह प्राणायाम करना चाहिये।

प्राणायामशब्दार्थः—गायत्रीं शिरसा सार्द्धं जपेद्व्याहृतिपूर्विकाम् ।
त्रिर्जपेत् सदशोंकारीं प्राणायामोऽयमुच्यते ॥ [कात्यायनस्मृतौ]

दस प्रणवों से युक्त, व्याहृतिपूर्वक गायत्री की शिर सहित तीन बार जप करने का नाम प्राणायाम है ।

सव्याहृतीकां सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते ॥ [लघुअत्रिसंहितायाम्]

व्याहृति, प्रणव तथा शिर सहित गायत्री को श्वास रोक कर तीन बार पढ़ने को प्राणायाम कहते हैं ।

प्राणानां सन्निरोधस्तु प्राणायाम उदाहृतः ;
आदानं रोधमुत्सर्गं वायोस्त्रिस्त्रिः समभ्यसेत् ॥ [मार्कण्डेयपुराणम्]

प्राणों के रोकने को प्राणायाम कहते हैं । वायु के आदान, रोधन तथा उत्सर्ग को तीन तीन बार अभ्यास करना चाहिये ।

दक्षिणे रेचयेद्वायुं वामेनापूरितोदरम् ।
कुम्भेन धारयेन्नित्यं प्राणायामं विदुर्बुधाः ॥
पीडयेद्दक्षिणां नाड़ीमङ्गुष्ठेन तथोत्तराम् ।
कनिष्ठानामिकाभ्यां च मध्यमां तर्जनीं त्यजेत् ॥ [योगियाज्ञवल्क्यः]

बांए नाक से वायु को भीतर खींच कर दाहिने नाक से बाहर निकाले, कुम्भक से धारण करे, इसको पण्डित लोग प्राणायाम कहते हैं । दक्षिण नाड़ी को अंगुष्ठ से दबावे, उत्तर नाड़ी को कनिष्ठा तथा अनामिका से दबावे, मध्यमा तथा तर्जनी इन दो अंगुलियों को छोड़ दे ।

पूरकः कुम्भको रेच्यः प्राणायामस्त्रिलक्षणः ।
वामेन पूरयेद्वायुं वाद्यं नासा जपन्मनुम् ॥
उभाभ्यां धारणं वायोः कुम्भकं समुदाहृतम् ।
तत्रेचनं दक्षिणेन रेचनं समुदाहृतम् ॥
पर्यावृत्त्या पुनश्चैवं प्राणायामत्रयं क्रमात् ॥ [वृद्धहारीतसंहितायाम्]

पूरक, कुम्भक तथा रेचक इन भेदों से प्राणायाम तीन प्रकार का है । बांए नाक से बाहर के वायु को भीतर भरे और मन्त्र को जपता रहे, इसको पूरक कहते हैं । दोनों नाकों से वायु के धारण करने को कुम्भक कहते हैं । दाहिने नाक से उस वायु के निकालने को रेचक कहते हैं । पुनः इसी प्रकार दूसरी आवृत्ति करे । इसी क्रम से तीनों प्राणायाम करना चाहिये ।

प्राणायामविधिः—"बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम् ।

नासाग्रे दृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत् ॥ [योगचूडामण्युपनिषद्]

योग पद्मासन बांध कर गुरु तथा शिव को नमस्कार करे। नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि लगाकर एकाग्र में प्राणायामों का अभ्यास करे।

"निमीलितदृङ्मौनी प्राणायामान् समभ्यसेत् ।" [बृहस्पतिः]

आंख मींच कर मौनी होकर, प्राणायामों का अभ्यास करना चाहिये।

सर्वांगं निश्चलं धार्यं मापूर्य सर्वनाडिकाः ।
बद्धासनोऽचलाङ्गस्तु कुर्यादसु निरोधनम् ॥
कृत्वा सुसंचयं विद्वान् विधित्सुः समुपस्पृशेत् ।
अन्तरं शुद्धते यस्मात् कुर्यादाचमनं स्मृतम् ॥ [बृहत्पाराशरसंहितायाम्]

सम्पूर्ण अंग को निश्चल बनाकर, सब नाड़ियों को भर कर, आसन बांधकर, निश्चल होकर, प्राणायाम करना चाहिये। प्राणायाम करने के अनन्तर विद्वान् को उचित है कि जल का स्पर्श करे। क्योंकि जल के पीने से अन्तःकरण शुद्ध होता है, इसीलिये इसका नाम आचमन है।

तत्रोपविश्य मेधावी पद्मासनसमन्वितः ।
ऋजुकायः प्रांजलिश्च प्रणमेदिष्टदेवताम् ॥
ततो दक्षिणहस्तस्य अंगुष्ठेनैव पिंगलाम् ।
निरुद्धय पूरयेद्वायु मिडयातु शनैः शनैः ॥
यथाशक्त्यविरोधेन ततः कुर्याच कुम्भकम् ।
पुनस्त्यजेत्पिंगलया शनैरेव न वेगतः ॥
पुनः पिंगलयापूर्य पूरयेदुदरं शनैः ।
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदिडया शनैः ॥
यया त्यजेत्तयापूर्य धारयेदविरोधतः । [महानिर्वाणतन्त्रम्]

बुद्धिमान् पद्मासन बांधकर बैठे। शरीर को सीधा करके हाथ जोड़कर इष्टदेवता को प्रणाम करे। दाहिने हाथ के अंगूठे से पिंगला नाड़ी को बन्द करके इड़ा नाड़ी से शनैः शनैः वायु को भरे। यथाशक्ति कुम्भक प्राणायाम करे। तब पिंगला नाड़ी से शनैः वायु को निकाले, वेग से नहीं। पुनः पिंगला से शनैः उदर को भरे, यथाशक्ति धारण करके इड़ा के द्वारा शनैः निकाल दे जिस नाड़ी से वायु को पहले बाहर निकाले उसीसे पुनः वायु को भरकर यथाशक्ति धारण करे।

न्यूनां स्त्रीन् प्राणायामान् कुर्यात् आभ्यन्तरस्थं वायुं नासिकापुटाभ्यां बलेन बहिनिः सार्य यथा-

शक्ति बहिरेव स्तम्भयेत् पुनः शनैः शनैर्गृहीत्वा किंचित्समवरुध्य पुनस्तथैव बहिर्निःसार्येदवरोधयेच्चैवं त्रिवारं न्यूनातिन्यूनं कुर्यादनेनात्ममनसोः स्थितिं सम्पादयेत्। [पञ्चमहायज्ञविधिः]

कम से कम तीन प्राणायामों को करना चाहिये। भीतर के वायु को नाक से बल सहित बाहर निकाल कर यथाशक्ति बाहर ही रोके। पुनः शनैः खींच कर थोड़ा उसको रोककर उसी प्रकार बाहर निकाले तथा बाहर ही रोके। इस प्रकार कम से कम तीन बार करना चाहिये। इससे आत्मा तथा मन की स्थिति करना चाहिये।

प्राणायाममाहात्म्यम्—प्राणायामैर्विना यत्कृतं कर्म निरर्थकम्।
अतो यत्नेन कर्त्तव्यः प्राणायामः शुभार्थिना॥ [अगस्त्यः]

जो कर्म प्राणायामों के बिना किया जाता है वह निरर्थक है। इसलिये शुभ चाहने वाले मनुष्य को यत्नपूर्वक प्राणायाम करना चाहिये।

त्वक् चर्ममांसरुधिरमेदोमज्जास्थिभिः कृताः।
तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राण निग्रहात्॥ [अत्रिः]

त्वचा, चर्म, मांस, रुधिर, मेद, मज्जा, अस्थि तथा इन्द्रियों में जो दोष उत्पन्न हो जाते हैं, वे सब प्राणायाम करने से भस्म हो जाते हैं।

एकाक्षरं परं ब्रह्म, प्राणायामः परं तपः।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति, मौनात्सत्यं विशिष्यते॥ [मनुः]

प्रणव परब्रह्मरूप है, प्राणायाम सबसे श्रेष्ठ है, गायत्री से श्रेष्ठ और कोई मन्त्र नहीं है, मौन से सत्य विशेष है।

एव श्वसनसंरोधे देवतात्रयचिन्तनात्।
अग्निवाय्वम्बुसंयोगादन्तर शुद्ध्यते त्रिभिः॥ [बृहत्पाराशरसंहितायाम्]

इस प्रकार श्वास रोकने से अर्थात् प्राणायाम करने से, तीन देवताओं का ध्यान करने से, अग्नि वायु तथा जल के संयोग से, अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है।

प्राणायामं महाधर्मं वेदानामप्यगोचरम्।
सर्वपुण्यस्य सारं हि पापराशितुलानलम्॥ [रुद्रयामलतन्त्रम्]

प्राणायाम सबसे बड़ा धर्म है, वेदों का भी अगोचर है, पुण्यों का सार है, पापों के समूह को ऐसा जला देता है जैसा कि अग्नि रुई के ढेर को जला देती है।

मनो जीवात्मनोः शुद्धिः प्राणायामेन जायते।
अन्तर्गतं यन्मलं तस्य शुद्धिः प्रजायते॥ [गन्धर्वतन्त्रम्]

प्राणायाम से मन तथा जीवात्मा की शुद्धि होती है, जो कुछ अन्तर्गत मल हो उसकी भी शुद्धि हो जाती है।

५—ब्राह्मणः।

१। योगस्तपो दमोदानं सत्यं शौचं दया श्रुतम्।
विद्या विज्ञानमास्तिक्य मेतद्ब्राह्मणलक्षणम्॥ [वशिष्ठः]

ब्राह्मण का लक्षण यह है कि उसमें योग, तप, दम (कुत्सित काम से चित्त को रोकना) दान, सत्य, शौच (पवित्रता) दया, श्रुत (वेदपाठ) विद्या, विज्ञान (१४ विद्याओं में प्रवीणता) तथा आस्तिकता—ये बातें हों।

२। शौचाचारस्थितः सम्यग्विघसाशी गुरुप्रियः)
नित्यव्रती सत्यपरः सवै ब्राह्मण उच्यते॥
सत्यं दान यथा द्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा।
तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥
धर्मं च सत्यं च दमस्तपश्च अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया।
यज्ञश्च दानं च धृतिः श्रुतं च व्रतानि वै द्वादश ब्राह्मणस्य॥ [महाभारतम्]

जो शौच तथा आचरण को अच्छे प्रकार से करता हो, यज्ञ के बाद हविष्य का भोजन करता हो, गुरु का प्रिय हो, नित्य व्रत करने वाला हो, सच बोलने में तत्पर हो, वही (गुणगत) ब्राह्मण है।

जिसमें सत्य, दान, अद्रोह, दया, त्रपा (शर्म) घृणा और तपस्या ये लक्षण देखने में आवें, वही (गुणगत) ब्राह्मण है।

(गुणगत) ब्राह्मण के ये बारह नियम हैं—धर्म, सत्य, दम, तप, अद्वेष, लज्जा सहन करने की शक्ति, अद्रोह, यज्ञ, दान, धैर्य तथा वेद पाठ।

३। शान्ताः सन्तः सुशीलाश्च सर्वभूतहितेरताः।
क्रोधं कर्तुं न जानन्ति एतद्ब्राह्मणलक्षणम्॥
सन्ध्योपासनशीलश्च सौम्यचित्तो दृढव्रतः।
समः परेषु च स्वेषु एतद्ब्राह्मणलक्षणम्॥
परान्नं परवित्तं च पथि वा यदि वा गृहे।
अदत्तं नैव गृह्णाति एतद्ब्राह्मणलक्षणम्॥
सत्यं ब्रह्म तपो ब्रह्म ब्रह्म चेन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया ब्रह्म एतद्ब्राह्मणलक्षणम्॥ [आह्निककारिकायाम्]

ब्राह्मणों के लक्षण ये हैं कि वे शान्त चित्त वाले हों, सज्जन हों, अच्छे स्वभाव के हों, सब प्राणियों की भलाई में तत्पर हों, तथा कदापि उनको क्रोध न आवे। वे सन्ध्या की उपासना करने वाले हों, सौम्यचित्त वाले हों, अपने नियम पर स्थिर हों, अपने तथा पराये को समदृष्टि से देखें। वे दूसरे के अन्न अथवा धन को बिना किसी के दिये हुए घर में अथवा घर से बाहर ग्रहण न करें।

ब्राह्मण का लक्षण यह है कि वह सत्य बोलने को, तपस्या करने को, इन्द्रियों को वश में करने को, सब प्राणियों के ऊपर दया करने को ही ब्रह्म समझे। अस्तु—

विप्रो वृक्षो मूलमेतस्य शौचं वेदाः शाखा धर्मकर्माणि पत्रम्।
तस्माच्छौचं यत्नतः पालनीयं छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्॥

उपनिषदों के विषय में शाहज़ादा दारा शिकोह के विचार

पं० अयोध्या प्रसाद, बी० ए०

(पूर्वानुवृत्ति)

शाहज़ादा दारा शिकोह ने आध्यात्मिक ज्ञान का जिज्ञासु बनकर जब तत्कालीन समस्त धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन पक्षपातरहित होकर कर लिया, तो उन्हें किसी से भी शान्ति न प्राप्त हुई। साम्प्रदायिक मुल्ला मौलवियों के विचारों तथा उनके क्रियात्मक जीवन से भी वे तंग आ गये थे। ऐसा ज्ञात होता है कि जब वे काश्मीर में विराजमान थे तब उन्हें एक योग्य मुसल्मान फ़क़ीर के सत्सङ्ग का अवसर प्राप्त हुआ जिनका नाम मुल्ला शाह था। इन मुल्ला शाह की प्रशंसा में शाहज़ादा साहेब ने बहुत ही श्रद्धापूर्ण भाव प्रकट किये हैं जिससे प्रतीत होता है कि वे अपने समय के एक उच्चकोटि के साधु रहे और उनका हृदय साम्प्रदायिक पक्षपात से शून्य था, उन्हीं की प्रेरणा से शाहज़ादा साहेब की दृष्टि हिन्दुओं के धर्मग्रन्थों की ओर पड़ी। मुसल्मान अपने को मोवह्हिद अर्थात् एकेश्वरवादी कहते हैं और उन्हें इस बात का ज़िद है कि इस्लाम धर्म के सिवाय और किसी धर्म में ईश्वर की एकता का उल्लेख भलीभांति नहीं पाया जाता। हिन्दुओं के विषय में तो कहना ही क्या है इनको तो मुसल्मान

साधारणतया बुतपरस्त अर्थात् मूर्त्तिपूजक बतलाते हैं और मूर्त्तिपूजक अनेक देव देवी के उपासक होते हैं, एक ईश्वर की उपासना का उनमें सर्वथा अभाव हो है। ऐसी परिस्थिति में तो हिन्दुओं के धर्मग्रन्थों में ईश्वर की एकता का ज्ञानोल्लेख होना सर्वथा असम्भव ही है परन्तु शाहज़ादा साहेब तत्कालीन साम्प्रदायिक पक्षपातग्रस्त मुल्लाओं के इस विचार से सहमत न हो सके और उनके हृदय में इस बात का दृढ़ निश्चय हो गया कि हिन्दुओं में भी ईश्वर को एकता का ज्ञान पर्य्याप्त परिमाण में विद्यमान है जैसा कि वे स्वयं लिखते हैं :—

درپیے آں شد کہ از چہ جہت در ہندوستان وحدت عیاں گفتگوے توحید بسیار
ست و علماے ظاہری و باطنی طائفہ قدیم ہند را از وحدت انکاری و بر موحدان
گفتاری نیست بلکہ پایہ اعتبار است

अर्थात्—"मैं शाहज़ादा दारा शिकोह इस बात के अनुसन्धान में लग गया कि क्या कारण है कि हिन्दुस्तान में (ईश्वर की) एकता को प्रगट करने वाली एकेश्वरवाद विषयक अनेक वार्त्तायें विद्यमान हैं, और प्राचीन भारत के परोक्ष तथा अपरोक्ष विद्या के ज्ञाताओं ने कभी भी एकेश्वरवाद को अस्वीकार नहीं किया और न तो उन्होंने एकेश्वरवादियों के प्रति कभी किसी प्रकार की शङ्कायें कीं वरन् एकेश्वरवाद के प्रति उनका दृढ़ निश्चय था।

हिन्दुओं के प्रति इस प्रकार की दृढ़ धारणा कर उन्होंने इस विषय में जांच करना आरम्भ किया और वे जिस परिणाम पर पहुंचे उसका उल्लेख उन्होंने इस प्रकार किया है :—

بعد از تحقیق ایں مراتب معلوم شد کہ درمیان ایں قوم قدیم بیش از کتب
سماوی چہار کتب آسمانی کہ رگہ بید و ججر بید و شیام بید و اتھربن بید باشد
بر انبیاے آنوقت کہ بزرگتر آنہا آدم صفی اللہ و علیہ السلام ست بر جمیع احکام
نازل شدہ -

अर्थात्—क्रमशः अनुसन्धान करने के पश्चात् यह ज्ञात हुआ कि इस प्राचीन (हिन्दू) जाति में समस्त ईश्वरीय पुस्तकों (अर्थात् कुरान इञ्जील, तौरेत तथा ज़बूर आदि) के पूर्व चार ईश्वरीय पुस्तकें जिनके नाम (१) ऋघवेद (ऋग्वेद) (२) जजुरवेद (यजुर्वेद) (३) श्यामवेद (सामवेद) तथा अथर्वन वेद (अथर्व वेद) हैं, उस समय के ऋषियों पर जिनमें सबसे बड़े आदम (अर्थात् ब्रह्मा जी) थे समस्त आज्ञाओं के साथ ईश्वर की ओर से प्रकट हुए थे।

शाहज़ादा साहेब को इस बात का निश्चय हो गया था कि प्राचीन काल से हिन्दुओं के चारों वेद विद्यमान थे जिनमें ईश्वर की एकता का पूर्णतया प्रतिपादन किया गया है और वेद ब्रह्मज्ञान के मौलिक श्रोत हैं। उपनिषद् ग्रन्थ इन्हीं वेदों के आधार पर इन्हीं वेदों के वचनों से निष्कासन कर लिखे गये हैं। अतः उपनिषद् वेदों में प्रतिपादित ब्रह्मविद्या विषयक सारभूत ग्रन्थ हैं जैसा कि वे लिखते हैं :—

و خلاصہ ایں چہار کتب را کہ جمع اسرار سلوک و اشغال توحید صرف دران مندرج است و آن را اُپنکھت می نامند و ابنائے آن زمان آن را جدا ساختہ بران تفسیرہا بشرح وبسط تمام نوشتہ اند و ہمیشہ آن را بہترین عبادت دانستہ می خوانند -

अर्थात्—और इन चारों पुस्तकों (अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद) के सार का जिनमें समस्त ब्रह्म प्राप्ति के साधनों के रहस्यों तथा ईश्वर की एकता के साक्षात् करने के अभ्यासों का वर्णन है उपनिखत् (उपनिषद्) नाम है, और उस समय के विद्वानों ने उन्हें (वेदों से) अलग कर उन ग्रन्थों पर विस्तारपूर्वक भाष्य लिखे हैं और उन उपनिषदों का अध्ययन वे एक सर्वोत्तम उपासना समझ कर किया करते हैं।

उपनिषदों के इस महत्व को जानकर शाहज़ादा दारा शिकोह जैसे जिज्ञासु के हृदय में इनके अध्ययन करने की उत्सुकता हुई अतः उन्होंने संस्कृत भाषा का स्वयं अध्ययन किया और संस्कृत भाषा में उन्होंने अपनी योग्यता इतनी कर ली थी कि वे वेदों और उपनिषदों का अध्ययन कर उनके तात्पर्य को भली भांति समझ सकते थे। इन उपनिषद् ग्रन्थों के अध्ययन का प्रभाव उनके हृदय पर इतना अधिक पड़ा कि उन्हें इस बात की आकांक्षा हुई कि वे इन उपनिषदों का तत्कालीन प्रचलित फारसी भाषा में अनुवाद करें, जैसा कि वे लिखते हैं :—

و چون درین ایام بلدۂ بنارس کہ دارالعلم ایں قوم است تعلق بایں حق جوی داشت پنڈتان و سنیاسیان را یعنے کہ سر آمد وقت و بید اُپنکھت دان بودند جمع ساختہ خود ایں خلاصہ توحید را یعنے اُپنکھتہا کہ اسرار پوشیدنی باشد و منتہائے مطالب جمیع اولیائے الہ است در سنہ ہزار و شصت و ہفت ہجری بے غرضانہ ترجمہ نمود -

अर्थात्—और चूंकि इन दिनों वाराणसी नगर जो इस (हिन्दू) जाति की विद्या का केन्द्र है

उसका सम्बन्ध इस सत्य के अनुसन्धान से है (अतः) उन पण्डितों और सन्यासियों को जो उस समय बड़े प्रसिद्ध थे और वेदों और उपनिषदों के ज्ञाता थे एकत्र कर (मैंने) स्वयं इस ब्रह्मविद्या के सारभूत अर्थात् उपनिषदों का जिनमें गुप्त रहस्य भरे हैं और जो समस्त ब्रह्मज्ञानियों के परम ध्येय हैं, उनका एक हज़ार सड़सठ हिज्री में पक्षपात शून्य होकर अनुवाद किया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि शाहजादा साहेब ने इन उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्मविद्या से प्रभावित होकर फारसी भाषा में इनका अनुवाद किया था। अपने अनुवाद के विषय में वे लिखते हैं :—

آن أپکهتها را که گنج توحید بود دانندگان آن در ان قوم هم کمیاب مانده اند خود به زبان فارسي بے کم و زیادہ و بے غرض نفساني و به عبارت راست به راست لفظاً لفظاً ترجمه نموده بفهمید -

अर्थात्—इन उपनिषदों का जो ब्रह्मज्ञान के कोष हैं और उसके जानने वाले भी इस (हिन्दू) जाति में बहुत कम रह गये हैं। मैंने स्वय फारसी भाषा में उनमें बिना किसी प्रकार की घटती-बढ़ती कर और अपना कोई व्यक्तिगत स्वार्थ न रखते हुए सत्य वाक्यों में शब्दशः अनुवाद करके (उनके तात्पर्य को) समझा।

शाहज़ादा साहेब ने अपने किये अनुवाद के विषय में जैसा प्रतिपादित किया है, उनके अनुवाद के पढ़ने से उनकी कथन की सत्यता भलीभांति प्रकट होती है। अपनी ओर से उन्होंने अपने अनुवाद में कोई टीका-टिप्पणी नहीं की है संस्कृत वाक्यों का फारसी भाषा में शब्दशः अनुवाद है। जिन संस्कृत पारिभाषिक शब्दों केसमानार्थक शब्द फारसी में नहीं मिले उन्हें आपने संस्कृत भाषा में वैसा ही रख दिया है और ऐसे पारिभाषिक शब्दों के स्पष्टीकरण के लिये भूमिका में उन्होंने एक संक्षिप्त शब्दकोष भी दे दिया है जिसके सहारे उन संस्कृत पारिभाषिक शब्दों का तात्पर्य फारसी जानने वाले भलीभांति हृदयङ्गम कर सकें। उपनिषदों के तत्वज्ञान के सम्बन्ध में उनका यह एक वाक्य ही पर्य्याप्त है :—

کتاب قدیم که بے شک و شبهه اولین کتاب سماوی و سرچشمهٔ تحقیق و بحر توحید ست -

अर्थात्—यह पुस्तक अनादि है और इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं कि समस्त ईश्वरीय पुस्तकों में यह प्राचीनतम है और परम सत्य का स्रोत तथा ब्रह्मज्ञान का समुद्र है।

एक कट्टर पक्षपाती मुसल्मान तो उपनिषद् वा किसी अन्य धर्मग्रन्थ के विषय में अपना विचार उपर्युक्त शब्दों में कदापि प्रकट नहीं कर सकता। जन्म से मुसल्मान होते हुए भी शाहज़ादा साहेब का कितना उदार विचार था यह तो उनके उपर्युक्त शब्दों ही से प्रकट है। मुसल्मान होने के नाते शाहज़ादा साहेब का विश्वास इस्लामी धर्मपुस्तक कुरान शरीफ़ पर अवश्य था परन्तु उपनिषदों के अध्ययन के पूर्व वे अनेकों स्थलों पर कुरान के वाक्यों का यथार्थ तात्पर्य भी नहीं समझ सकते थे। उपनिषदों के अध्ययन का यह परिणाम हुआ कि वे कुरान के उन रहस्यपूर्ण वाक्यों के तात्पर्य को भी समझने लगे जो पहले उनकी समझ में न आते थे। उपनिषदों के अध्ययन से उन्हो ने अपने उद्देश्य की प्राप्ति कर ली, अपने धर्मपुस्तक कुरान का भी वास्तविक तात्पर्य वे समझने लग गये। अब उपनिषद् वा वेद उन्हें कुरान के विरुद्ध नहीं प्रतीत होते थे वरन् उन्हें स्वयं कुरान की कतिपय पंक्तियों में वेद और उपनिषदों के उल्लेख मिलने लगे। कुरान में ऐसी पंक्तियां हैं जिनके अर्थ करने में मुसल्मान मौल्वी उलझन में पड़ जाते हैं। उसका कारण यही है कि वे मौल्वी पक्षपाती हैं तथा उपनिषदों वा वेदों के न जानने के कारण वे उन पंक्तियों का जिनमें वेदों का उल्लेख है कुछ अर्थ न समझने के कारण मनमाना काल्पनिक अर्थ करने लग जाते हैं। कुरान के एक वाक्य का अर्थ करते हुए शाहज़ादा साहेब ने स्पष्ट कहा है कि उसमें उपनिषद् वा वेद के महत्व का वर्णन है। कुरान का वह वाक्य अरबी भाषा में इस प्रकार है :—

انه قرآن کریم ● فی کتاب مکنون ● لایمسه الا المطهرون ● تنزیل من
رب العالمین ●

इस वाक्य का अनुवाद शाहज़ादा साहेब ने फ़ारसी भाषा में इस प्रकार किया है :—

یعنی قرآن کریم در کتابے است کہ آں کتاب پنہان است او را درک نمیکند
مگر دلے کہ مطہر باشد و نازل شدہ از پروردگار عالمیان -

(क्रमशः)

प्राचीन भारतीय-मुद्रा

श्री युगल किशोर पाल, बी॰ एल॰

जिन जिन देशों के प्राचीन काल का इतिहास लिपिबद्ध है उनके लिये प्राचीन मुद्राओं की जानकारी की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी कि उन देशों के लिये जिनका इतिहास जानने के लिये कथोपकथाएँ या जनप्रवाद पर विश्वास करना पड़ता है। लोगों में प्रचलित कथाओं पर विश्वास कर, या वैदेशिक भ्रमणकारियों का वृत्तान्त पढ़ कर या प्राचीन शिलालेखादि से हम उन देशों का इतिहास कुछ २ जान सकते हैं, लेकिन यदि प्राचीन मुद्राएँ मिल जांय तो इतिहास लिखना या जानना आसान हो जाता है। इसलिये और २ देशों की तरह भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास जानने के लिये यहां की प्राचीन मुद्राएँ विशेष उपयोगी हैं।

मानव समाज के आदि युग में ही विनिमय या बदले की प्रथा चल पड़ी थी। इसी प्रथा के सुभीते के लिये बाद में मुद्राओं का प्रचार हुआ। जब जुलाहे को खान-पान की किसी चीज़ की आवश्यकता न थी तब यदि कोई किसान उसे कपड़े के बदले में धान देना चाहता था तो असुविधाओं का सामना करना पड़ता था। ऐसी असुविधाओं को दूर करने के लिये मानव समाज को एक ऐसी वस्तु की आवश्यकता दीख पड़ी कि जिसके बदले सभी वस्तुएँ ली जा सकती थीं। इसी तरह मुद्राओं का प्रचार हुआ था। अति प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में धातु-निर्मित-मुद्राओं का प्रचार चल पड़ा था। हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्मों के धर्मशास्त्रों में मुद्रा के लिये सोना, चांदी या तांबे का उल्लेख मिलता है। स्वर्ण-मुद्रा का नाम सुवर्ण या निष्क, चांदी की मुद्राओं का नाम पुराण या धरण और तांबे की मुद्राओं का नाम कार्षापण था। अन्यान्य देशों की तरह विनिमय के लिये भारतवर्ष में भी चूर्ण-धातुओं का प्रचार था। इसलिये निष्क, धरण और कर्षापण शब्दों से सोना चांदी और तांबे का एक निर्धारित तौल सिद्ध होता है[1]। बाद में जब निर्धारित तौल के धातु-चूर्ण से मुद्राओं का प्रचार चल पड़ा उस समय पुराण, कार्षापण, सुवर्ण या निष्क से मुद्राओं का बोध होने लगा।

ऋक्-संहिता में निष्क शब्द का उल्लेख है। ऋषि कक्षीवन ने सिंधु नदी तीर के राजा भवयव्य से निष्क लिया था[2]। बौद्ध साहित्य में सोने या चांदी से बने हुए कार्षापण या काहापण का

---

१ सुवर्ण तौल की रीति—१ निष्क या पल = ४ सुवर्ण = ६४ माशा = ३२० रत्ति

चांदी की तौल की रीति—१ धरण या पुराण = ३२ रत्ति

तांबे की तौल की रीति—१ कार्षापण = ८० रत्ति

२ ऋक्-संहिता—१।१२६

उल्लेख है। इससे यह सिद्ध होता है कि भारतवर्ष में भी अति प्राचीन काल में सोने, चांदी या तांबे की मुद्राओं का प्रचार था।

यद्यपि प्राचीन सुवर्ण, निष्क या पल का आविष्कार नहीं हुआ है तिस पर भी भारतवर्ष के कई स्थानों में गोल या चौकोन चांदी की मुद्राएँ मिली हैं। इसी को हम प्राचीन धरण या पुराण कह सकते हैं। इससे यह समझ में आता है कि एक ही समय में चांदी के एक प्लेट को काटकर कई चौकोन मुद्राएँ बना ली गई थीं और बाद में हरएक टुकड़े के कोनों में एक या अधिक अंक-चिन्ह (Punch-mark) बना लिये गये।

भारतवर्ष के सबसे प्राचीन मुद्रा चौकोन थे। सारे भारतवर्ष में अंक-चिन्ह युक्त जो सोने, चांदी या तांबे की मुद्राएँ मिली हैं वे अधिकार चौकोन ही हैं। इसलिये प्राचीन पुराण या धरण और ये अंक-चिन्ह युक्त मुद्राएँ एक ही हैं। उत्तर और दक्षिण भारतवर्ष में ऐसी असंख्य, चांदी और तांबे की मुद्राएँ मिली हैं और मुद्रातत्वविद् इन्हें अंक-चिन्ह-युक्त (punch-marked) मुद्रा कहते हैं।

१९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पाश्चात्य विद्वान् यह समझते थे कि भारतवर्ष में मुद्रा का प्रचार सिकंदर के आक्रमण के साथ ही साथ हुआ था। लेकिन सर अलेक्जेंडर कनिंघम ने उनकी उस भ्रान्त धारणा को दूर किया है। ईसा की चौथी शताब्दी पूर्व लिखित बौद्ध जातकों में भी कार्षापण या काहापन का उल्लेख मिलता है। अध्यापक डेविड (Rhys David) ने On Ancient Weights and Measures नामक लेख में पाली साहित्य में आये हुए मुद्राओं के उल्लेखों को एकत्र किया है। पाणिनि के समय में भी मुद्राओं का प्रचार था, 'सिद्धान्त कौमुदी' में यह साफ़ साफ़ दिया हुआ है।

भारतीय प्रत्नतत्व विभाग द्वारा चिन्ह-युक्त मुद्राओं पर एक पुस्तक छापी गई है। इसमें बिहार के पुरनिया जिला में पतरहा नामक स्थान में जो अंक चिन्ह युक्त मुद्राएँ मिली हैं उन पर आलोचना की गई है। यहां कुल २८१३ मुद्राएँ मिली हैं जिनमें १७०३ मुद्राओं पर आलोचना की गई है। इन मुद्राओं में विभिन्न प्रकार के चिन्ह अंकित हैं और वे भारतीय-मुद्रा-स्वरूप स्वीकार किये गये हैं।

भारतवर्ष की किसी भी भाषा में मुद्रा-तत्व पर ऐसी कोई उल्लेख-योग्य पुस्तक नहीं है—एक है वह भी बंग भाषा में। इस विषय में कुछ प्रामाणिक पुस्तकों की सूची नीचे दी जा रही है :—

Prof E. J. Rapson (१) Indian Coins (२) British Museum Catalogue of Indian Coins, Andhrah, W. Ksatrapas etc.

Dr. Alexander Cunnigham

(१) Coins of Ancient India.

(२) Coins of the Indo-Greek Princes.
(३) Coins of the Sakas. (४) Coins of Mediæval India.

Allan : British Museum Catalogue of Indian Coins, Gupta Dynasties.

Percy Gardner : (१) Parthain Coinage (२) British Museum Catalogue of Indian Coins, Greek & Scythic Kings of Bactria & India.
(३) Gold Coins of Asia before Alexander the Great.

Vincent A. Smith : Catalogue of Coins in the Indian Museum, Vol I

H. Nelson Wright

Catalogue of coins in the Indian Museum Vols. II & III

Shamsuddin Ahmad.

A supplement to the catalogue of coins in the Indian Museum Vol II & III

R. B. Whitehead :

Catalogue of coins in the Punjab Museum, Lahore Vol I.

T. W. Rhys David :

On the Ancient Coins & Measures of Ceylon.

G. F. Hill . Historical Greek Coins.

B. V. Head : Catalogue of Greek Coins in the Br. Museum, Attica.

Elliot South Indian Coins.

C J. Brown : The Coins of India.

Surendra Kishor Chakravarty : A Study of Ancient Indian Numismatics

Rakhaldas Banerjee : Descriptive List of Sculptures & coins in the Museum of Bangiya Sahitya Parishad.

P. N. Bhattacharyya : A hoard of silver punch-marked coins from Purnea.

विविध-विषय

अकबर और शाहजहां की इमारतें

श्री नन्दलाल चटर्जी

मुगल साम्राज्य की इमारतें अकबर के समय से शुरू होती हैं। लेकिन यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अकबर की इमारतों में शेरशाह की इमारतों का कुछ छाप है। वे इमारत हिन्दू ढंग के थे। ऐसा कहा जा सकता है कि शेरशाह ने जहां पर अपना कार्य छोड़ दिया था, वहीं से अकबर का कार्य शुरू होता है—केवल इमारतों के बनवाने में ही नहीं बल्कि राज्यशासन की दृष्टि से भी। पठान बादशाह ने जिस कार्य का आरम्भ किया था उसे मुगल सम्राट अकबर ने पूर्ण किया इसलिये अकबर और शेरशाह की इमारतों में वर्गीय पार्थक्य थोड़ा सा ही है।

ऐसा न सोच बैठना चाहिये कि अकबर बादशाह ने चूना और रेत लेकर करनी चलाना शुरू कर दिया था। बात तो यह है कि उसने विभिन्न इमारतों के बनवाने में बहुत सा पैसा खर्च किया था और उन इमारतों के बनवाने में जो कुछ भी खर्च हुआ था उसके हिसाब की जांच उसने ही की थी। हिन्दुत्व का प्रभाव भी उसकी इमारतों में पड़ा था और यह प्रभाव था केवल उसके हिन्दुओं से खुले-दिल मिलने के कारण। लोगों ने उसे हिन्दुओं का हिन्दू कहा है—सम्भवतः इसीलिये उसकी इमारतें मुगल ढंग की न होकर राजपूत ढंग की हैं।

उसकी इमारतों में मुसलमानी ढंग पर ईरानी प्रभाव नहीं है—फर्श पर ईरानी ढंग छू तक नहीं गया है, इमारतों का ढांचा और ढंग बिलकुल हिन्दू ही है। अकबर के राज्यशासन की उदारता, मिताचार और महानता उसकी इमारतों से सूचित होती है।

अकबर की सबसे अच्छी इमारत सिकरी में है। इसमें पत्थरों की कारीगरी है और वास्तव में उसकी पच्चीकारी सराहनीय है। अकबर की कल्पना और उसका आदर्श सिकरी की उस इमारत से भलीभांति मालूम हो जाता है।

भारतीय कारीगरी शाहजहां के समय में उच्चकोटि पर पहुँच गई थी। अकबर के हिन्दू-मुस्लिम कारीगरी की पहुँच शाहजहां के समय उच्चकोटि पर थी। शाहजहां के बनवाये हुए दिल्ली-आगरा के प्रासाद और मस्जिद और उनमें वह "ताज" उसकी सौन्दर्यशक्ति को पत्थरों में भी प्रकट किया है।

अकबर और शाहजहां की इमारतों में ऐसा पार्थक्य परिलक्षित है कि कोई भी भ्रमणकारी

उससे मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। अकबर की मृत्यु के बाद मुगल इमारतों में एक परिवर्त्तन हुआ। यह जहांगीर के समय थोड़ा अवश्य था लेकिन शाहजहां के समय उसने ऐसा पलटा खाया कि वह उसके बनवाये हुए इमारतों में साफ़ साफ़ दीख पड़ता है। इससे उन दोनों बादशाहों—अकबर और शाहजहां के चरित्र और नीति का पता चलता है। उनकी इमारतों में—जो कि ऐनक सी हैं—उनके हृदय की परछाईं स्पष्टतः है।

अकबर और शाहजहां की इमारतों का आदर्श और उनकी नीति की तुलना इस तरह की जा सकती है :—

अकबर की इमारतें दृढ़, तेजस्वी (Virile) और काल्पनिक हैं—लेकिन शाहजहां के समय की इमारतों में कवि की कल्पना है, उसमें दृढ़ता के बदले बेलबूटों और खुदाई में एक लचक सी दीख पड़ती है—दृढ़ता के बदले उनसे सरलता टपकती है। अकबर के दृढ़ और उन्नत प्रसादों में मुगल-ढंग का महा-काव्य (Epic) है लेकिन शाहजहां की इमारतों में रसप्रधान गीति-काव्य (Lyric) है। शाहजहां की इमारतों से यह मालूम पड़ता है कि वह सौन्दर्य का उपासक और एक सौन्दर्य-प्रिय आसक्त आशिक था।

दूसरी बात यह कि अकबर की इमारतें पुरुषत्व जाहिर करती हैं और उनमें स्त्रैण या भीरुता नहीं है, लेकिन दिल्ली और आगरा में बनी हुई शाहजहां की मनमोहक इमारतों में स्त्रैण और इन्द्रियासक्ति की झलक दीख पड़ती है। शाहजहां अकबर की वीरता के बदले भोगविलासप्रिय था और इसकी झलक उन दोनों की इमारतों में है। अकबर की इमारतें यह सूचित करती हैं कि वह एक वीर योद्धा था लेकिन शाहजहां की इमारतें बतलाती हैं कि वह विषयी, स्त्री-सौन्दर्य-प्रिय और उनकी लचकदार इठलान और चपलताओं को चाहने वाला था।

तीसरी बात यह कि सिकरी के लाल लाल इमारत यह सिद्ध करते हैं कि अकबर का ढंग पवित्र और मितव्ययी था। इससे यह मालूम पड़ता है कि अकबर फाल्तू खर्च नहीं करता था और वह प्रजा से लिये गये कर व्यर्थ नहीं खोता था। लेकिन शाहजहां की इमारतें विलासप्रिय और क़ीमती पत्थरों के बने हैं और उनमें बहुमूल्य पत्थर जड़े हुए हैं और वास्तव में उनकी सुंदरता आंखों को चकाचौंध कर देती हैं। उन इमारतों से शाहजहां के फजूल खर्ची होने की बात सिद्ध होती है—लेकिन किनके पैसे से? गरीब भारतवासियों के पैसे से ही न?

चौथी बात यह है कि अकबर की इमारतों में यह विशेषता है कि वह हिन्दूपन लिये हुए है। इससे अकबर की उदारता झलकती है। लेकिन शाहजहां की इमारतों में ईरानी छाप है। फरगुसन (Fergusson) और बरजेस (Burgess) ने शाहजहां की इमारतों में जरा भी हिन्दूपन नहीं पाया है। शाहजहां की ईरानी छाप अकबर की उदार नीति और उसकी हिन्दू-प्रियता का अन्त सूचित करती है

अकबर और शाहजहां की इमारतों की सजावट भी भिन्न है, उस पर नीचे विचार किया जा रहा है :—

प्रथमतः अकबर की इमारतें लाल पत्थरों की बनी हैं लेकिन शाहजहां की इमारतें कीमती संगमरमर की बनी हुई हैं।

दूसरी अकबर की इमारतें हिन्दू ढंग की हैं लेकिन शाहजहां की इमारतों में ईरानीपन स्पष्टतः दीख पड़ता है।

तीसरी अकबर की इमारतों में जानवरों के चित्र खुदे हुए हैं जैसा कि दूसरे हिन्दू मन्दिरों में हैं, लेकिन मुसल्मानी तौर पर होने के सबब शाहजहां की इमारतों में उनका बहिष्कार किया गया है।

चौथी अकबर की इमारतों में (सिकरी) आदमियों के चित्र खुदे हुए हैं लेकिन शाहजहां की इमारतों के फर्श और भीतरी दिवालों में ईरानी ढंग के अनुसार पच्चीकारी का काम है।

पांचवीं अकबर की इमारतों में खप्पर और प्लास्टर के काम हैं जिसकी जगह शाहजहां की इमारतों में कीमती पत्थर संगमरमर और सगमूसा आदि हैं।

छठवीं अकबर की इमारतों में राजपूत छाप है लेकिन शाहजहां की इमारतों में बंगाल (गौड़) और बीजापुर की छाप है। कार्निस बंगाली तौर पर बने हुए हैं और गुम्बज और मीनार बीजापुरी ढंग के हैं।

सातवीं अकबर के समय बनावट और कारीगरी पर ध्यान दिया गया था लेकिन शाहजहां के समय सजावट और बेलबूटों की ओर ध्यान दिया गया था।

शेष यह कि अकबर की इमारतों में भीतर की ओर बहुत ही कम कारीगरी है और उसके समय की चित्रकारी सगमरमर की है। शाहजहां की इमारतों की भीतरी कारीगरी ईरानी ढग की है।

सिकरी की इमारत से अकबर के हृदय की परीक्षा की जा सकती है और उसी तरह शाहजहां की रुचि का पता आगरा के किले के भीतरी मकानों और दिल्ली की इमारतों से लगता है। अकबर की उदारता, शासन-क्षमता, बड़प्पन, नीति, कला की रुचि आदि का पता, तथा गाम्भीर्य, धर्मनीति और उन्नत आकांक्षा का पता उसकी इमारतों से लगता है, उसी प्रकार शाहजहां का कट्टरपन, फजूल-खर्च, स्त्रैण-रुचि, और ऐन्द्रीय-मनोवृत्ति का पता उसकी आगरा और दिल्ली की इमारतों से चलता है।

अनुवादिका—

'बेला गांगूली'।

प्राचीन तामिल साहित्य में श्रीकृष्ण जी

शंगम काल के प्राचीन तामिल कवि और वैयाकरणों ने अपने समय की प्रथा का वर्णन किया है। इन प्रथाओं को केवल कवि की कल्पना मात्र कहकर अविश्वास नहीं करना चाहिये। तामिल साहित्य की ये कविताएं हमें अति प्राचीन काल की प्रथाओं का दिग्दर्शन कराती हैं। इनमें लोगों की संस्कृति की पांच विभिन्न अवस्थाएं वर्णित हैं। शंगम कवि और तोल्काप्पियनार जैसे वैयाकरण ने सब स्थान या जगह को पांच भागों में विभक्त किया है—मरुभूमि, जंगल, कृषि-भूमि, पहाड़ी और समुद्रतट[१] की भूमि। मानव-तत्व के अनुसार मनुष्य प्रत्येक विभाग में हजारों वर्ष व्यतीत कर उस विभाग के अनुसार अपना जीवन बना लिया करता था, उसी के अनुसार उसकी रहन-सहन और चाल-चलन हुआ करती थी। चरागाहों के लोग जानवर पालते थे और भ्रमणकारी हुआ करते थे। उसी तरह कृषि-प्रधान-भूमि के लोग खेती-बारी किया करते थे और सुख से अपना जीवन व्यतीत करते थे। कई हजार वर्षों के बाद ये विभिन्न प्रकृति के लोग आपस में आ मिलते थे और एक की संस्कृति और सभ्यता का प्रभाव दूसरे पर पड़ता था।

तामिल काव्यों से यह जाना जाता है कि आपस में आ मिलने पर भी ये जातियां अपना २ आदर्श बनाये रखती थीं और वे लोग अपने आदर्श देवताओं की पूजा भी उस स्थान में वर्षों से रहने के कारण किया करते थे। प्रत्येक विभाग की पूजा पृथक् २ प्रणाली की हुआ करती थी। चरागाहों के लोग कृष्णोपासक थे। समुद्र तीर के लोग वरुण की पूजा किया करते थे, पहाड़ी विभागों के लोग मुरुग या सुब्रह्मण्य की पूजा किया करते थे, कृषि-विभाग के लोग इन्द्रोपासक थे और मरुभूमि के लोग दुर्गादेवी की आराधना किया करते थे। हमारा सम्पर्क चरागाहों के देव से है जिसे कि तामिल साहित्य में मुल्लइ कहते हैं।

इन काव्यों में कृष्ण कई स्थानों में मायोन या मायवन कहे गये हैं। इसका अर्थ कालादेव[२] या कृष्णदेव है। वे प्रधान चरवाहे या गो-पालक कहे गये हैं। उन गाथाओं में उन्हें जानवरों का साथी, यहां तक कि ग्वाल और ग्वालिनों का भी साथी दिखलाया गया है। वे गौओं को लेकर जंगल की ओर जाते थे और उन्हें चरते छोड़ आप वंशी (कुलल) बजाया करते थे। जंगलों में बांसों की अधिकता थी और उससे अच्छी वंशी बनती थी। इसलिये चरवाहे बांस की एक नरम पोंगी लेकर उसमें छेद कर

---

१ नरिंगाय और मुक्कोगय देखिये।

२ मुल्लप्पाट्ट देखिये।

अंगलों में तान छेड़ा करते थे। यद्यपि बंसी बजाना सहज न था तिसपर भी कृष्ण (मायोन) अच्छी तरह बंसी बजाते थे और उनकी सुरीली तान से प्राणी क्या अप्राणी भी मोहित हो जाते थे। ग्वालिनों के अतिरिक्त गाय भी उस सुरीली ध्वनि से आनन्द पाते थे३।

उन काव्यों में यह ठीक ही कहा गया है कि चरवाहे-जीवन में प्रेम-रंग में रंगने की कई सुविधाएं होती हैं। इसलिये कृष्ण प्रेम-तरंग में अवगाहन कर सुखमय जीवन व्यतीत करते थे क्योंकि उनका मुख्य काम गाय चराना ही था। बंशी बजाने के अतिरिक्त वे नृत्य भी किया करते थे। उनके एक प्रकार के नृत्य का उल्लेख भी मिलता है जिसे कुरवइकूत्तु कहा गया है४। उसमें कृष्ण अपने भाई बलराम और प्रेयसी नप्पिन्नइ के साथ नृत्य किया करते थे।

इन काव्यों में राधा या रुक्मिणी का नाम नहीं मिलता, कृष्ण की प्रेयसी के रूप में नप्पिन्नइ ही सामने आती हैं। ऐसा हो सकता है कि राधा का तामिल नामकरण नप्पिन्नइ हो गया हो। वहां ग्वालिन यह कहती हैं कि नप्पिन्नइ उन्हीं की जाति की थी और उसके साथ मायवन जिनका कि रंग समुद्र-जल का सा था (अञनवन्नम) कुरवइकूत्तु नृत्य किया करते थे। यह कुरवइकूत्तु नृत्य भागवत५ में वर्णित रासक्रीड़ा हो सकता है। शिलप्पदिकारम के वर्णनानुसार (दूसरी सदी का तामिल काव्य) इसमें सात या नौ ग्वालिन आपस में हाथ पकड़ कर नाचती थीं। ऐसा कहा जाता है कि सबसे पहले कृष्ण ने यशोदा के सामने इस तरह का नृत्य दिखलाया था और बाद में ग्वालों ने वैसा किया। कृष्ण की आराधना एक दूसरे प्रकार के नृत्य से भी की जाती थी, उसका नाम कुदक्कूत्तु है। यह नृत्य भी ग्वालों में प्रचलित था६। शिलप्पदिकारम के अनुसार कृष्ण के ग्यारह प्रकार के नृत्य हैं परन्तु उन सबका वर्णन करना कठिन है। टीकाकारों ने इन नृत्यों को समझाने की चेष्टा की है लेकिन वे कहां तक सफल हुए हैं यह नहीं कहा जा सकता। कुदक्कूत्तु नृत्य में कृष्ण शोनागर या शोनितपुरम में बाणासुर को भगाकर एक गगरा लेकर नृत्य करते हैं। अन्यान्य नृत्य अल्लियवाडल और मल्लाडल हैं। इनके अतिरिक्त एक दूसरा नृत्य पेडु है। इसका वर्णन मणिमेकलइ (एक तामिल काव्य) में दिया हुआ है जहां कि कृष्ण ने पेडी या नपुन्सक बनकर नृत्य दिखलाया था।

शंगम काल और उसके बाद वाले साहित्यों में कृष्ण के बाल-लीला का कुछ वर्णन मिलता है। उसमें गोकुल के सन्निकट उनके कुरुंद वृक्ष काटने का उल्लेख है। यह वर्णन शिलप्पदिकारम और

---

३ विस्तृत विवरण के लिये मयचियर कुरवइ, शिलप्पदिकारम देखिये।

४ Ibid. और मणिमेकलइ १९, ६५-६६,

५ १०, अध्याय ३३।

६ तामिल साहित्य और इतिहास—लेखक।

तिरिक्कुडगम[७] दोनों में मिलता है। शिलप्पदिकारम के टीकाकार ने यह लिखा है कि एक असुर कुरुंड वृक्ष के रूप में कृष्ण पर धावा करने के लिये खड़ा था। कृष्ण उसकी चातुरी को समझ गये और उन्होंने उस वृक्ष के दो टुकड़े कर दिये। लेकिन जीवचिन्तामणि के टीकाकार नच्चिनार किनियर का कहना है कि कृष्ण ने गोपियों से जलक्रीड़ा करते समय उस कुरुंड वृक्ष को उखाड़ दिया था (२८० पद)। यह वर्णन भी भागवत पुराण के वर्णन से भिन्न है।

आधुनिक और मध्यकालीन तामिल साहित्य में और भी रोचक वर्णन मिलता है। बचपन में कृष्ण अपने और पराये घरों से मक्खन चुराकर खाया करते थे। एक बार यशोदा उन्हें मक्खन चुराते देख उस माखन-चोर को पकड़ने के लिये आगे बढ़ीं। चोर तो चालाक था ही—वह नौ-दो ग्यारह हुआ और दधिमांडन नामक एक ग्वाल के यहां जा घुसा। उसने उससे मथनी (तली) की आड़ में छिपा रखने को कहा और यह भी कहा कि यदि यशोदा मैया आवें तो उनसे कह देना कि कृष्ण वहां नहीं है। उसने वैसा ही किया। यशोदा के पूछने पर दधिमांडन ने साफ इन्कार किया कि कृष्ण तो वहां गये ही न थे। यशोदा मैया के लौट आने पर वह ग्वाल जो कि कृष्ण की माया अच्छी तरह से जानता था जाकर उस मथनी पर बैठ गया जिसके नीचे कि कृष्ण छिपे हुए थे। और उसने यह कहा कि जब तक श्रीकृष्ण उस ग्वाल को और उस मथनी को स्वर्ग में स्थान न देंगे वह न उठेगा। कृष्ण ने उन्हें आशीर्वाद दिया और वह उठ खड़ा हुआ[८]।

पेरियाल्वार के तिरुमोली में यह लिखा हुआ है कि सिमालिकन नामक एक ग्वाल ने जो कि कृष्ण का सेवक भी था कृष्ण से कुछ दिनों के लिये उनका चक्र मांगा। कृष्ण उसे चक्र देने के लिये राजी न हुए। लेकिन एक दिन उसने ऐसी मिन्नतें की कि कृष्ण को बाध्य होकर अपना चक्र उसे देना पड़ा। उसके छूते ही उसका सिर धड़ से अलग हो गया और वह ग्वाल स्वर्ग-लोक को सिधारा।

इस तरह हम देखते हैं कि कृष्ण प्राचीन तामिलों के प्रिय-पात्र हैं—प्रिय-पात्र ही क्यों वे उनके एक आदर्श देव भी हैं। शिलप्पदिकारम में उनको पशु-पालक और विशेषतः वृष-पालक कहा है। १७वें अध्याय के प्रारम्भिक चरणों में यह लिखा हुआ है कि सात गोपियां वृष (सांड) पालती थीं और विवाह अवसर पर वे अपने अपने वृषों को छोड़ देती थीं और जो कोई उसको अपने वश में कर लेता था उसीसे उस गोपी की शादी हुआ करती थी। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह प्रथा गोकुल में थी और उसके नायक थे कृष्ण। भागवत पुराण[९] में यह कथा है कि अयोध्या के नग्नजीत राजा की एक लड़की

---

७ संगम काल की अठारह पुस्तकों में से एक छोटी पुस्तक।

८ राघव अय्यंगर कृत वीर तामिल, खंड ८,४ देखिये।

९ १०, अध्याय ५८, ३२ फ०।

थी। उसने यह घोषणा की कि जो कोई उसके ग्वाल कुंभांडन के पास रक्षित सात-वृषों को अपने वश में कर लेगा वह उसीसे अपनी लड़की की शादी करेगा। सब राजाओं ने व्यर्थ चेष्टा की और श्रीकृष्ण ने उन वृषों को अपने कब्जे में कर उसकी लड़की का पाणिग्रहण किया। यह प्रथा आज भी तामिलों में प्रचलित है।

इस प्रकार यह देखा जाता है कि अतिप्राचीन काल से ही तामिलों में कृष्ण की पूजा प्रचलित थी।

—वी० आर० रामचद्र दिक्षितर।

ज़ोरोस्टर—उनका काल और कार्य

ज़ोरोस्टर पर आविष्कार करने का अब कुछ रह न गया। आज तक उन पर जो कुछ खोज की गई है वह सामग्री हमारे सामने है और उन पर प्रकाश डालने के लिये वह पर्याप्त है। डा० मोल्टन (Dr. Moulton) का आरली-ज़ोरोस्ट्रियनिज्म (Early Zoroastrianism) पर व्याख्यान सफल न हो सका क्योंकि उनका मजियन (Magian) सिद्धान्त ठीक न था।

ज़ोरोस्ट्रियन गाथाओं में जो सामाजिक अवस्था दी हुई है वह भूल है क्योंकि वह हजार वर्षों की प्राचीन है—समसामयिक नहीं। हिरोडोटस ने मीडिया के विषय में जो कुछ कहा है यह उससे मिलती जुलती है। वेद के साथ उसका कुछ भी सामजस्य नहीं दीख पड़ता। ज़ोरोस्टर एक मजियन पुरोहित थे और उन पुरोहितों को (खास कर मजियन देश के) पुराने पुर्जों को घर में रखने की आदत बनी थी। इसके अलावा वे प्राचीन या मृत भाषाओं से भी परिचित थे। ज़ोरोस्ट्रियन गाथाएं इस प्राचीन भाषा में लिखी हुई हैं इसलिये उनका (ज़ोरोस्टर) समय ईसा की ७वीं सदी पूर्व का है।

ज़ोरोस्टर के समय मीडिया का समाज दो भागों में विभक्त था—मजियन और मेडिस। मजियन परिश्रमी कृषक थे और मेडिस थे उन पर प्रभुत्व जमाने वाले दांभिक ईरानी। मजियनों पर उनका व्यवहार मध्यकालीन यूरोप के "फिउडल-रईसों" का सा था। मजियन अपने मालिकों की तरह आर्य-भाषा-भाषी थे जो कि उनसे कई शताब्दी पूर्व मीडिया में आ बसे थे। उन पर असीरिया के राजाओं का धार्मिक प्रभाव पड़ा था। लेकिन उस समय भी ईरानियों ने अपना धर्म अलग ही बना

रखा था जो कि कई बातों में वैदिक धर्म से मिलता-जुलता था। ज़ोरोस्टर के समय में मजियन और ईरानी दोनों विभिन्न धर्मावलम्बी थे—उस समय भी मजियनों पर ईरानियों का अत्याचार बना हुआ था।

ज़ोरोस्टर का सुधार मजियनों के धर्म के विरुद्ध न था। वह प्रथमतः ईरानी अत्याचार के विरुद्ध था और दूसरी उन ईरानियों की धार्मिक नीति और "देवों" के विरुद्ध।

ज़ोरोस्टर का धर्म नया न था। वह कुछ हेर-फेर के साथ मजियन धर्म सा ही था। यूरोप के विद्वानों का यह कहना है कि मजियन और ईरानी धर्म में जिस बात की प्रशंसा ज़ोरोस्टर ने न की, यह मान लेना चाहिये कि उनको उससे घृणा थी। उनका यह भी कहना है कि ज़ोरोस्टर के बाद उनकी गद्दी में जो मजियन बैठे उन्होंने ज़ोरोस्टर के सिद्धान्तों और सुधारों के विरुद्ध काम किया। उस धर्म में नये नये सुधार होते गये और ज़ोरोस्टर ने जिन देवों और क्रियापद्धतियों का बहिष्कार किया था वे भी धीरे २ उस धर्म में आते गये। लेकिन यह बात कहां तक ठीक है यह नहीं कहा जा सकता।

ज़ोरोस्टर ने अपने पूर्वजों के मजियन धर्म की नींव के विरुद्ध कई बातें कहीं और उन्होंने अपने धर्म में ईरानी धर्म के कई सिद्धान्तों को ला मिलाया ताकि ईरानी भी उस धर्म को ग्रहण करें। अपने प्रारम्भिक जीवन में उन्होंने कवि, करपन और देवों के विरुद्ध जो कुछ कहा उससे उन्हें सफलता न मिली। ज़ोरोस्टर के बाद एक मजियन पुरोहित जमस्प ने वहां की रानी हुतौस की सहायता से उन्हीं तीन देवताओं को बाद में ज़ोरोस्टर के धर्म में ला मिलाया। इस नये धर्म में मजियन और ईरानी धर्म-सिद्धान्तों का सम्मिश्रण किया गया और वही अकेमेनियन और ससानियन राजाओं के समय ईरान का प्रधान धर्म हुआ।

लेकिन यूरोप के विद्वानों ने ज़ोरोस्टर को इतिहास के एक प्रसिद्ध धर्म का केवल पैगम्बर ही समझ कर उन पर अन्याय किया है। उन्होंने ज़ोरोस्टर की कार्यकारिणी क्षमता को नहीं समझा। मजियन और ईरानी धर्म के सम्मिश्रण से ज़ोरोस्टर ने जो एक नया धर्म चलाया उसे भी वे भलीभांति समझने में असफल हुए। राजा विस्तास और रानी हुतौस ने और बाद में उनके दामाद ने उस धर्म को प्रचार करने के लिये जो कार्य किया था उसकी यूरोप के विद्वान प्रशंसा न कर सके और यह कि इस धर्म की सरलता की परख भी वे न कर सके।

—एन० एन० घोष।

भारतीय विश्वविद्यालय

भारतवर्ष में कलकत्ता विश्वविद्यालय सबसे प्राचीन है। २४ जनवरी सन् १८५७ में इसकी स्थापना हुई थी। उसी वर्ष क्रमशः १८ जुलाई और १५ सितम्बर को बम्बई और मद्रास विश्वविद्यालयों की प्रतिष्ठा हुई थी। पहले कलकत्ता विश्वविद्यालय की सीमा सारे उत्तरी भारतवर्ष में फैली हुई थी लेकिन सन् १८८२ और सन् १८८७ ई० में क्रमशः पंजाब और इलाहाबाद विश्वविद्यालयों की स्थापना होने से उसकी सीमा कुछ सीमित सी हो गई। उसके बाद बिहार और उड़ीसा अलग प्रदेशों में गिने जाने लगे और सन् १९१७ में पटना विश्वविद्यालय की स्थापना होने से कलकत्ता विश्वविद्यालय की सीमा और भी संकुचित हो गई। उपर्युक्त विश्वविद्यालयों की सीमा प्रत्येक प्रदेश में निहित है। केवल हिन्दू-विश्वविद्यालय बनारस (सन् १९१७ में प्रतिष्ठित) और मुस्लिम विश्वविद्यालय अलीगढ़ (सन् १९२० में प्रतिष्ठित) का अधिकार सारे भारतवर्ष में फैला हुआ है।

इनके अतिरिक्त और भी कुछ विश्वविद्यालयों की स्थापना धीरे धीरे होती गई, यथा रंगून विश्वविद्यालय (१९२०), लखनऊ विश्वविद्यालय (१९२०), दिल्ली विश्वविद्यालय (१९२२), नागपुर विश्वविद्यालय (१९२३), आगरा विश्वविद्यालय (१९२७),

मद्रास प्रदेश में और भी दो विश्वविद्यालयों की प्रतिष्ठा हुई—आन्ध्र विश्वविद्यालय (वाल्टेयर में सन् १९२६ में प्रतिष्ठित) और अन्नामलाइ विश्वविद्यालय। राजा सर अन्नामलाइ चेट्टी ने २० लाख रुपया देकर चिदम्बरम में इस विश्वविद्यालय की स्थापना की है।

भारतीय राजाओं ने केवल दो विश्वविद्यालयों की स्थापना की है—मैसूर विश्वविद्यालय और उसमानिया विश्वविद्यालय (१९१८) मैसूर के महाराजा और हैद्राबाद के निज़ाम बहादुर कृत स्थापित और अभी हाल ही में त्रावणकोर के महाराजा ने त्रावणकोर विश्वविद्यालय की स्थापना की है।

—कालिदास मुकरजी।

सम्पादकीय मन्तव्य

प्राचीन भारत के पाठकों और शुभचिन्तकों को हम नववर्ष का अभिवादन सूचित कर रहे हैं। महाकाल के गर्भ में प्राचीन वर्ष का लोप हो गया। नववर्ष के सुप्रभात में देश वासी नये उद्यम और कर्मजीवन में प्रवृत्त हों, द्वेष-हिंसा-जर्जरित देश में शान्ति की धारा प्रवाहित हो, मैत्री की वाणी का प्रचार हो—यही है हमारी परमेश्वर से प्रार्थना। देशवासी वेद की उस पवित्र वाणी—"बुध्येम शरदः शतम्"—सौ वर्ष जीवित रहकर ज्ञानार्जन कर सकूं—का अनुसरण कर जीवन पथ पर अग्रसर हों।

*　　*　　*　　*　　*

प्रत्येक माह के दिनों की संख्याओं को लेकर करीब चार वर्ष से इन्डियन-रिसर्च-इन्स्टिट्यूट में आन्दोलन और प्रचार कार्य हो रहा है। उसी विषय पर आज नववर्ष के प्रारम्भ में सब का ध्यान आकृष्ट किया जा रहा है।

हिन्दी माह के दिनों की सख्या ठीक नहीं है। एक वर्ष किसी माह में ३० दिन हैं तो दूसरे वर्ष उसी माह में ३१ या २९ दिन। इससे कई असुविधाओं का सामना करना पड़ता है। यदि निर्धारित माह में निर्धारित दिनों की संख्या हो तो कार्य-क्षेत्र में कठिनाई न होगी।

कई पण्डितों ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया है। पञ्चाङ्ग बनाने वाले कई पण्डितों की भी यही राय है। अखबारों में भी हिन्दू और मुसलमान दोनों इस विषय में लिखते हुए दीख पड़ते हैं। आशा है विद्वान् पाठक इस ओर ध्यान देंगे और वे अपने कार्य-क्षेत्रों में भी इसका प्रयोग करेंगे।

*　　*　　*　　*　　*

हर्ष है कि बंगाल में प्राचीन गुरुकुल के आदर्शानुयायी जो एक शिक्षाकेन्द्र की कल्पना हुई थी उसकी शीघ्र ही स्थापना होगी। गत बसंत-पञ्चमी के दिन इसकी शुभ सूचना "भारतीय-स्थापत्य विद्यालय" के नाम से हुई है। इसकी स्थापना के लिये उपयुक्त विस्तृत भूखंड की खोज की जा रही है। हमारी यह राय है कि भारतीय स्थापत्य विद्यालय जो कि भविष्य में एक हिन्दू विश्वविद्यालय बनेगा उसकी स्थापना यदि कलकत्ते में गंगा-तीर पर हो तो अच्छा होगा। कर्तृपक्ष का ध्यान हम इस ओर आकृष्ट करते हैं।

पुस्तक-समालोचना

'मन के मोती' और **'नव-निकुंज**—ये पुरोहित श्री प्रताप नारायण जी की समय समय पर लिखी गई फुटकर रचनाओं के संग्रह हैं। आपकी भाषा सरल, प्रवाहमयी और परिमार्जित है। संस्कृत शब्दों की जो भरमार आजकल खड़ी बोली की रचनाओं में पाई जाती है, उस दोष से आपकी भाषा मुक्त है। कल्पना का चमत्कार चारों ओर है, पर वह इतना गूढ़ नहीं कि भाव उसमें खो जायँ। आपकी रचनाओं में भाषा और भाव का अच्छा सामंजस्य है। 'सरस सूक्तियाँ' नामक प्रकरण को छोड़कर भी जगह जगह मनोहारिणी उक्तियाँ भरी पड़ी हैं। कविताओं के विषय तो सामयिक हैं ही, उनके प्रतिपादन का ढंग भी बहुत अनूठा और मौलिक है। छोटी छोटी प्रसिद्ध ऐतिहासिक कहानियों को भी आपने छन्दबद्ध किया है। 'पन्ना सी पन्ना' नामक रचना में मानसिक द्वन्द का अच्छा विश्लेषण है। "शासन-सौन्दर्य" में आपके देशप्रेम और प्रजातन्त्र-शासन-सम्बन्धी विचारों की झलक है। 'विश्ववैचित्र्य' और 'पावन-परिवर्तन' में कवि के दार्शनिक उद्गार हैं। आप का अध्यात्मवाद सांख्य और वेदान्त का अनुसरण कर सृष्टि की गुत्थी को सुलझाने का प्रयत्न करता है। आपका सबसे बड़ा गुण है आपकी आशावादिता। कवि के शब्दों में 'भव्य-भगिनी है साफल्य की'। यदि सफलता की अभिलाषा है तो उसकी भगिनी आशा की आराधना पहले करनी होगी।

'नव-निकुंज' में 'कैलाश-कीर्ति' 'रम्य रहस्य' 'जोबनजोड़ा' और 'आया न आया' शीर्षक कवितायें विशेष उल्लेख योग्य हैं। 'किसान-क्रन्दन' और 'मज़दूर-महत्व' में देश की आधुनिक अशान्ति और किसान और मज़दूरों की दयनीय दशा का मार्मिक वर्णन है। 'अपने अनुभव' शीर्षक मुक्तक छन्दों में अनेक शिक्षाप्रद अन्योक्तियां हैं। उसमें 'उन्हें हँसकर ही खो दो जो चार दिन जीने के होते' यह अमूल्य उपदेश तो सबको कण्ठस्थ कर लेना चाहिये। कवि का उद्देश्य आपकी सम्मति में होना चाहिये 'हृदय की भाषा को लिखना सत्यता और सरलता से'। इसमें आप पूर्णरूप से सफल हुए हैं। पर इनमें कुछ दोष ऐसे आ गये हैं जो रचनाओं के माधुर्य्य को थोड़ा कम कर देते हैं।

—कुमारी पद्मा मिश्रा।

द्वैताद्वैत सिद्धान्त—महन्त महाराज श्री १०८ स्वामी सन्तदास बाबाजी ब्रजविदेही, शिवपुर में श्री श्री निम्बार्क आश्रम की स्थापना के उपलक्ष में लिखित प्रबन्ध, मूल्य ॥)

आलोच्य पुस्तक में सन्तदास बाबाजी ने द्वैताद्वैत सिद्धान्त समझाने की चेष्टा की है। आपने विविध पुराणादि से श्लोक उद्धृत कर उन्हें समझाया है और द्वैताद्वैत सिद्धान्त सिद्ध करने के लिये आपने कई उदाहरण भी दिये हैं। एक जगह आप लिखते हैं :—

"परन्तु द्वैताद्वैत सिद्धान्त ब्रह्म के श्रुत्युक्त पूर्ण चतुष्पादत्व के ऊपर स्थापित है। एकान्ताद्वैत सिद्धान्त की भांति इसमें जगत् और जीव को अविद्या-कल्पित मिथ्या कह कर त्याग नहीं किया जाता, तथापि ब्रह्म से स्वतन्त्र रूप में इनके अस्तित्व का परिहार किया जाता है। अतः कार्यतः विरोध अति अल्प ही है............"।

इस पुस्तक में आपने द्वैताद्वैत सिद्धान्त अच्छी तरह से समझाया है। हम पाठकों को इसके पढ़ने का अनुरोध करते हैं।

—प्रभाश चंद्र।

श्री स्वामी रामदास काठिया बाबाजी का जीवन चरित्र—

तदीय शिष्य स्वामी श्री सन्तदास बाबाजी ब्रजविदेही महन्त प्रणीत, प्रकाशक बनवारी लाल भटनागर, शीतलाघाटी, मथुरा, मूल्य, १।)

आलोच्य पुस्तक करीब ढाई सौ पृष्ठों की है। इसमें जैसा कि शीर्षक से पता लगता है रामदास काठिया बाबाजी का जीवन चरित्र दिया हुआ है। यह पुस्तक आठ अध्यायों में विभक्त है— बाल्यावस्था, सन्यास, जन्म-स्थान गमन, गुरु-सन्निकट वास, सिद्धि-लाभ—भगवद्दर्शन, अन्तिम दिनों की लीला, उपदेश और तिरोभाव और परिशिष्ट। बाबाजी की विभिन्न अवस्थाओं के चित्र भी दिये गये हैं।

बाबाजी एक परम धार्मिक व्यक्ति थे इसमें कोई सदेह नहीं। आपकी साधना एवं तपस्या सराहनीय है। उनके विषय में कुछ जान लेना आवश्यक है। आप एक सिद्ध पुरुष थे, जीवों पर दया करते थे। इस पुस्तक के पढ़ने से हम बहुत कुछ सीख सकते हैं।

—कालिदास मुकरजी।

नई पुस्तकें

Rāmāyaṇa and Laṇkā—T. Paramasiva Iyar—Bangalore.

Bhāsa—A study—A. D. Pusalkar—Lahore.

History of Mediæval Vaiṣnavism in Orissa—P. Mukherjee—Calcutta.

Aśoka—Surendra Nath Sen— कलकत्ता विश्वविद्यालय

Jain Iconography—B. C. Bhattacharya—Lahore.

Varṇa-ratnākara—Edited by Dr. Suniti Kumar Chatterjee and Babua Misra—Royal Asiatic Society of Bengal.

योगवानी या सिद्धयोगोपदेश—अनुवादक आर॰ बी॰ पंडा बैजनाथ, प्रकाशक सिद्धयोगाश्रम, बनारस, पृष्ठ संख्या २११, मूल्य १)

भजन संग्रह—धर्मामृत—बेचरदास जीवराज पंडित कृत सम्पादित, जोधपुर से प्रकाशित, पृष्ठ संख्या २२४, मूल्य ॥।)

सामुद्रिक तिलक (माराठी)—ज्योतिष रत्न पं॰ रघुनाथ शास्त्री पटवर्धन, ज्योतिर्भूषण आफिस पूना से प्रकाशित, पृष्ठ संख्या ७२५, मूल्य १५)

ऋतुविद् (तेलगू)—एन॰ वेंकट रतन, मूल्य ॥)

अकाल्किद्द वेनबा (तामिल)—राव साहिब वी॰ पी॰ सुब्रमनिअ मुदालियर, मूल्य ॥≈) और १)

तेज छाया (गुजराती)—श्रीमती जयमन गौरी पाठक जी, मूल्य १।)

पाली महाव्याकरण—भिक्षु जगदीश कश्यप एम॰ ए॰ पाली के अध्यापक, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, मूल्य ५)

पुरानी-पत्रिकाएं

कालिदास मुकरजी द्वारा संकलित

The Indian Antiquary Vol. II, 1873.

Notes Concerning the Numerals of the Ancient Dravidians —Rev. F. Kittel, Merkara.

आर्यों का प्रभाव द्रविड़ों पर अवश्य ही पड़ा था। इस विषय में कई पुस्तकें और लेख छप चुके हैं। आर्यों ने भी द्रविड़ों से बहुत कुछ सीखा था। इस विषय में डा० सुनीति कुमार चटर्जी की पुस्तक में बहुत कुछ दिया हुआ है। उपर्युक्त लेख में लेखक ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि द्रविड़ भी एक से लेकर सौ तक की गिनती जानते थे।

Weber on the Date of Patanjali—Goldstucker कृत "पाणिनि" प्रबन्ध पर अध्यापक वेबर ने "Indische studien में (V. 150 ff.) "Critique" नामक एक लेख लिखा था। आलोच्य प्रबन्ध वेबर के लेख का अंग्रेजी अनुवाद है। इसमें आपने महाभाष्य का काल निर्णय किया है।

Patanjali's Mahābhāsya—Prof Ramkrishna Gopal Bhandarkar—इस लेख में लेखक ने पतञ्जलि का जन्म-स्थान निर्देश किया है। आपका कहना है कि पतंजलि का जन्म-स्थान गोनारडा में था। सम्भवतः अयोध्या के गोंडा जिला का प्राचीन नाम गोनारडा था। आपका वार्त्तिककार कात्यायन के जन्म-स्थान के बारे में यह कहना है कि अध्यापक वेबर के अनुसार कात्यायन पूर्वदेशीय वैयाकरण थे। लेकिन लेखक ने यह सिद्ध किया है कि वार्त्तिककार कात्यायन दक्षिण देशीय थे।

The Date of Śrī Harsa—Kashinath Trimbak Telang, M.A , LL.B., Advocate, High Court, Bombay.

हर्ष का जन्मकाल ठीक ठीक बतलाना कठिन है। Dr. Buhler के अनुसार हर्ष बारहवीं शताब्दी के थे। आलोच्य लेख में लेखक ने उसे भूल कहा है। हर्ष का यथार्थ काल निर्णय करने के लिये इस लेख में एक बड़ी भारी आलोचना दी हुई है।

Progress of Oriental Research in 1870-71. (From the Annual Report of the Royal Asiatic Society, June 1872).

इस लेख में सन् १८७०-७१ में प्राच्य-विद्या सम्बधीय जो गवेषणा हुई थी उसकी आलोचना दी हुई है।

सामयिक-साहित्य

नागरी प्रचारिणी पत्रिका—पृथ्वीराज रासो—साहित्य वाचस्पति रायबहादुर

श्यामसुन्दर दास बी० ए०।

„ अजयदेव और सोमल्ल देवी की मुद्राएँ—श्री दशरथ शर्मा एम० ए०।

सिद्धान्त-भास्कर—श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में भौगोलिक नाम—

श्रीयुत कामता प्रसाद जैन एम० आर० ए० एस०।

„ तार्किक प्रभाचन्द्राचार्य की रचनाएँ—श्रीयुत पं० सुमेर चन्द्र दिवाकर जैन,

न्यायतीर्थ, शास्त्री, बी० ए० एल० एल० बी०।

„ आचार्य अमित गति—श्रीयुत प० नाथूराम प्रेमी।

पुरुषार्थ (महाराष्ट्री)—अहल्येची कथा।

तरुण जैन— पूरबी बनाम पच्छिमी सभ्यता—सर सर्वपल्ली राधा कृष्णन।

कल्याण— भक्ति और भक्त—श्री भूपेन्द्र नाथ सान्याल।

„ भगवान् का दान—श्री लावेल फिल्मोर।

„ ईश्वर और विज्ञान—श्री लक्ष्मी दत्त जी तिवारी एम० एस० सी०।

„ प्रेम-मानव और दिव्य—डा० मुहम्मद हाफिज सैयद

एम० ए० पी-एच० डी० डी-लिट्०।

„ भक्त और भगवान—स्वामी श्री सुद्धानन्द जी भारती।

सामयिक संवाद

सर० सी० वी० रमन का सन्मान—भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर चन्द्रशेखर वेंकट रमन को फ़िलाडेल्फ़िया (अमेरिका) के फ्रैंकलिन इन्स्टिट्यूट ने "फ्रैंकलिन मेडेल" देने का विचार किया है। इसके पहले यह मेडेल प्रो० आइनस्टाइन, डा० मिलिकान, डा० कम्पटन आदि प्रसिद्ध वैज्ञानिकों को दिया गया था। सर चन्द्रशेखर वेंकट रमन के इस सन्मान से हमें गौरव है।

*   *   *   *   *

टैगोर ला प्रोफेसर—हमें इस बात पर आनन्द हुआ कि सर एन० एन० सरकार कलकत्ता विश्वविद्यालय के सन् १९५१ के टैगोर ला प्रोफेसर नियुक्त किये गये हैं। आपकी वक्तृता का विषय है, "Law of arbitation with special reference to British India."

*   *   *   *   *

सर सर्वपल्ली राधा कृष्णन—सर सर्वपल्ली राधा कृष्णन ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के अध्यापक का पद परित्याग कर बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दू सभ्यता और संस्कृति के अध्यापक का पद ग्रहण किया है। आप उक्त विश्वविद्यालय के वाइस-चांसेलर भी नियुक्त किये गये हैं।

*   *   *   *   *

कवि रविन्द्र नाथ की वर्ष गांठ—कवि रविन्द्र नाथ की ८० वर्ष की वर्ष गांठ कलकत्ता विश्वविद्यालय में मनाई जावेगी। हमारी यह प्रार्थना है कि यह उत्सव सफल होवे।

सान्वय-शब्दार्थ—(गृह्य रेखाभ्यः) गृह रेखाओं से (अरत्निमात्रे उत्करम्) एक हाथ ऊंचा (प्राक्+उदीच्याम्) पूर्व उत्तर (दिशि) दिशा में (द्रव्याणाम्) यज्ञसम्बन्धी द्रव्यों का (द्वारम्) द्वार (एवम्+तु) इसी प्रकार (निधापयेत्) रखना चाहिये (स्मृतम्) ऐसा कहा गया है ॥५३॥

भावार्थ—गृह्य रेखाओं से एक हाथ की उंचाई पर यज्ञीय द्रव्यों का द्वार स्थापन करना चाहिये ॥५३॥

पार्थिवी चैव सौमी च लेखे द्वे द्वादशाङ्गुले।
एकविंशतिराग्नेयी प्रादेशिन्ये उभे स्मृते ॥५४॥

सान्वय-शब्दार्थ—(च+एव) और (पार्थिवी) पृथ्वी सम्बन्धीय (च) और (सौमी) सोम सम्बन्धी (द्वे) दो (लेखे) रेखायें (द्वादश+अङ्गुले) बारह बारह अङ्गुल की हों तथा (आग्नेयी) अग्नि सम्बन्धी और (प्रादेशिन्ये) प्रादेशिन् सम्बन्धी (उभे) दोनों रेखायें (एकविंशतिः) इक्कीस इक्कीस अङ्गुल की (स्मृते) कही गई हैं ॥५४॥

भावार्थ—पार्थिवी और सौमी रेखायें बारह आङ्गुल लम्बी हों तथा आग्नेयी और प्रादेशिन्या रेखायें इक्कीस २ आङ्गुल लम्बी हों ॥५४॥

षडङ्गुलान्तराः कार्या आग्नेयी संहितास्तु याः।
पार्थिवायास्तु लेखायास्तिस्रस्ता उत्तरोत्तराः ॥५५॥

सान्वय-शब्दार्थ—(आग्नेयी) अग्नि सम्बन्धी रेखाओं के (याः) जो (संहिता) समुदाय हैं उन्हें (षट्+अङ्गुल+अन्तराः) छः छः अङ्गुल के अन्तर पर (कार्याः) करनी चाहिये। और (पार्थिवायाः) पृथ्वी सम्बन्धी (लेखाः) जो रेखायें हैं (ताः) उन्हें (उत्तरोत्तराः) एक के अनन्तर दूसरी (तिस्रः) तीन २ आङ्गुल पर करनी चाहिये ॥५५॥

भावार्थ—आग्नेयी रेखायें छः छः आङ्गुल के अन्तर पर तथा पार्थिवी रेखायें तीन २ अङ्गुल के अन्तर पर बनानी चाहिये ॥५५॥

शुक्लवर्णा पार्थिवी स्यादाग्नेयी लोहिता भवेत्
प्राजापत्या भवेत् कृष्णा नीलामैन्द्री विनिर्दिशेत्।
पीतवर्णा च सौमी स्याल्लेखानां वर्ण लक्षणम् ॥५६॥

सान्वय-शब्दार्थ—(पार्थिवी) पृथ्वी सम्बन्धी रेखा (शुक्लवर्णा) श्वेत रंग की हो (आग्नेयी) अग्नि सम्बन्धी रेखा (लोहिता) लाल रंग की हो, (प्राजापत्या) प्रजापति सम्बन्धी रेखा (कृष्णा) काली रंग की हो और (ऐन्द्रीम्) इन्द्र सम्बन्धी रेखा को (नीलाम्) नीले रंग की (विनिर्दिशेत्) कहनी चाहिये और (सौमी) सोम सम्बन्धी रेखा (पीतवर्णा) पीले रंग की (स्यात्) हो, ये (लेखानाम्) रेखाओं के (वर्ण) रंग के (लक्षणम्) लक्षण हैं ॥५६॥

एष लेखा विधिः प्रोक्तो गृह्यकर्मसु सर्वसु।
सूक्ष्मस्तास्त्वृजवः कार्या लेखास्ता सुसमाहिताः ॥५७॥

सान्वय-शब्दार्थ—(सर्वसु+गृह्यकर्मसु) सब गृह्य कर्मों में (एष) यह (लेखा+विधिः) रेखाओं की विधि (प्रोक्तः) वर्णन की गई है। (ताः) वे रेखायें (सूक्ष्माः) पतली तथा (ऋजवः) सीधी (कार्याः) बनाई जांय और (ताः) वे रेखायें (सुसमाहितः) सुसज्जित होनी चाहिये ॥५७॥

भावार्थ—रेखायें पतली और सीधी बनानी चाहिये और वे देखने में सुसज्जित प्रतीत हों ॥५७॥

एतानि तत्वतो ज्ञात्वा गृह्यकर्मणि कारयेत् ॥५८॥

सान्वय-शब्दार्थ—(एतानि) इन सब बातों को (तत्त्वतः) ठीक रीति से (ज्ञात्वा) जानकर (गृह्य+कर्माणि) गृह्य कर्मों का (कारयेत्) सम्पादन करावे ॥५८॥

भावार्थ—पुरोहित को ऊपर लिखी हुई सब बातें करनी चाहिये ॥५८॥

विष्णुपादपरिक्रान्ता वाराहेणोद्धृता च या।
शुचिर्मेध्या च पूता च किमर्थमुपलिख्यते ॥५९॥

सान्वय-शब्दार्थ—जो भूमि (विष्णु+पाद+परिक्रान्ता) विष्णु भगवान् के पैर से परिक्रमा की गई है (च) और (या) जो भूमि (वाराहेण+उद्धृता) वाराह भगवान् द्वारा उद्धार की गई है वह भूमि (शुचिः) स्वच्छ (च) और (मेध्या) यज्ञ करने के लिये उपयुक्त (च) और (पूता) पवित्र है, फिर (किम्+अर्थम्) किस उद्देश्य से (उपलिख्यते) इस पर रेखायें अङ्कित की जाती हैं ॥५९॥

भावार्थ—वामनावतार में विष्णु भगवान् ने इस पृथ्वी की अपने पैर से परिक्रमा की थी तथा इस पृथ्वी का उद्धार वाराह भगवान् ने किया था अतः यह पृथ्वी तो पवित्र तथा स्वच्छ और यज्ञ योग्य सिद्ध ही है, पुनः रेखाओं के अङ्कित किये जाने का क्या उद्देश्य है? इस शङ्का का उत्तर अगले श्लोक में देते हैं ॥५९॥

इन्द्रेणवज्राभिहतः पुरावृत्रो महासुरः।
मेदसा तस्य संक्लिन्ना तदर्थमुपलिख्यते ॥६०॥

सान्वय-शब्दार्थ—(पुरा) पूर्व काल में (वृत्रः) वृत्र नामक (महा+असुरः) महा असुर (इन्द्रेण) इन्द्र द्वारा (वज्र+अभिहतः) वज्र से मारा गया था (तस्य) उसकी (मेदसा) चर्बी से (सम्+क्लिन्ना) पृथ्वी आच्छादित होकर अपवित्र हो गई थी (तत्+अर्थम्) इसलिये (उपलिख्यते) इस पर रेखायें अङ्कित की जाती हैं ॥६०॥

भावार्थ—इन्द्र ने वज्र से प्राचीन काल में वृत्र नामक महा असुर को मारा था। उसके शरीर की चर्बी समस्त पृथ्वी पर फैल गई थी जिस से यह पृथ्वी अपवित्र हो गई, अतः उस अपवित्रता को दूर करने के लिये इस पर रेखाये अङ्कित की जाती हैं ॥६०॥

मेदमुद्ध्रियमाणस्य शेषं यत्किञ्च तिष्ठति।
अन्तर्धानं मृदा चैव दीयते वेदनिश्चयः ॥६१॥

सान्वय-शब्दार्थ—(उद्ध्रियमाणस्य) चर्बी के हटाये जाने पर (यत्+किम+च) जो कुछ (मेदम्) चर्बी (शेषम्) बची हुई (तिष्ठति) रह जाती है, उसका (अन्तर्धानम्) विलोप (मृदा) मिट्टी से होता है (वेद निश्चयः) यह वेद द्वारा निश्चित् सिद्धान्त (दीयते) दिया जाता है ॥६१॥

भावार्थ—पृथ्वी पर से चर्बी हटाये जाने पर जो थोड़ी चर्बी अवशिष्ट रह जाती है उसका निवारण मिट्टी द्वारा हो जाता है ऐसा वेद का निश्चय है ॥६१॥

द्यूते च व्यवहारे च प्रवृत्ते यज्ञकर्मणि।
यानि पश्यत्युदासीनः कर्त्ता तानि न पश्यति ॥६२॥

सान्वय-शब्दार्थ—(द्यूते) जूवा खेलने में (च) और (व्यवहारे) व्यवहारिक कार्यों में (च) तथा (यज्ञकर्मणि प्रवृत्ते) याज्ञिक कर्मों में प्रवृत्त होने पर (उदासीनः) दूसरा मनुष्य (यानि) जिन चीज़ों को (पश्यति) देखता है (कर्त्ता) यज्ञ अनुष्ठान करने वाला पुरुष (तानि) उन चीज़ों को (न) नहीं (पश्यति) देखता है ॥६२॥

भावार्थ—प्रायः ऐसा देखा जाता है कि यज्ञादि कर्मों के सम्पादन में स्वयं यज्ञकर्ता को वे बातें नहीं सूझतीं जो दूसरे किसी उदासीन पुरुष को सूझ जाती हैं ॥६२॥

हिन्दी-सभा

सभापति—श्रीयुत घनश्यामदास जी बिड़ला ।

सह० सभापति—(२) श्रीयुत बंशीधर जालान ।

(३) „ भागीरथ कानोडिया ।

अन्यान्य सदस्य

(४) काका कालेलकर ।
(५) डा० डी० आर० भंडारकर ।
(६) महामहोपाध्याय सकलनारायण शर्मा ।
(७) डा० सुनीति कुमार चटर्जी ।
(८) श्रीयुत बहादुर सिंह सिंघी
(९) श्रीयुत मूलचन्द अगरवाल ।
(१०) डा० बेनीमाधव बड़ुआ ।
(११) श्रीयुत शिवप्रसाद गुप्त ।
(१२) पं० अम्बिका प्रसाद बाजपेयी ।
(१३) श्रीयुत देवीप्रसाद खेतान ।
(१४) „ लक्ष्मीनिवास बिड़ला ।
(१५) „ पारस नाथ सिंह
(१६) „ पद्मराज जैन ।
(१७) „ बाबूलाल राजगढ़िया ।
(१८) डाः बटकृष्ण घोष
(१९) पं० श्री रामसुरति मिश्र ।
(२०) श्रीयुत सतीश चन्द्र शील । (परिचालक)
(२१) „ कालिदास मुकरजी (सह-सम्पादक)
(२२) कुमारी पद्मा मिश्र (सह-सम्पादिका)

प्राचीन भारत का उद्देश्य

हिन्दी में मासिक एवं त्रैमासिक कई पत्रिकायें हैं लेकिन भारतीय संस्कृति एवं शास्त्र सम्बन्धीय कोई पत्रिका नहीं दिखलाई पड़ती । प्राचीन भारत की ज्ञान-गरिमा को हम क्रमशः भूलते ही जा रहे हैं कि इसी भारतवर्ष ने चीन, जापान के अतिरिक्त सुदूर अमेरिका में भी हिन्दुत्व का प्रभाव कैसे डाला था ? कैसे यूनानियों ने यहां से चिकित्सा पद्धति सीखी ? सम्राट सिकन्दर तो यहां की शिक्षा, एवं संस्कृति को देखकर दंग हो गया था । इस पत्रिका का उद्देश्य उस प्राचीन संस्कृति आदि पर प्रकाश डालना ही है । इस पत्रिका में नीचे लिखे विषयों पर लेख रहेंगे :—

(१) वैदिक शास्त्र (२) दर्शन-शास्त्र (३) धर्म-शास्त्र (४) बौद्ध तथा जैन शास्त्र (५) आयुर्वेद-शास्त्र (६) शिल्प एवं कला (७) प्राचीन विज्ञान-शास्त्र (गणित, ज्योतिष, रसायन, पदार्थ-विद्या आदि) (८) हिन्दी-साहित्य (९) समाज तथा नीति-शास्त्र (१०) प्राचीन तथा आधुनिक भारतवर्ष और दूसरे देशों की शिक्षापद्धति तथा उनका प्रचार कार्य (११) पुस्तक समालोचना तथा अन्यान्य विषयों में प्रकाशित लेखों पर मन्तव्य (१२) सम्पादकीय मन्तव्य । इसके अतिरिक्त अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियों का प्रकाशन एवं प्रकाशित दुष्प्राप्य पुस्तकों की समालोचना। संस्कृत, पाली एवं प्राकृत अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियोंका हिन्दी अनुवाद।

हिन्दी-सभा

सभापति—श्रीयुत [illegible] जी बिड़ला ।

सह० सभापति—(२) श्रीयुत बंशीधर जालान ।

(३) ,, भागीरथ कानोड़िया ।

अन्यान्य सदस्य

(४) काका कालेलकर ।

(५) डा० डी० आर० भंडारकर ।

(६) महामहोपाध्याय लक्ष्मीनारायण शर्मा ।

(७) डा० सुनीति कुमार चटर्जी ।

(८) श्रीयुत बहादुर सिंह सिंघी

(९) श्रीयुत मूलचन्द अगरवाल ।

(१०) डा० वेणीमाधव बड़ुआ ।

(११) श्रीयुत शिवप्रसाद गुप्त ।

(१२) पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ।

(१३) श्रीयुत देवीप्रसाद खेतान ।

(१४) ,, लक्ष्मीनिवास बिड़ला ।

(१५) ,, पारस नाथ सिंह

(१६) ,, पद्मराज जैन ।

(१७) ,, बाबूलाल राजगढ़िया ।

(१८) डाः बटकृष्ण घोष

(१९) पं० श्री राममूर्ति मिश्र ।

(२०) श्रीयुत सतीश चन्द्र शील । (परिचालक)

(२१) ,, कालिदास मुखर्जी (सह-सम्पादक)

(२२) कुमारी पद्मा मिश्र (सह-सम्पादिका)

प्राचीन भारत का उद्देश्य

हिन्दी में मासिक एवं त्रैमासिक कई पत्रिकायें हैं लेकिन भारतीय संस्कृति एवं शास्त्र सम्बन्धीय कोई पत्रिका नहीं दिखलाई पड़ती । प्राचीन भारत की ज्ञान-गरिमा को हम क्रमशः भूलते ही जा रहे हैं कि इसी भारतवर्ष ने चीन, जापान के अतिरिक्त सुदूर अमेरिका में भी हिन्दुत्व का प्रभाव कैसे डाला था ? कैसे यूनानियों ने यहां से चिकित्सा पद्धति सीखी ? सम्राट सिकन्दर तो यहां की शिक्षा, एवं संस्कृति को देखकर दंग हो गया था । इस पत्रिका का उद्देश्य उस प्राचीन संस्कृति आदि पर प्रकाश डालना ही है । इस पत्रिका में नीचे लिखे विषयों पर लेख रहेंगे :—

(१) वैदिक शास्त्र (२) दर्शन-शास्त्र (३) धर्म-शास्त्र (४) बौद्ध तथा जैन शास्त्र (५) आयुर्वेद-शास्त्र (६) शिल्प एवं कला (७) प्राचीन विज्ञान-शास्त्र (गणित, ज्योतिष, रसायन, पदार्थ-विद्या आदि) (८) हिन्दी-साहित्य (९) समाज तथा नीति-शास्त्र (१०) प्राचीन तथा आधुनिक भारतवर्ष और दूसरे देशों की शिक्षापद्धति तथा उनका प्रचार कार्य (११) पुस्तक समालोचना तथा अन्यान्य विषयों में प्रकाशित लेखों पर मन्तव्य (१२) सम्पादकीय मन्तव्य । इसके अतिरिक्त अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियों का प्रकाशन एवं प्रकाशित दुष्प्राप्य पुस्तकों की समालोचना। संस्कृत, पाली एवं प्राकृत अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियों का हिन्दी अनुवाद।

प्रथम वर्ष

पांचवीं संख्या

प्राचीन भारत

[भारतीय शास्त्र एवं संस्कृति सम्बन्धीय मुख्य मासिक पत्रिका]

ज्येष्ठ

संवत् १९९८

सम्पादक—महामहोपाध्याय सकलनारायण शर्मा

सह० सम्पादक—श्री कालिदास मुकरजी एम. ए., एम. आर. ए. एस.

सह० सम्पादिका—कुमारी पद्मा मिश्र एम. ए

परिचालक—श्री सतीश चन्द्र शील, एम. ए., बी. एल.

दि इन्डियन रिसर्च इन्स्टिट्यूट

१७०, मानिकतला स्ट्रीट कलकत्ता

सम्पादक-मंडल

नियमावली

(१) माघ माह से प्राचीन भारत का वर्ष आरम्भ होता है। हर माह के पहले हफ्ते में यह पत्रिका प्रकाशित होती है। हर संख्या में लगभग ७२ पृष्ठ रहते हैं।

(२) इस पत्रिका का वार्षिक मूल्य ४) तथा छमाही मूल्य २।) रुपये (डाक सहित) है। प्रति संख्या की कीमत ।≠), डाक अलग।

(३) वार्षिक या छमाही मूल्य पहले देना पड़ता है।

(४) किसी विशेष-संख्या के प्रकाशित होने पर वार्षिक-ग्राहकों को उसकी कीमत नहीं देनी पड़ती है।

(५) वर्ष-समाप्ति के एक माह पूर्व वसूली के लिये पत्र दिया जाता है नहीं तो वर्ष-समाप्ति के बाद पहली संख्या वी० पी० द्वारा भेजी जाती है। जो महोदय पत्रिका बन्द करना चाहते हैं उन्हें पहले ही सूचित करना आवश्यक है।

(६) ग्राहक का पता यदि बदल जाय तो जितनी जल्दी हो सके सूचित करना चाहिये।

(७) ठीक समय में यदि पत्रिका न मिले तो ग्राहक १५ दिन के भीतर सह० सम्पादक को सूचित करें।

(८) लेखक कृपया पृष्ठ की एक ओर अपना लेख भेजें। प्रूफ केवल एक ही बार लेखक के पास भेजा जा सकता है।

(९) जो महाशय १००) देने की कृपा करेंगे वे इस संस्था के आजीवन—सदस्य बनेंगे। उन्हें पत्रिका एवं इस संस्था से प्रकाशित हिन्दी पुस्तकें मुफ्त में दी जावेंगी।

Printed and Published by Mr. Gour Chandra Sen, B Com. from the Indian Research Institute, 170, Maniktala Street, Calcutta, at the Sree Bharatee Press of the same address.

सूचोपत्र

लेख

विविध-विषय

प्राचीन भारत

(भारतीय शास्त्र एवं संस्कृति सम्बन्धीय मुख्य मासिक पत्रिका)

प्रथम वर्ष } ज्येष्ठ (संवत् १९९८) { पांचवीं संख्या

रत्नावली—तुलसीदास

[प्राचीन परम्परागत कथाओं पर नवीन प्रकाश—पुरानी हस्तलिखित प्रतियों की खोज]

श्री रामदत्त भारद्वाज

रत्नावली हिन्दी साहित्य के मध्यकालीन सर्वश्रेष्ठ कवि श्री तुलसीदास की धर्म-पत्नी थी। इसनी का जन्मस्थान, मातृ-पितृ कुल, विवाह एवं कुछ और २ बातें इस समय वादानुवाद के प्रबल विषय बन गये हैं। किन्तु एतत्कालीन अन्वेषणों और आविष्कारों ने इस विषय के उन सब अनाधार मिथ्यावादों को छिपाकर बुद्धिगम्य प्राचीन कथाओं को प्रकाशित कर दिया है। निम्नलिखित पंक्तियों में लेख प्रमाणों के द्वारा मैं यह प्रतिपादन करने का यत्न करूँगा कि :—

१। तुलसीदास जी का जन्म भारद्वाजगोत्रीय शुक्ल-सनाढ्य ब्राह्मणवंश में आत्माराम और हुलसी के औरस से शूकरक्षेत्र (सोरों—जिला एटा) में हुआ था।

२। गोस्वामी जी का विवाह रत्नावली के साथ सं० १५८९ वि० में हुआ था। उनके तारापति नाम का एक पुत्र हुआ था जो जन्म होने के कुछ वर्ष बाद ही परलोक को सिधारा, एवं गोस्वामी जी ने अपनी पत्नी के आकस्मिक ज्ञानोपदेश से संवत् १६०४ वि० में संसार से माया-मोह छोड़ दिया था।

३। रत्नावली बदरी-निवासी पण्डित दीनबन्धु पाठक की पुत्री थी। उसका जन्म संवत्

१५७७ वि० में हुआ था और उसी अभद्रक संवत् १६०४ वि० में जब कि तुलसीदास घर-बार छोड़कर चले गये थे रत्नावली की माता दयावती का देहान्त हो गया था।

४। रत्नावली ने २०१ उत्तम स्त्री-शिक्षाप्रद दोहों की रचना की थी जो अनेक स्थानों में उपलब्ध हैं। यह तपस्विनी पति-भक्ति-परायण देवी संवत् १६५१ वि० में परलोकवासिनी हुईं।

५। बदरी ग्राम को सं० १६५७ वि० में गङ्गा जी ने बहा कर नष्ट कर दिया था। इसके उपरान्त यह ग्राम दुबारा बसाया गया जैसा कि आज भी स्थित है।

६। व्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि पिता नन्ददास और पुत्र कृष्णदास क्रम से तुलसीदास जी के चचेरे भाई और भतीजे थे।

७। बदरी सोरों (वाराह, ऊकल, शूकर-क्षेत्र) के सामने एक ग्राम था और उन दिनों में उनके बीच में गङ्गा जी बहती थीं।

इसके पूर्व कि आगे बढ़ूँ, मैं चाहता हूँ कि प्रचलित विचारों और मिथ्यावादों की कुछ चर्चा करूं।

एक लेख में, जो कि ज्येष्ठ स० १९६९ की 'मर्यादा' पत्रिका में प्रकाशित हुआ था, श्री इन्द्रनारायण सिंह जी ने श्री गोस्वामी तुलसीदास के शिष्य बाबा रघुबरदास रचित 'तुलसी-चरित' नामक एक पुस्तक का उल्लेख किया है। आपका कहना है कि गोस्वामी जी राजापुर में सरयूपारीण ब्राह्मण मुरारि मिश्र के यहां उत्पन्न हुए थे। उनके दो बड़े भाई थे गणपति और महेश एवं मंगल नामक एक छोटा भाई था। गोस्वामी जी के तीन विवाह हुए थे। सबसे पिछली पत्नी कञ्चनपुर के लक्ष्मण उपाध्याय की पुत्री बुद्धिमती थी जिसके कारण उसके पति ने विरक्त हो सन्यास ग्रहण किया था। परन्तु यह पुस्तक अभी तक किसी दूसरे के दृष्टिगोचर नहीं हुई है। रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास और डाक्टर पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने इसको महत्त्व नहीं दिया है[1] और मिश्रबन्धुओं ने भी इसे नहीं माना है[2]। मैंने भी तुलसी चर्चा नामक पुस्तक एवं नवीन भारत के तुलसी अङ्क में उक्त तुलसी-चरित का खण्डन करते समय यह स्पष्ट किया है कि गोस्वामी जी ने भट्टोजी दीक्षित और नागेशभट्ट के व्याकरण-ग्रन्थों को देखा भी नहीं था, पढ़ने की तो बात ही क्या (जैसा कि तुलसी-चरित के रचयिता ने लिखा है) क्योंकि गोस्वामी जी का देहावसान १६२३ ई० में हुआ था और भट्टोजी दीक्षित १६३० ई० में प्रकाश में आये और नागेश भट्ट का समय तो १८वीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है।

भक्तकल्पद्रुम और हिन्दी नवरत्न के रचयिता तुलसीदास को कान्यकुब्ज ब्राह्मण की पदवी प्रदान

---

१ गोस्वामी तुलसीदास (श्यामसुन्दर दास और पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल)।

२ मिश्रबन्धु विनोद, प्रथम भाग, पृष्ठ २६८-२६९।

करते हैं। काष्ठजिह्व स्वामी उनको पाराशरगोत्रीय दुबे पतिऔजा बतलाते हैं, एवं ठाकुर शिव सिंह, पं० रामगुलाम द्विवेदी, पं० सुधाकर द्विवेदी और सर जौर्ज ग्रियर्सन किंवदन्ती के आधार पर उनका सरवरिया कुल से संबंध बतलाते हैं।

स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल गोस्वामी जी को सरयूपारीण ब्राह्मण सिद्ध करने को उत्सुक थे और इसके लिये आपने पूर्वोक्त तुलसी-चरित का सहारा लिया था जिसको आज तक उनके अतिरिक्त किसी दूसरे ने नहीं देखा है जैसा कि शुक्ल जी ने स्वयं स्वीकार किया था३। वे सदा से प्रमाणीभूत इस कथोपकथन को जानते-मानते थे और जिसका समर्थन ग्रियर्सन, ग्रौउज़ एवं अन्य यूरोपनिवासी लेखकों ने भी किया है कि गोस्वामी तुलसीदास आत्माराम और हुलसी के पुत्र थे, दीनबन्धु पाठक की पुत्री रत्नावली से उनका विवाह हुआ था, एवं तारापति नाम का उनका एक पुत्र हुआ था जो जन्म के थोड़े ही दिन बाद परलोकगामी हो गया। तथापि वे इस निर्णय की ओर झुके प्रतीत होते थे कि गोस्वामी जी मुरारि मिश्र के पुत्र थे, उनके तीन विवाह हुए थे और अन्तिम विवाह बुद्धिमती से हुआ था। ऐसा क्यों? क्योंकि तुलसी-चरित ऐसा कहता है। वे ग्रियर्सन की इतनी सम्मति को तो उचित समझते थे कि गोस्वामी जी राजापुर में सरयूपारीण ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए थे, किन्तु इसके आगे वे नहीं मानते थे। अपने अभिप्रायसाधन के निमित्त वे रामबोला शब्द की क्लिष्ट-कल्पित निरुक्ति 'राम ने अपना बोल दिया' करते थे। इसी प्रकार वे जननि शब्द का अर्थ 'जिसने जन्म दिया है' बतलाते थे एवं विनयपत्रिका और कवितावली के जिन चरणों का अर्थ पं० सुधाकर द्विवेदी आदि विद्वान् यह करते हैं कि तुलसी जी को बचपन में माता-पिता ने त्याग दिया था उन्हीं वचनों के अनुसार शुक्ल जी की सम्मति में तुलसी जो बचपन में अपने माता-पिता से काम धन्धे में मन न लगाने के कारण अलग कर दिये गये थे४। इन सब बातों को शुक्ल जी ने तुलसी-चरित रूप गोप्य-निधि के आधार पर माना है।

शुक्ल जी इस बात को स्वीकार नहीं करते कि नन्ददास तुलसीदास जी के सम्बन्धी थे। बिना किसी युक्ति या प्रमाण के उनका कथन था कि दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता की ख्याति के तुलसीदास एक दूसरे तुलसीदास थे जो सनाढ्य ब्राह्मण थे५। जब बैजनाथ जी तुलसीदास और नन्ददास को एक ही गुरु के शिष्य बतलाते हैं तब शुक्ल जी कहते हैं कि यह कैसे हो सकता है कि एक गुरु के दो शिष्य राम और कृष्ण दो विभिन्न सम्प्रदायों के अनुगामी बनें६। यहां प्रश्न उठता है कि क्या गुरु-शब्द विद्यागुरु

---

३ तुलसी ग्रन्थावली (प्रस्तावना पृष्ठ १७)।

४ तुलसी ग्रन्थावली (प्रस्तावना पृष्ठ २४-२५)।

५ तुलसी ग्रन्थावली (प्रस्तावना पृष्ठ २६)।

६ तुलसी ग्रन्थावली (प्रस्तावना पृष्ठ २६)।

और दीक्षागुरु का वाचक नहीं है? क्या यह असम्भव है कि दो मनुष्यों का अथवा पिता के दो पुत्रों का विद्यागुरु एक हो और दीक्षागुरु उससे भिन्न कोई दूसरा पुरुष? यही क्यों—श्री शुक्लजी को तो 'सोरो गोस्वामी तुलसीदास जी की जन्मभूमि है' यह कहना तक नहीं सुहाता था। आप का विश्वास था, कि सूकरक्षेत्र जिला एटा के अन्तर्गत सोरों नहीं किन्तु गोंडा का शूकरक्षेत्र है७, परन्तु आपने अपने इस विश्वास की सत्ता में कोई युक्ति नहीं दी। पण्डित माधव प्रसाद जी त्रिपाठी का कथन है कि शूकरक्षेत्र सोरों ही है और प्रोव्ज़८ साहब भी इसी मत के पोषक हैं। कासगञ्ज वास्तव्य मेरे सुयोग्य मित्र पं० भद्रदत्त जी सर्वप्रथम सज्जन हैं जिन्होंने प्राचीन लेखों द्वारा अत्यन्त सन्दिहान व्यक्ति के भी सम्मुख यह सिद्ध कर दिया है कि सोरों, शूकरक्षेत्र और वाराहक्षेत्र एक ही स्थान है९। स्थानाभाव से मैं यहां उनकी बुद्धिगम्य युक्तियों को जो लेखप्रमाणों के सुदृढ़ आधार पर निरूढ़ हैं, उपस्थापित नहीं करता।

लगभग १५ वर्ष हुए बाबा बेनीमाधवदासकृत 'मूल गोसाईं-चरित' नामक एक पुस्तक अकस्मात् आ गई थी। इसमें लिखा है कि तुलसीदास सं० १५५४ वि० श्रावण की सप्तमी को राजापुर में उत्पन्न हुए थे। इनकी माता हुलसी का देहान्त इनके जन्म से पांचवें दिन हो गया था। वे अपने पुत्र तुलसी के पालन का भार मुनिया नाम की एक दासी को दे गईं क्योंकि पिता बालक को परित्याग कर देना चाहते थे। तुलसी का पालन-पोषण मुनिया की सास चुनिया ने किया था। परन्तु जब सर्प-दंश से उसकी मृत्यु हो गई तब बालक तुलसी का लालन-पालन कुछ समय तक देवी पार्वती ने किया और अन्त में गोस्वामी जी की शिक्षा-दीक्षा इनके गुरु नरहर्यानन्द जी ने की जिन्होंने आगे चल कर इन्हें उच्च शिक्षा-प्राप्ति के निमित्त शेष सनातन जी को सौंप दिया, जिन्होंने इनके ग्रहण की स्वयं ही इच्छा प्रकट की थी। दूसरे गुरु की मृत्यु के उपरान्त तुलसी से अपनी जन्मभूमि को लौट जाने के लिये कहा गया। तुलसी को वहां जाने पर वंश का कोई व्यक्ति जीवित नहीं मिला। तुलसी के गुणों पर मोहित होकर तारीपति के एक ब्राह्मण ने उनके साथ अपनी सुन्दरी कन्या का विवाह करने के लिये तुलसी को अपने अनुकूल कर लिया। एक दिन ऐसा हुआ कि वह (तुलसीभार्या) स्वामी की अनुपस्थिति में अपने पिता के घर चली गई। तुलसी उसके बिना बड़े बेचैन हुए और आधी रात के समय तत्क्षण ही अपनी प्रिया के लिये चल पड़े। परन्तु अपनी मनमोहिनी की झिड़कियों से उनकी बुद्धि ठिकाने आ गई और इसका फल यह हुआ कि वे संसार से विरक्त हो गये। इस पुस्तक में तुलसी के जीवनकाल की पिछली अनेक घटनाओं का वर्णन मिलता है और उसमें इस बात का भी संकेत है कि कभी २ पति-पत्नी

---

७ हिन्दी साहित्य का इतिहास (नवीन संस्करण) पृष्ठ १५६।

८ तुलसी ग्रन्थावली (निबन्धावली) पृष्ठ ४५।

९ वास्तविक शूकरक्षेत्र (सोरों जिला एटा) पं० भद्रदत्त कृत तुलसी चौक (नवीन भारत) और तुलसी-चर्चा।

का समागम हो जाता था। इसमें तुलसी के पिता का नाम, श्वशुर और पत्नी की विशेष रूप से चर्चा नहीं की गई और शूकरक्षेत्र की स्थिति सरयू और घाघरा नदियों के संगम पर बताई गई है। इस पुस्तक का नाम कुछ विचित्र सा है। कुछ समालोचक तो, जिनको सहानुभूति इसके साथ नहीं है, इसको 'भूल गुसाईं चरित' अर्थात् 'भूल से लिखी हुई गुसाईं जी की जीवनी' की उपाधि प्रदान करते हैं। इसे विद्वद्वर राय बहादुर श्यामसुन्दर दास का (जो उस समय बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के प्रधान थे) समर्थन प्राप्त है। किन्तु इसके साथ ही आपके प्रसिद्ध उत्तर पदाधिकारी स्व० श्री पन्डित रामचन्द्र शुक्ल द्वारा की गई खुली निन्दा भी है[१०]। अनेक विद्वानों ने तो इसको अत्यन्त सन्देह और शंका की दृष्टि से देखा है। हिन्दी मन्दिर प्रयाग के पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने अयोध्या के कनकभवन में इसकी गोलमाल रचना हुई है ऐसा सन्देह किया है[११]। मूल गुसाईं चरित की अप्रामाणिकता-शीर्षक एक लेख में जो सुधा के (१९४० अप्रैल) अङ्क में एवं परिवर्धित रूप में नवीन भारत के तुलसी अङ्क और तुलसी चर्चा नामक पुस्तक में प्रकाशित हो चुका है मैंने उक्त पुस्तक के विपरीत अनेकानेक प्रमाण दिया है जिनको मैं पुनः प्रदर्शित करना नहीं चाहता क्योंकि मेरा प्रस्तुत प्रयोजन विषय का मण्डन है न कि खण्डन।

सोरों का प्रसङ्ग कुछ लोगों के केवल दुराग्रह के कारण विस्मरणान्धकार में पड़ गया है। इस प्रसङ्ग के अनुसन्धानात्मक उल्लेख भारतीय और यूरोपीय विद्वानों ने अनेक रूप में किये हैं जिनमें से सभी को दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता, भक्तमाल, भक्तिरसबोधिनी के सदृश अपर्याप्त किन्तु यथार्थ सूचना देने वाली थोड़ी सी पुस्तकों पर अवलम्बित रह कर ही सन्तुष्ट रहना पड़ा है। कुछेक व्यक्तियों के अतिरिक्त भारतीयों में पं० रामनरेश त्रिपाठी, प० गौरीशङ्कर द्विवेदी[१२] और पं० गोविन्द वल्लभ भट्ट[१३] के नाम लिये जा सकते हैं। यूरोप वासियों में ग्रियर्सन और ग्रीव्ज़ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ग्रियर्सन का मत है कि गोस्वामी तुलसीदास की जन्मभूमि राजापुर थी किन्तु ग्रीव्ज़ को यह बात स्वीकृत नहीं, यद्यपि ये दोनों एवं अन्य विद्वान् इस विषय में सहमत हैं कि सन्त कवि गोस्वामी तुलसीदास आत्माराम और हुलसी के पुत्र और नरहरि के शिष्य थे, दीनबन्धु पाठक की पुत्री रत्नावली से इनका विवाह हुआ था, तारापति नाम का इनका एक पुत्र हुआ था जो जन्म के कुछ ही दिन बाद इस संसार से चल बसा। ग्रीव्ज़ का कथन है कि गुरु नरहरि जी शूकरक्षेत्र या ऊकलक्षेत्र में रहते थे और यह शूकरक्षेत्र सोरों ही है।

सुगृहीतनामा पं० गोविन्द वल्लभ भट्ट कुछ अनमोल हस्तलिखित प्रतियों को खोज के लिये

---

१० हिन्दी साहित्य का इतिहास (रामचन्द्र शुक्ल) नवीन संस्करण।

११ तुलसीदास और उनकी कविता पहला भाग एवं रामचरितमानस (सटीक) रामनरेश त्रिपाठी पृष्ठ ९१—९८।

१२ बुंदेल वैभव—महाकवि गोस्वामी तुलसीदास जी (माधुरी १९८६) सुकवि सरोज।

१३ गोस्वामी का जन्मस्थान राजापुर अथवा शूकरक्षेत्र सोरों (माधुरी १९८६ वि०)।

विशेष यश और साधुवाद के योग्य हैं जिनसे रत्नावली, उसकी रचित पुस्तकों एवं उसके पतिदेव गोस्वामी तुलसीदास की आद्य-जीवन-घटना पर भी प्रचुर प्रकाश पड़ता है। परन्तु ये पुस्तकें अब तक सर्वथा अज्ञात रही हैं। सन् १९३९ के फ़रवरी और जून माह में कलकत्ते के विशालभारत पत्र में मुझे रत्नावली और नन्ददास पर दो लेख प्रकाशित करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। तब से विशाल जनता को इनका कुछ आभास सर्वप्रथम मिला[१४]। उस समय से और भी कतिपय हस्तलिखित प्रतियां मेरे दृष्टिगोचर हुईं जिनकी उपलब्धि विशेष कर पं० भद्रदत्त जी शर्मा की कृपा से हुई है। यहां पर उनका थोड़ा सा विवरण दे देना उचित है।

निम्न निर्दिष्ट हस्तलिखित प्रतियों में नं० ७ और ८ कासगञ्ज वास्तव्य मेरे सुयोग्य मित्र० पं० हरगोविन्द पण्डा के निजी पुस्तकालय से मिलीं। न० २ (अ) बदायूँ वासी बाबू गया प्रसाद से प्राप्त हुई और शेष सोरों वासी पूर्वोक्त पं० गोविन्द वल्लभ भट्ट से।

१। गोस्वामी तुलसीदास जी की अर्धाङ्गिनी रत्नावली की जीवनी या 'रत्नावली-चरित'। इसकी रचना प० मुरलीधर चतुर्वेदी ने की थी जिनका जन्म सं० १७४९ वि० में हुआ था। इस बात को दो सौ चालीस वर्ष से अधिक हो गये अर्थात् ९८ वर्ष रत्नावली की और ६९ वर्ष तुलसीदास जी की मृत्यु के बाद। दो हस्तलिखित प्रतियां इस प्रकार प्राप्य हैं। उनमें से एक को तो स्वयं ग्रन्थकर्त्ता ने सोरों क्षेत्र में श्रावण शुक्ला १ भृगुवार स० १८२९ वि० (भृगुवार ३१ जुलाई १७७२ ई०) को पूर्ण किया था और दूसरी की प्रतिलिपि उनके शिष्य रामवल्लभ मिश्र ने सोरों में मार्ग शीर्ष ६ शनिवार सं० १८६४ वि० (शनिवार ५ दिसम्बर १८०७ ई०) को की थी। इनकी पुष्पिकाएँ इस प्रकार हैं :—

"इति श्री रत्नावली चरितं सम्पूर्णम् शुभम्। सवत् १८२९ श्रावण शुक्ला १ प्रतिपदायाम् शुक्रवासरे लिखितम् चतुर्वेद मुरलीधरेण सोरों क्षेत्रे। शुभं भवतु।"

"इति श्री रतनावली सम्पूरणम लिखितम् श्री मुरलीधर चतुरवेदि शिष्येन रामवल्लभ मिश्रेन सोरों मध्ये सवत् १८६४॥ मारगशिर मासे शुक्लाक्षे ६ शनिवासरे। कृष्णाय नमः शुभम् शुभम् शुभम् शुभम् शुभम् शुभम् शुभम् भूयात्"

२। रत्नावली रचित दोहे जो अब तक अज्ञात रहे हस्तलिखित चार संस्करणों में प्राप्य हैं अर्थात् :—

(अ) रत्नावलीकृत दोहा रत्नावली। यह २०१ दोहों का सग्रह है जिसको श्रीगोपालदास ने बदायूँ निवासी मुंशी माधोराय कायस्थ सक्सेना के निमित्त सं० १८२४ वि० की भाद्रपद कृष्णा अमावस्या सोमवार (सोमवार २४ अगस्त १७६७ ई०) को किया था। इसकी पुष्पिका इस प्रकार है :—

---

१४ तुलसीदास का अध्ययन (माताप्रसाद गुप्त) हिन्दुस्तानी १९४० पृष्ठ १८७।

इति श्री रतनावलि कृत दोहा-रतनावली संपूर्ण। संवत् १८२४॥ भाद्रपद मासे कृष्णपक्षे ३० अमावस्याम् सोमवासरे॥ लिषितम् गोपालदासेन मुंशी माधौराइ निमित्तम् शुभम् भवतु॥ राम॥ राम॥ राम॥ राम॥ राम॥ राम॥ राम॥

मंगलं भगवान विष्णुर्मंगलं गरुडध्वजं मंगलं पुण्डरीकाक्ष मंगलायतनो हरिः॥१॥ शुभम्।

مالک اس کتاب منسی مادھوراے کایستھ سکسینہ ساکن شہر بدایوں

(आ) दोहा रत्नावली। दो सौ एक दोहों का यह सग्रह श्री गङ्गाधर ब्राह्मण द्वारा वाराह क्षेत्र (जोगमार्ग के समीप) में सं० १८२९ वि० भादों सुदी ३ सोमवार (सोमवार ३१ अगस्त १७७२ ई०) को किया गया था। इसकी पुष्पिका इस प्रकार है:—

"इति श्री साधवी रतनावलि की दोहा रतनावली संपूरनम् शुभम् संवत् १८२९ भादो शुदि ३ चन्द्रे लिषितम् गंगाधर ब्राह्मण जोग मारग समीपे वाराहक्षेत्रे श्रीरस्तु शुभमस्तु"

(इ) रत्नावली लघु दोहा संग्रह। अर्थात् रत्नावली के बनाये १११ दोहों का छोटा संग्रह। इसे पं० रामचन्द्र ने सं० १८७५ में चैत्र कृष्णा १३ भृगुवार (सोमवार १४ अप्रैल १८१७ ई०) को संग्रह किया था। किन्तु त्रयोदशी को भृगुवार नहीं था, सोमवार था। इसकी पुष्पिका इस प्रकार है:—

'इति श्री रतनावलि लघु दोहा सग्रह सम्पूर्णम्॥ लिखित मिदम् पुस्तकम् पंडित रामचन्द्र बदरिया ग्रामे शुभ संवत् १८७४ चैत्र कृष्णा १३ भृगुवासरे। ॐ नमो भगवते वराहाय। शुभम् भूयात्॥ इति॥ छ॥ छ॥ छ॥ छ॥ छ॥ छ॥ छ॥

(ई) रत्नावली लघु दोहा संग्रह। यह रत्नावली के १११ दोहों का सग्रह है। यह संकलन ईश्वर नाथ पण्डित ने सोरों में सं० १८७५ वि० माघ शुक्ला १३ सोमवार को (सोमवार, ८ फ़रवरी १८१९ ई०) किया था। इसकी पुष्पिका इस प्रकार है:—

"इति श्री रतनीवली लघु दोहा सग्रिह संपूरनम्॥ लिषित ईसुरनाथ पंडीत सोरों जी मिती माह सुदी तेरसि १३ सोमवार सवतु १८७५ में॥ गंगा॥ ईति शुभम्।"

३। श्री रामचरित मानस का बालकाण्ड। इसकी प्रतिलिपि बनारस में रघुनाथदास ने सं० १६४३ वि० अर्थात् सन् १५८६ ई० में नन्ददास के पुत्र कृष्णदास के लिये की थी। इसकी पुष्पिका इस प्रकार है:—

"इति श्री रामचरित मानसे सकल कलि कलुष विध्वंसने विमल (वै)राग्य संपादिनो नाम १ सोपान समाप्तः संवत १६४३ शाके १५०८···वासी नन्ददास पुत्र कृष्णदास हेत लिषो रघुनाथदास ने कासीपुरी में।"

४। रामायण का आरण्य काण्ड। इसकी प्रतिलिपि सोरों क्षेत्र निवासी अपने भ्रातृपुत्र कृष्णदास के लिये गुरु श्री तुलसीदास ने आज्ञा देकर काशी निवासी लक्ष्मणदास से आषाढ़ सुदी ४ भृगुवार

सं० १६४३ वि० (भृगुवार, १० जून, १५८६ ई०) को बताई। गणनानुसार शुक्रवार के दिन बहुत कुछ प्रायः दिन भर चतुर्थी रही किन्तु उदयातिथि ४ तो शनिवार को ही थी। इसकी पुष्पिका इस प्रकार है :—

"इति श्री रामायने सकल कलि कलुष विध्वंसने विमल वैराग्य संपादिनी षट सुजन संवादे राम बनचरित्र बर्नंनो नाम तृतियो सोपान आरन्य कांड समाप्त ॥३॥ श्री तुलसीदास गुरु की आग्या सों उनके भ्राता सुत कृष्णदास सोरों छेत्र निवासी हेत लिषितं लछिमनदास कासी जो मध्ये संवत १६४३ आषाढ़ सुद्द ४ सुक्रे ईत ॥

५। शूकरक्षेत्र माहात्म्य। इसकी रचना कृष्णदास ने की थी जिसमें कुछ छंद मुरलीधर चतुर्वेदी रचित भी हैं। इसकी प्रतिलिपि सोरों में शिवसहाय कायस्थ ने कातिक बदी ११ बुधवार सं० १८७० वि० को (बुधवार १७ नवम्बर १८१३ ई०) पूर्ण की। किन्तु बुध को रात्रि के १० बज कर १ मिनट पर एकादशी प्रारम्भ हुई थी और बृहस्पतिवार को .७० पर समाप्त हुई। इस पुस्तक से तुलसी दास और नन्ददास के कुटुम्ब पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इसकी पुष्पिका इस प्रकार है :—

"लेखक पाठकयोः शुभं भूयात् ॥ सवत् १८७० मिती कातिक बदी ११ एकादसी बुध वासरे ॥ लिषितं शिवसहाय कायस्थ सोरों मध्ये ॥ श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥"

मुरलीधर चतुर्वेदी के हाथ को एक प्रति (खण्डित) इस पुस्तक की और मिली है जिसकी पुष्पिका इस प्रकार है :—

इति···श्री भाषा शूकर क्षेत्र माहात्यं सम्पूर्णम् सम्वत् १८०८ लिखितम् च० मुरलीधरेण।

६। प्रियादास-रचित "भक्तिरसबोधिनी" पर सेवादास की टीका। भक्तिरसबोधिनी भी नाभादासकृत भक्तमाल की टीका है। सेवादास ने अपनी टीका सं० १८९४ वि० अगहन सुदी १० बृहस्पतिवार (बृहस्पतिवार ७ दिसम्बर १८३७ ई०) को लिखी थी। इससे तुलसीदास रत्नावली और नन्ददास पर कुछ प्रकाश पड़ता है और इसमें रत्नावली के पिता के निवासस्थान बदरी का एवं सूकरखेत का भी उल्लेख मिलता है। भक्तमाल की टीका करते समय प्रियादास ने तुलसीदास जी के सम्बन्ध में लिखा है :—

तिया सो सनेह बिन पूछे पिता गेह गई,
निसा

भूली सुधि देह भजे वाही ठौर आए हैं।

इस पद्यांश में 'वाही ठौर' पद की विशद व्याख्या करते समय सेवादास जी ने जो छन्द लिखा है वह इस प्रकार है :—

सूनो लखि गेह उमग्यो तिय सनेह जिय
रत्नावलि दर्श हेतु नैन अकुलाये हैं।

भादौं की अरध राति चंचला चमकि जाति
मद मंद बिंदु परैं घोर घन छाये हैं॥

ऐसे में तुलसी पेत सूकर सों मोद भरे
चपल चाल चलत जात गंगधार धाये हैं।

शव पै सवार ह्वै गंगधार पार करी
बदरी ससुरारि जाय पौरिया जगाये हैं॥ (पृष्ठ १६३)

इसकी पुष्पिका इस प्रकार है :—

"समत् साल लिष्यते॥ अगहन सुक्ला दसमी वार बृहस्पति जांनि, समत १८ सै लिषै साल चौराणव मांनि १ श्री हरी पुरसस्यांम जी म्हाराजि की कृपा प्रसाद है।"

७। नन्ददासकृत भ्रमरगीत के दो पृष्ठ। इनकी प्रतिकृति बालकृष्ण ने नन्ददास के पुत्र अपने गुरु कृष्णदास की प्रेरणा से सोरों में माघ कृष्ण सोमवार के दिन सं० १६७२ में तीज को (सोमवार ६ फ़रवरी १६१५ ई०) की थी। इससे गोस्वामी तुलसीदास जी के वंश पर प्रकाश पड़ता है और यह पता चलता है कि उनका गोत्र भारद्वाज तथा शासन 'शुक्ल' था। वे सनाढ्य ब्राह्मण थे और रामायण के रचयिता थे। ये पृष्ठ बहुत कुछ जीर्ण-शीर्ण और भगुर हैं। पुष्पिका इस प्रकार है :—

"···· भ्रमर गीत सम्पुरनम्······त नन्ददास भ्राता तुलसीदास को स्याम सर वासी सोरों जी मध्ये लिखित कृष्णदास सिष्य बालकृष्ण आज्ञानुसार गुरु कृष्णदास बेटा नन्ददास नाती जीवाराम के शुक्ल स्यामपुरी सनाढ्य······रद्वाज गोती सच्चिदानंद के बेटा आत्माराम······के बेटा रामायन के करता तुलसीदास दूजे······टा नन्ददास चन्द्रहास तिनके बेटा कृष्णदा······स के बेटा व्रजचंद पोथी लिखी माघ······जी चंद्र वार सम्वत् १६७२ शुभम्।"

८। वर्षफल। इस पुस्तक को कृष्णदास ने विक्रमी सं० १६५७ नभमास कृष्णपक्ष की त्रयोदशी शनिवार (जून सन् १६०० ई०) को लिखकर समाप्त किया था एवं सं० १८७२ वि० मार्गशीर्ष कृष्णा ३ गुरुवार (कार्तिकादि गणनानुसार, बृहस्पतिवार २९ दिसम्बर १८१४ ई०) को किसी व्यक्ति ने बदायूँ प्रान्त के सहसवान उपनगर में इसकी प्रतिलिपि की थी। यह फलित ज्योतिष की एक छोटी सी पुस्तक है जिसको ग्रन्थकर्ता ने अपने विद्वान् पितृव्य चन्द्रहास की इच्छा से लिखा था। पुस्तक समाप्त करने के पूर्व ग्रन्थकर्ता ने अपने वंश का थोड़ा सा सङ्केत दिया है कि "मैं नन्ददास का पुत्र हूँ जो जीवाराम शुक्ल ब्राह्मण के पुत्र थे और मेरे पिता नन्ददास ने अपने ग्राम का नाम रामपुर से बदल कर स्यामपुर रख लिया था" और उन्होंने दुःख के साथ इसका भी वर्णन किया है कि रत्नावली की जन्मभूमि

बदरी को गङ्गा जी ने बहाकर नष्ट कर दिया था। यह बाढ़ सं० १६५७ वि० आषाढ़ मास के अन्त में आई थी। इस पुस्तक की पुष्पिका इस प्रकार है :—

"इति श्री कवि कृष्णदास विरचितम भाषा वर्षफलम् सम्पूर्णम् संवत् १८७२ मार्गसिर कृष्ण तृतियां ३ गुरवासरे सहसवान नगरे ॥ शुभम् ॥ शुभम् ।"

हस्तलिपियां नं० ५ और ७ जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, गोस्वामी तुलसीदास, नन्ददास और कृष्णदास की वंशावली का वर्णन करती हैं। पहली तो नारायण शुक्ल से, और पिछली सच्चिदानन्द से नीचे की ओर चलती है जैसा कि निम्न वंशावली वृक्ष से प्रकट है :—
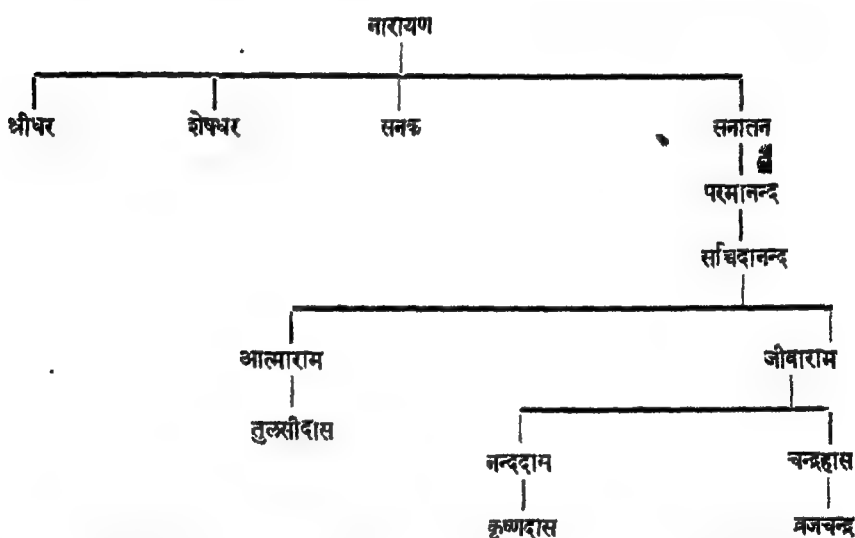
इन गवेषणाओं एवं वर्त्तमान प्रकाशित कुछ साहित्य के प्रकाश में विषय के सिंहावलोकन से रत्नावली की जीवनी और उसके पति गोस्वामी तुलसीदास का प्रारम्भिक जीवन इस प्रकार है :—

तुलसीदास के पूर्व पुरुष रामपुर में रहते थे जिनका नाम पीछे से नन्ददास ने श्यामपुर रख दिया था। यह ग्राम एटा जिले में सोरों से प्रायः दो मील पूर्व की ओर स्थित है। कतिपय विशेष परिस्थितियों के कारण इनके पिता प० आत्माराम शुक्ल सनाढ्य ब्राह्मण भारद्वाज गोत्रीय को अपनी वृद्धा माता और पत्नी के साथ सोरों के योग-मार्ग मुहल्ले में जाना पड़ा। परन्तु उनके भाई उसी गाँव में रहने लगे। तुलसीदास के जन्म के कुछ ही दिन बाद इनकी माता का देहान्त हो गया था और कुछ काल के अनन्तर पिता का भी। अतः उनकी रक्षा का भार उनकी बुढ़िया दादी के कन्धों पर आ पड़ा।

बचपन में तुलसीदास राम-नाम का उच्चारण करते थे इसलिये इनका नाम रामबोला

या रामोला प्रसिद्ध हो गया। यह अभी निरे बालक ही थे कि इनके पितृव्य जीवाराम भी अपने पीछे दो पुत्रों को छोड़कर स्वर्गवासी हो गये। इनमें से बड़े नन्ददास भगवान् कृष्ण के भक्त एवं ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि थे। इनके पुत्र थे कृष्णदास और पत्नी थीं कमला। जीवाराम के छोटे पुत्र चन्द्रहास थे। इसमें सन्देह नहीं कि आर्थिक कठिनाइयों के कारण सब लोग महादुःखी थे। तुलसी और नन्द दोनों नृसिंह जी की प्रेमपूर्ण देखरेख में पढ़ते रहे जिनकी पाठशाला अब तक सोरों में गिरी हुई दशा में विद्यमान है१५ और जिनको तुलसीदास ने नतमस्तक होकर निज रचित रामायण में प्रणामांजलि समर्पित की है।

तुलसी हृष्ट-पुष्ट, स्वस्थ, रूपवान और सदाचारी बालक था। बड़ा होकर वह विविध विद्याओं का पारदर्शी विद्वान् बन गया, अतः पं० दीनबंधु पाठक और उनकी भार्या दयावती ने सं० १५८९ वि० में अपनी पुत्री रत्नावली का विवाह १२ वर्ष की अवस्था में और गौना १६ वर्ष में इसके साथ कर दिया१६। रत्नावली का जन्म सं० १५७७ वि० में होना संगत है। यह बड़ी सुन्दरी, धर्मात्मा, प्रतिभासम्पन्ना और विदुषी थी। पं० दीनबंधु बदरी के रहने वाले थे। यही रत्नावली की जन्मभूमि थी। यह सोरों के सामने बसी है। बीच में गंगा जी बह रही हैं। एक बार यह जलमग्न हो गई थी किन्तु फिर बसाई गई और बदरिया के नाम से अब तक चल रही है, परन्तु गंगा नदी ने अपना पुराना मार्ग छोड़ कर सूक्ष्माकार ग्रहण कर लिया है जो मानवीय कृत्रिम साधनों का फल स्वरूप है और सादृश्य में हरिद्वार को हर की पैंगी से कुछ कुछ मिलता जुलता है। सर्वप्रिय रत्नावली ने सेवा द्वारा अपनी सास को प्रेम के वशीभूत कर लिया था परन्तु कुछ ही काल के अनन्तर उसकी सास ने अपनी मानवलीला का संवरण कर लिया था। तुलसी जी पुराणों की कथा बांच कर अपना आजीविका-व्यवसाय करते थे इससे उनको अच्छी ख्याति हो गई थी। जायापती के तारापति नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ था जो अधिक दिन जीवित न रहा इससे पति-पत्नी को अत्यन्त दुःख हुआ। विवाह के १५ वर्ष बाद अर्थात् उस समय जब कि रत्नावली ने अपने वय के २७वें वर्ष में प्रवेश किया था ऐसी घटना हुई कि रत्नावली को रक्षाबंधन के लिये स्वामी की आज्ञा लेकर अपने भाई के यहाँ बदरी जाना पड़ा। तुलसी भी उन दिनों जीविकार्थ बाहर गये हुए थे। किन्तु घर लौटने पर उनको अकेला रहना बहुत ही अखरा और इस आवेग में आगा पीछा कुछ न विचार कर वे रात्रि में गंगाजी के बढ़ते प्रवाह को पार कर अपने श्वशुर के घर जा पहुँचे। अपने पति को ऐसे कुसमय में आये देख आश्चर्य-चकित होकर रत्नावली ने

---

१५ गत वर्ष अधिकारियों ने इसमें पलस्तर आदि द्वारा कुछ परिवर्त्तन कर दिया है। किन्तु उससे कुछ समय पूर्व का चित्र विद्यमान है।

१६ बैस बारहीं कर गह्यो सोरहिं गवन कराइ।
सुसाइस सागस करी नाथ रतन चसाइ॥

पूछा 'स्वामिन्! आप गंगाजी के बहते प्रवाह को कैसे पार कर आये'? फिर यह जानकर कि मेरे प्रति प्रेमावेग ही के कारण इन्होंने ऐसा साहस किया है उसने केवल यही कहा—'स्वामिन् मुझको आपके दर्शन से परमाह्लाद हुआ है। मेरा सौभाग्य है जो आप मेरे साथ इतना प्रेम करते हैं। मेरे प्रति आपके इस प्रेम ने आपको गंगा पार करने के लिये उत्तेजित किया है। इससे निश्चय होता है कि भगवत्प्रेम भक्त को अवश्य इस संसार सागर से पार कर देगा'।

घटना-चक्र को कौन रोक सकता है? तुलसीदास के चित्त ने अकस्मात् ही पल्टा खाया। वह दाम्पत्य प्रेम तत्क्षण ही भगवद्भक्ति में परिणत हो गया। अतः वे उसी समय बदरी से चले गये, सोरों को भी त्याग गये। इस प्रकार१७ सं० १६०४ वि० में वे परिव्राजक बन कर घर से निकल पड़े। बहुत कुछ खोज हुई, परन्तु उनका कहीं पता न चला। उसी वर्ष रत्नावली को माता का भी देहान्त हो गया। तदनन्तर पतिपरायणा, परित्यक्ता रत्नावली ने भोगों का परित्याग कर दिया। वह प्रत्येक वैषयिक सुख का त्याग कर सन्यासिनी का जीवन बिताती रही और सं० १६५१ वि० के अन्त१८ में इस दुःख पूर्ण संसार से चल बसी। वह नारी जाति के लिये अपने पवित्र २०१ दोहों को प्रदान कर गई है। ये दोहे पश्चात्तापपूर्ण हैं। इनमें उत्तमोत्तम शिक्षाप्रद, उपदेश और नीतियाँ भरी पड़ी हैं। इसके छः वर्ष उपरान्त अर्थात् स० १६५७ वि० के आषाढ़ में१९ उसकी जन्मभूमि बदरी स्वयं ही गंगाजी के सर्वसंहारी जलाप्लावन में बह कर नष्ट हो गई।

लेख्य प्रमाण अब समाप्त होता है। तुलसी ने जैसा कि प्राचीन रूढ़ि-वाद से विदित होता है, बदरी से चलकर दूर २ देशों की यात्रा की थी। कभी २ उन्होंने लोकोत्तर चमत्कारी कार्य भी किये थे। वे चित्रकूट और अयोध्या में रहे, उन्होंने राजापुर की स्थापना की२० और अन्त में बनारस जाकर स्थायी

---

१७ सागर चरस ससी रतन संवत भो दुखदाइ।
पिय वियोग जननी मरन करन न भूल्यो जाइ॥
(दोहा रत्नावली)

१८ रत्नावली-चरित— "भू शर रस भू बरस पूरि स्वर्ग गई लहि सुजस भूरि"

१९ वर्षफल— सोरह सौ सत्तावनि विक्रम के माझ भई।
अति कोप दृष्टि विश्व के विधाता की॥
बीतत अषाढ़ बाढ़ आइ बढ़ि देव धुनी।
बूड़ी जब जन्मभूमि रत्नावलि माता की॥

२० "जन्मस्थान भी लोग कई ठिकाने लिखते हैं, बांदा जिले में यमुना तीर राजापुर को बहुत लोग कहते हैं परन्तु राजापुर आप का जन्मस्थान नहीं है। श्री गोस्वामी जी का जन्मस्थान श्री गङ्गा वाराहक्षेत्र (सोरों) के प्रान्त में था। आपने राजापुर में विरक्त होने के पीछे निवास कर भजन किया है इसी से वहां श्री

रूप से बस गये जहां उन्होंने सं० १६८० के श्रावण के शुक्ल पक्ष की सप्तमी को कुछ रुग्ण रह कर सदा के लिये अन्तिम समाधि लेकर भगवत्सान्निध्य लाभ किया। किन्तु गोस्वामी तुलसीदास जी और उनकी प्रियतमा रत्नावली अब तक हमारे हृदयों में जीवित हैं।

गोस्वामी जी के विराजमान की हुई सङ्कटमोचन श्री हनुमान जी की मूर्ति है। यह वार्त्ता वहां जा के मैंने भली प्रकार निश्चय की है। राजापुर में श्री गोस्वामी जी आज्ञा कर गये हैं कि देव-मन्दिर छोड़ अपने रहने को पक्का गृह कोई न बनावे ऊपर खपड़े ही छवावें और वेश्या नहीं नचावे · ·"इत्यादि।

श्री अयोध्या जी प्रमोद वन कुटिया निवासी सीताराम शरण भगवान प्रसाद विरचित श्री भक्तमाल सटीक वार्त्तिक प्रकाश युक्त पृष्ठ ७४१ (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ) १९१३ ई०।

"पर जन्म कहां हुआ? कुछ लोग बतलाते हैं कि राजापुर उनकी जन्मभूमि है। पर इस बात के विरुद्ध और लोग कहते हैं कि नहीं उनका जन्म वहां नहीं हुआ। पर गुसाईं ने वहां एक मन्दिर बनवाया या गांव बसाया। फिर हस्तिनापुर उनकी जन्मभूमि बतलाई गई और हाजीपुर भी (जो चित्रकूट के पास है) पर इन बातों का कुछ प्रमाण नहीं है। फिर औरों ने कहा कि वे तारी में जन्मे, पर दूसरे लोग कहते हैं कि नहीं उनके माता-पिता वहां रहते थे, पर यह तुलसीदास के उत्पन्न होने के पहले था। इन सब बातों से अनुमान होता है कि अबलों ठीक ठीक निर्णय नहीं हुआ कि तुलसीदास का जन्म कहां हुआ।"

रेवरेण्ड एडविन् ग्रीव्ज़, (तुलसी ग्रन्थावली—निबन्धावली पृष्ठ ४५)

"जन्मस्थान के संबंध में भी अभी तक ठीक निर्णय नहीं हुआ। राजापुर तथा तारी के बीच झगड़ा है। यद्यपि राजापुर में आप का स्मारक निर्मित हुआ है तथापि वहीं के कुछ वृद्ध लोग कहते हैं कि वह गोसाईं जी का जन्मस्थान नहीं है। विरक्त होने पर वह कुछ दिन वहां रहे अवश्य थे, और प्रायः जाया करते थे।"

शिवनन्दन सहाय (माधुरी पृष्ठ २४, अगस्त १९२३)

"श्री तुलसी स्मारक सभा, राजापुर के एक अधिकारी से जब इसी जन्मस्थान के विषय में पत्र व्यवहार किया था, तो उत्तर में उन्होंने 'प्राइवेट' शब्द के साथ इस बात को स्वीकार किया है कि गोस्वामी जी का जन्मस्थान सोरों या उसी के आस-पास कहीं होना चाहिये।"

गोविन्दवल्लभ भट्ट (माधुरी १९२९ ई०)

उपनिषदों के विषय में शाहज़ादा दारा शिकोह के विचार

पं० अयोध्या प्रसाद, बी० ए०

(पूर्वानुवृत्ति)

अर्थात्—कुरान शरीफ़ एक पुस्तक है और वह पुस्तक गुप्त है। उसका ज्ञान उसी को होता है जिसका हृदय पवित्र हो और वह पुस्तक संसार के पालनकर्ता ईश्वर की ओर से प्रकट हुई है। कुरान शरीफ़ के उपर्युक्त पंक्तियों में कुरान के विषय में तीन बातों का उल्लेख किया गया है अर्थात्—(१) कुरान शरीफ़ किसी अन्य पुस्तक में विद्यमान है और वह पुस्तक गुप्त है (२) उस पुस्तक को जिसमें कुरान शरीफ विद्यमान है कोई नहीं समझ सकता, हां जिनका हृदय पवित्र है वे ही उस पुस्तक को समझ सकते हैं (३) और वह मौलिक पुस्तक किसी मनुष्य द्वारा नहीं रची गई है बल्कि वह स्वयं जगत के पालनकर्त्ता परमात्मा की ओर से उतारी गई है।

कुरान की इन पंक्तियों के भाष्य करने में मुसल्मान मौलवी कठिनाई में पड़ जाते हैं और इस बात के उत्तर में भी कि वह मौलिक पुस्तक कौन सी है जिसमें कुरान शरीफ़ विद्यमान है ? साधारणतया मौलवी कहते हैं कि वह मौलिक पुस्तक तौरेत, इञ्जील वा ज़बूर है जिसे अंगरेजी में बाइबल (Bible) कहते हैं। पर वर्त्तमान बाइबल में कुरान का विद्यमान होना सिद्ध नहीं होता। इस पर मौलवी कहते हैं कि वर्त्तमान बाइबल असली बाइबल नहीं—असली बाइबल लुप्त हो गई है। यह उक्ति कहां तक ठीक है यह विचारणीय है। अधिकतर कुरान शरीफ के भाष्यकर्ता मौलवी ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि सातवें आकाश पर जहां अर्शमोअला है जो अल्लाह का सिंहासन है वहां पर एक तख़्ती है जिसका नाम "लोहे महफ़ूज़" अर्थात् सुरक्षित तख़्ती है उसमें कुरान शरीफ़ अङ्कित है। यह बात भी कहां तक ठीक है कहा नहीं जा सकता पर शाहज़ादा दारा शिकोह उपर्युक्त किसी भी विचार से सहमत नहीं हैं क्योंकि इनमें कोई भी युक्ति युक्त तथा बुद्धि के अनुकूल नहीं है। शाहज़ादा दारा साहेब का अपना मत है कि कुरान शरीफ़ की उक्त पंक्तियां वेद वा उपनिषद् के विषय में हैं जैसा कि उपर्युक्त पंक्तियों को उद्धृत करते हुए वे लिखते हैं :—

ظاهر میشود کہ ایں آیت بعینہ در حق ایں کتاب قدیم است ۔

अर्थात्—ऐसा प्रकट है कि कुरान शरीफ़ की ये पंक्तियां इसी ही अनादि पुस्तक (वेद वा उपनिषद्) के विषय में हैं।

و معلوم میشود که این آیت در حق زبور و توریت و انجیل نیست بلکه
از لفظ تنزیل چنین ظاهر میگردد که در حق لوح محفوظ هم نیست -

अर्थात्—ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह आयत (कुरान शरीफ़ की उपर्युक्त पंक्तियां ज़बूर, तौरेत और इंजील अर्थात् बाइबल) के सम्बन्ध में भी नहीं है बल्क تنزیل (उतरी हुई) इस शब्द से ऐसा प्रकट होता है कि ये पंक्तियां लोहे महफ़ूज़ (सुरक्षित तख्ती) के सम्बन्ध में भी नहीं है ।

उपर्युक्त दोनों मतों का निराकरण करते हुए शाहज़ादा दारा शिकोह अपने इस मत की पुष्टि में कि कुरान शरीफ़ का मूल स्रोत वेद वा उपनिषद् हैं यह युक्ति देते हैं :—

چون اپنکهت که سرّ پوشیدنی ست اصل این کتاب است و آیت
هائے قرآن مجید بعینه در آن یافته میشود پس به تحقیق که کتاب مکنون این
کتاب قدیم باشد و ازین فقیر را نا دانستها دانسته و نافهمیده فهمیده شد -

अर्थात्—और चूं कि उपनिषद् गुप्त रहस्य है इसलिये इस किताब (अर्थात् कुरान शरीफ़) का मूल स्रोत है और कुरान शरीफ की आयतें (पंक्तियां) ज्यों की त्यों उनमें पाई जाती हैं अतः निश्चित है कि کتاب مکنون अर्थात् गुप्त पुस्तक यही प्राचीन पुस्तक (अर्थात् उपनिषद्) है और इसी उपनिषद् से इस सेवक को (अर्थात् मुझ दारा शिकोह को) अज्ञात बातें ज्ञात हुईं और जो बातें समझ में नहीं आती थीं वे समझ में आ गईं ।

एक मुसलमान होते हुए और कुरान शरीफ़ को ईश्वरीय पुस्तक स्वीकार करते हुए शाहज़ादा साहेब ने उपनिषदों के विषय में कितना उदार विचार प्रकट किया है, सम्भव है कि इसी प्रकार के विचारों के कारण औरंगज़ेब ने (उनके छोटे भाई) उन पर कुफ़् का फ़तवा लगाया था और शाहज़ादा साहेब को उसका परिणाम भोगना पड़ा अर्थात् औरंगज़ेब से युद्ध में परास्त होने पर वे क़त्ल कर दिये गये पर इस संसार में वे अपनी कीर्त्ति सदा के लिये छोड़ गये हैं । उपनिषद् के स्वाध्याय का महत्त्व उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त कर अपने अनुवाद की भूमिका समाप्त की है :—

سعادتمندے که عرض نفس شوم گذاشته خالصاً بوجه الله این ترجمه

را که بر سرّ اکبر موسوم گشته ترجمه کلام الہی دانسته ترک تعصّب نموده بخواند و بفهمد بے زوال و بے خوف و بے اندوه و رستگار موئد خواهد شد -

अर्थात्—जो सौभाग्यशाली पुरुष अपने दूषित मन के स्वार्थ को परित्याग कर केवलमात्र परमात्मा ही के लिये इस अनुवाद को जो कि 'سرّ اکبر' 'महान् रहस्य' के नाम से प्रसिद्ध है 'ईश्वरीय वाणी' का अनुवाद समझ कर और हृदय से पक्षपात हटा कर पढ़ेगा और समझेगा वह अजर, अभय और दुःखरहित होकर सदा के लिये मुक्त हो जायगा।

प्राचीन भारत के प्राकृत और संस्कृत लेख

डा० डी० आर० भण्डारकर, एम० ए०, पी-एच० डी०, एफ० आर० ए० एस० बी०

प्राचीन भारत के लेख कई प्रकार के हैं। कुछ धातुओं पर खुदे हैं, कुछ पत्थर पर और कुछ अन्य चीज़ों पर। धातुओं में केवल तांबे, पीतल, कसकुट और लोहे पर ही नहीं, किन्तु सोने और चांदी की चीज़ों पर भी बहुत से लेख खुदे हुए मिले हैं। आज तक जितने लेख मिले हैं उनमें अधिकतर ताम्रपत्र ही हैं जो भिन्न भिन्न नाप के हैं। इन ताम्रपत्रों में अधिकतर महाराजा, राजा, प्रांतीय क्षत्रप अथवा गवर्नर और अन्य बड़े बड़े पदाधिकारियों के दानों का उल्लेख है। इन उच्च पदाधिकारियों को राज्यकोष राज्यभूमि में से दान देने का अधिकार था। वास्तव में इस प्रकार के दानपत्र वर्त्तमान पट्टे का काम देते थे, और ये दिये गये लोगों के पास रहते थे। उस समय ये 'ताम्रपत्तिका' अथवा 'ताम्रशासन' कहलाते थे। इन लेखों में अधिकतर वंशावलियों का उल्लेख है। यह वंशावली दान देने वालों अथवा दान लेने वालों की होती थी और इसके अतिरिक्त इन लेखों में उस समय की मुख्य मुख्य बातें, जैसे दानी की कीर्त्ति और उदारता और दान लेने वाले की प्रसिद्धि आदि का उल्लेख मिलता है। इन लेखों से प्राचीन भारत के इतिहास का पता चलता है।

ताम्रपत्र की भांति शिला-लेख भी कई प्रकार के पत्थरों पर खुदे हुए हैं। उनमें से अधिकतर चट्टानों, स्तम्भों और गुफाओं पर खुदे मिलते हैं। चट्टानों और स्तम्भों के शिला-लेखों में सम्राट् अशोक के लेख सबसे प्रसिद्ध हैं। अशोक के चट्टानों पर लिखे लेख उसकी राज्यसीमा पर स्थित स्थानों में पाये गये हैं। इन शिला-लेखों में अशोक के दो प्रकार के लेख हैं जिनमें प्रथम चौदह लेख प्रसिद्ध हैं। इनमें गिरनार की चट्टान पर लिखा हुआ लेख सब शिला-लेखों में प्रमुख है। अशोक के लेखों के अतिरिक्त इस चट्टान पर महाक्षत्रप रुद्रदामन का सन् १५० का लेख, और गुप्त राजा स्कन्दगुप्त के सन् ४५४ और ४५७ के लेख भी हैं। इन दोनों में एक बड़े तालाब के बनवाने का वर्णन है। यह तालाब महाराज चन्द्रगुप्त के समय में बनाया और बढ़ाया गया था और वर्षा की अधिकता से बांध टूट जाने के कारण इसकी दो बार मरम्मत भी हुई थी। स्तम्भ लेखों में महाराज अशोक का सप्तस्तम्भ लेख प्रमुख और प्रसिद्ध है।

गुफा में खुदे लेखों में सबसे पुराने लेख बिहार के गया जिले में नागार्जुनी पहाड़ियों की गुफा के हैं। इनमें उन गुफाओं के दान का वर्णन है जो महाराज अशोक और उनके पौत्र दशरथ ने आजीवक साधुओं को दिया था। इसके बाद हाथी गुम्फा है जो उड़ीसा के कटक जिले में स्थित है। इसमें एक लेख है जिसमें महाराज खारवेल के पूर्ण चरित्र का उल्लेख है। इसमें उनके जन्म से लेकर राज्यकाल के तेरह वर्ष तक का पूर्ण रूप से वर्णन मिलता है। यह राजवंशावली के किसी ग्रन्थ से लिया हुआ प्रति दिन का वर्णन सा मालूम पड़ता है। इनके अतिरिक्त नासिक जुन्नर और कार्ली की गुफाओं में भी बहुत से महत्वपूर्ण शिला-लेख मिले हैं। ये लेख महाक्षत्रप अथवा वृहत् क्षत्रप नहपान क्षहरात और उसके दामाद उषवदात तथा गौतमी पुत्र शातकर्णि और उसके पुत्र वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी के समय के हैं और इनसे पश्चिमी भारत के ईसवी० सन् की पहली और दूसरी शताब्दी के राष्ट्रीय, सामाजिक और धार्मिक इतिहास का पता चलता है।

इन तीन प्रकार के लेखों के अतिरिक्त बिल्लौर और मिट्टी की चीजों पर भी लिखे लेख मिले हैं। मिट्टी कभी यों ही रख दी जाती थी जिससे कुछ दिनों में वह कड़ी हो जाती थी और कभी पका कर ईंटों की तरह बना ली जाती थी। बिहार में वैसाली अथवा आधुनिक मुजफ्फरपुर में खुदाई कर डाक्टर ब्लाच को सन् १९०३-४ में बहुत सी मिट्टी की मोहरें मिली हैं इनमें से गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय की स्त्री और गोविन्द गुप्त की माता ध्रुवस्वामिनी की मोहर सबसे मुख्य है। ये मोहरें साधारणजन, मन्दिर, गण और सस्थाओं के अतिरिक्त राज्यपदाधिकारियों की भी हैं। इनमें से कुछ मोहरों में लेख भी खुदे हुए हैं जिनसे पता चलता है कि वैसाली में ये निकाली गई थीं। वैसाली प्राचीन तिरभुक्ति में था जिसको आजकल तिरहुत कहते हैं।

ईसा के ४५० साल पहले दो लिपियों में लेख लिखे जाते थे—ब्राह्मी और खरोष्ठी।

ब्राह्मी वर्त्तमान हिन्दू लिपियों की तरह बाईं से दाहिनी ओर लिखी जाती थी किन्तु खरोष्ठी ईरानी और अरबी लिपि की भांति दाहिनी ओर से बाईं ओर लिखी जाती थी। ब्राह्मी समस्त भारत में प्रचलित थी किन्तु खरोष्ठी केवल गान्धार प्रदेश (आजकल के पूर्वी अफ़ग़ानिस्तान और उत्तर पश्चिमी पंजाब) में प्रचलित थी। आजकल की समस्त भारतीय लिपि जैसे देवनागरी, तामिल और तेलगु आदि और उनके अतिरिक्त बृहत्तर भारत की लिपियां जैसे तिब्बती, बर्मी और सिंहली ये सब ब्राह्मी से निकली हैं। खरोष्ठी लिपि केवल गान्धार प्रदेश में रही, पर वहां भी उसका स्थान ब्राह्मी ने ले लिया। ईसा की पांचवीं सदी के बाद खरोष्ठी लिपि का कोई लेख नहीं मिला। ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के विषय में कुछ विद्वानों का यह विचार है कि ईसा से ६-७ शताब्दी पूर्व की फिनीशियन लिपि से यह निकली है और इन सेमेटिक अक्षरों के आगमन के कारण प्राचीन द्रविड़ व्यापारी थे जिनके विषय में बौद्धजातकों में लिखा है कि वे बबेरु अर्थात् बेबिलोन तक व्यापार किया करते थे। इस मत पर समालोचना अवश्य की जा सकती है किन्तु खरोष्ठी लिपि की उत्पत्ति में लेशमात्र भी सदेह नहीं कि यह आरमैक अथवा सिरियक है जिसका फारस के सम्राट् हैसटसपेस के पुत्र डेरियस ने ईसा से ५ सदी पूर्व गान्धार की विजय के पश्चात् इस प्रदेश में प्रचार किया था। इन दोनों लिपियों में ब्राह्मी से पहले खरोष्ठी पढ़ी गई थी। सबसे प्रथम चार्ल्समेसन ने खरोष्ठी लिपि के अक्षरों को पढ़ने का प्रयत्न किया था। मेनन्दर अपोलोडोटस, बसीलिउस इत्यादि नाम और शब्दों को ही जो भारतीय-यूनानी (Indo-Greek) सिक्कों पर मिले केवल वह पढ़ सका, सम्पूर्ण अक्षरों का ज्ञान सबसे प्रथम जेम्स प्रिन्सिप नामक कलकत्ता-टकसाल के बड़े साहब को हुआ था। यह ज्ञान उसे इन्डोबैकट्रियन सिक्कों द्वारा हुआ था जिनमें एक ओर ग्रीक भाषा में और दूसरी ओर उसी तरह खरोष्ठी लिपि में लेख रहता है। इसलिये खरोष्ठी अक्षरों का रूप उसे सहज ही मालूम पड़ गया। यदि मिश्र देश के विद्वानों को चम्पोलिओन पर गर्व है, जिसने सबसे पहले रोसेटा के पत्थर की मदद से (जिस पर एक ओर ग्रीक में और दूसरी ओर Hieroglyphic अर्थात् चित्रलिपि में लेख था), मिश्र की प्राचीन चित्रलिपि का ज्ञान प्राप्त किया था, तो भारत के ऐतिहासिकों को मेसन और प्रिन्सिप पर गर्व है जिन्होंने उसी प्रकार खरोष्ठी लिपि का ज्ञान प्राप्त किया था। पर इससे अधिक गर्व की बात भारतीय-ऐतिहासिकों के लिये क्या होगी कि उसी जेम्स प्रिन्सिप ने महाराज अशोक के तथा पश्चिमी क्षत्रपों के सिक्कों के ब्राह्मी लिपि को जिसको सर विलियम जोन्स के समय से कोई नहीं पढ़ सका किसी प्रकार की बाह्य सहायता के बिना ही बहुत कुछ पढ़ लिया था। इस लिपि के रहस्य का पता लगाते समय उसे कितनी प्रसन्नता हुई थी इसका पता उसके कुछ पत्रों से लगता है जो उसने अपने मित्र जनरल कनिंघम को लिखा था। सौभाग्य वश उनमें से कुछ कनिंघम साहब ने छपवा दिये जो अब भी एक कहानी की तरह रोचक हैं।

इन लेखों की भाषा के विषय में इतना कहना आवश्यक है कि चाहे यह विस्मयजनक भले ही

प्रतीत हो पर लेख जितने ही अधिक प्राचीन हैं उतनी ही अधिक सम्भावना उनके संस्कृत भाषा में होने के बजाय प्राकृत भाषा में लिखे होने की हैं। यह प्राकृत बौद्ध धार्मिक पुस्तकों की पाली भाषा से बहुत कुछ मिलती जुलती है। सबसे प्राचीन महाराज अशोक के प्रसिद्ध लेख हैं जो तीन मुख्य भाषाओं में लिखे हुए है :—

१। राज्य भाषा में जो उस समय मगध और पाटलिपुत्र के दरबार की भाषा थी और जो मध्यदेश और कलिंग देश में पूर्णतया प्रचलित थी।

२। उत्तरापथ की भाषा जो शहबाजगढ़ी और मानसेरा के लेखों में मिलती है।

३। दक्षिणापथ की भाषा जो केवल गिरनार के लेख में मिलती है। लेकिन महाराज अशोक की मृत्यु के पश्चात् यह दशा बिलकुल बदल गई। मौर्य्य साम्राज्य के उत्थान के कारण संपूर्ण भारत एक छत्र के नीचे आ गया था और प्रान्तिक मतभेद दूर होकर भारत के कोने २ में पारस्परिक व्यवहार और ससर्ग बढ़ गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि महाराज अशोक की मृत्यु के पश्चात् एक सार्वजनिक भाषा की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस आवश्यकता के फलस्वरूप प्राकृत भाषा का जन्म हुआ जो महाराष्ट्री की पूर्वज थी और जिसमें ईसा के १५० वर्ष पूर्व से लेकर २५० वर्ष बाद तक के लेख मिलते हैं। यह लेख गुजरात और कृष्णा नदी के मुहाने पर स्थित पश्चिमी तट पर अमरावती खोहों से लेकर पूर्व में उड़ीसा की खडगिरि गुफा तक, और मध्यभारत के सांची और भड़ौंच से लेकर बम्बई प्रदेश के सुदूर दक्षिण में बनवासी और मद्रास प्रदेश के कांची अथवा आधुनिक कांजीवराम तक फैले हुए हैं। इस काल के केवल तीन लेख संस्कृत में मिले हैं। गुप्त राजाओं के उत्थान से इस भाषा ने अपना पूर्णतया आधिपत्य स्थापित कर लिया और यह बोलचाल की भाषा हो गई।

प्राचीन भारत के इतिहास के लिये लेखों की आवश्यकता बहुत अधिक है। उदाहरण के लिये महात्मा बुद्ध के जन्मस्थान का बहुत दिनों तक पता नहीं चला था। बौद्ध ग्रन्थों से पता चलता है कि जब उनकी माता अपने पति महाराजा शुद्धोधन की राजधानी कपिलवस्तु से अपने पिता के घर देवदह को जा रही थीं तब लुम्बिनी वन में शाल वृक्ष के नीचे उनका जन्म हुआ था। पर यह लुम्बिनी वन कहां है? यद्यपि इस लुम्बिनी वन का चीनी यात्री फाह्यान और हुएन्तसांग ने कुछ वर्णन किया है जिसके आधार कर जनरल कनिंघम और उनके साथियों ने इस स्थान को ढूढ़ने का उद्योग किया था किन्तु इसमें सफलता न प्राप्त हुई। संसार को यह मालूम न हो सका कि बुद्धजी का जन्म-स्थान कहां था। दिसम्बर सन् १८९६ में डाक्टर फ्यूहरर को नेपाल की तराई में बूतौल जिले की भगवानपुर तहसील से तीन मील उत्तर की ओर पदेरिआ नामक गांव में एक पत्थर का स्तम्भ मिला। उस पत्थर के स्तम्भ को पाकर वह लेख मिलने की आशा से वहां खुदाई करने लगा। कोई तीन ही फुट की गहराई पर उसे पत्थर के स्तम्भ पर खुदा हुआ लेख मिला। इस लेख से पता चलता है कि अपने राज्याभिषेक के बीस वर्ष पश्चात्

महाराज अशोक ने इस स्थान पर आकर पूजा की थी और उन्होंने लुम्बिनी गांव का संपूर्ण कर क्षमा कर दिया था क्योंकि यहीं पर भगवान बुद्धजी पैदा हुए थे। यह स्थान आजकल रुम्मिन्दे कहलाता है। इस शब्द का अग्र भाग अर्थात् 'रुम्मिन' लुम्बिनी से समानता रखता है। इससे यह पता चलता है कि किस प्रकार बुद्धजी का जन्म स्थान केवल लेख द्वारा ही विदित हो सका यद्यपि बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों और चीनी यात्रियों ने भी इस स्थान के विषय में लिखा है किन्तु इन दोनों से इसका पता न चल सका।

इस प्रकार जब किसी स्थान का पता लगाने में शिलालेख ने इतनी सहायता की है तब और दूसरे विषयों में जैसे प्राचीन भारत का राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक इतिहास लिखने में इन लेखों से कितनी अधिक सहायता मिल सकती है? प्राचीन भारतीय इतिहास सम्बन्धी पुस्तकों में केवल तीन पुस्तकें 'ऐतिहासिक पुस्तक' कहलाने योग्य हैं जिनका उल्लेख बम्बई गज़ेटियर (Bombay Gazetteer) की पहली जिल्द प्रथम और द्वितीय भागों में है। ये पुस्तकें निम्नलिखित हैं:—

१। Early History of Gujrat—गुजरात का प्रारम्भिक इतिहास—पं० भगवान लाल इन्द्रजी।

२। Early History of the Dekkan—दक्षिण का प्रारम्भिक इतिहास—सर रामकृष्ण भण्डारकर।

३। The Dynasties of the Kanarese District etc.—कनाड़ी राज्यवंश इत्यादि—जे० एफ० फ्लीट।

इन तीनों पुस्तकों में किसी एक को खोलकर यदि कोई कुछ पृष्ठ पढ़े तो उसे मालूम होगा कि उसमें कितनी सामग्री केवल लेखों द्वारा ही एकत्रित की गई है, यद्यपि मुद्राओं से भी काफी सहायता मिली है किन्तु भारत के प्राचीन इतिहास में लेखों का महत्त्व बहुत है। लेखों द्वारा राष्ट्रों की राजनैतिक अवस्था का भी पता चलता है। अब हमें देखना है कि अशोक के शिला-लेखों से इन बातों पर कैसा प्रकाश पड़ता है। अशोक के शिला-लेखों की यह विशेषता है कि वे उसकी राज्य की सीमा पर स्थित हैं। दो उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रान्त के शहबाज़गढ़ी और मान्सेरा में, एक संयुक्तप्रान्त में देहरादून जिले के कालसी नामक स्थान में, एक काठियावाड़ के जूनागढ़ राज्य के गिरनार नामक स्थान में, एक बम्बई प्रान्त के थाना ज़िले के सोपारा नामक स्थान में, दो उड़ीसा प्रान्त के धौली और जौगढ़ नामक स्थान में, तीन मैसूर के चीतलद्रुग जिले में, तथा एक कुरनूल ज़िले के येरगुडि में मिले हैं। इनसे उसकी राज्य की सीमा का पता चलता है। यह इससे भी प्रमाणित है कि उस समय चोड़, पाण्ड्य, केरलपुत्र और सातियपुत्र ही केवल स्वतन्त्र राज्य थे। इनका राज्य मद्रास प्रदेश के नीचे समुद्र तट पर था। इसलिये अशोक करीब २ सम्पूर्ण भारत का राजा था। उसने अपने लेखों में इन

पांच ग्रीक राजाओं का उल्लेख किया है जिनके राज्य भारत से बाहर थे और जिनके दरबार में उसने राजदूत भेजा था, वे नीचे दिये जाते हैं :—

१। सीरिया का अंतीओकस द्वितीय थिआस।

२। मिश्र का टाल्मी द्वितीय फिलाडेल्फस।

३। यूनान का अंतीगोनस गोनतस।

४। साइरीन का मेगस, और

५। एपीरस अथवा कोरिन्थ का सिकन्दर।

सभ्य संसार की यूनानी रियासतों के साथ इस प्रकार का पारस्परिक व्यवहार किस प्रकार सम्भव था जब कि कूटनीति और सभ्यता में मौर्य साम्राज्य इन यूनानी राज्यों के बराबर न होता। कैम्ब्रिज से छपे भारत के इतिहास (जिल्द १, पृष्ठ ४३३) में डाक्टर जार्ज मैकडानल्ड ने स्ट्रैबो के आधार पर ठीक ही लिखा है कि यह कहना गलत न होगा कि आमू नदी के जरिये भारत का माल कास्पियन सागर होकर यूरोप को जाता था। उस समय भारतवर्ष का पश्चिमी देशों से सम्बन्ध अशोक के दूसरे शिला-लेखों से भी सिद्ध होता है। इसमें बौद्ध सम्राट लिखता है कि केवल भारतवर्ष में नहीं किन्तु लंका और उन यूनानी देशों में भी जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है उसने नाना प्रकार की जड़ी बूटियों के पौधे और फलों के वृक्ष बाहर से मंगवा कर मनुष्यों और पशुओं की भलाई के लिये लगवाये थे। यह किस प्रकार सम्भव था जब तक कि जल और स्थल का मार्ग सुरक्षित न होता। इसलिये इन लेखों से ही हमें पता चलता है कि मौर्यकाल में सभ्यता और संस्कृति इतनी उच्च कोटि पर पहुँच गई थी कि भारतवर्ष सुदूर सभ्य देशों में भी अपना राजदूत भेजा करता था और संसार के व्यापार तथा दूसरे कार्यों में भी वह भाग लेता था।

इस छोटे से लेख में उसके शिला-लेखों के महत्त्व का वर्णन करना कठिन है। इनके द्वारा केवल भारतवर्ष की राजनैतिक अवस्था का ही पता नहीं चलता और केवल यही ज्ञात नहीं होता कि भारतवर्ष का अन्य राष्ट्रों से अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध किस प्रकार का था, किन्तु इन लेखों ने न मालूम कितने अन्धकारपूर्ण विषयों पर प्रकाश डाला है। उदाहरण के लिये सम्राट् हर्षवर्द्धन के पश्चात् उत्तरी भारतवर्ष का इतिहास अन्धकारमय था। किन्तु कुछ ही वर्ष हुए कि लेखों द्वारा यह सिद्ध हो गया है कि दो शताब्दी तक प्रतिहार राजवंश ने उत्तरी भारत में शासन किया था। स्थानाभाव के कारण यहां यह लिखना सम्भव नहीं कि सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में लेखों से कितनी सहायता मिली है फिर भी इस विषय की कुछ चर्चा करना आवश्यक है। वैष्णव और शैव धर्म के इतिहास में विशेषतया वासुदेव और लकुलीस मत पर शिला-लेखों ने किस प्रकार प्रकाश डाला है यह सबको मालूम है और इसका यहां उल्लेख करना आवश्यक नहीं। प्राचीन काल से यह भ्रम चला आता था कि हिन्दू-

धर्म को दूसरे लोग ग्रहण नहीं कर सकते। किन्तु कार्ले, नासिक और जुन्नर गुफाओं के लेखों ने इसको झूठा प्रमाणित कर दिया है। उन लेखों से मालूम पड़ता है कि शक, पल्लव, हूण, गुर्जर और सभ्य यूनानियों ने भी इस धर्म को अपनाया था। कोई २५ वर्ष पहले ए० एम० टी० जैक्सन साहब ने इस ओर ध्यान आकर्षण कराया था कि हिन्दू सभ्यता में वह आकर्षणशक्ति है कि मुसल्मानों और अंगरेजों को छोड़कर उसने प्रत्येक बाहरी आक्रमणकारी को अपना लिया था। उन्होंने केवल हिन्दू धर्म ही ग्रहण नहीं किया किन्तु हिन्दू नाम भी रखे थे। उदाहरण के लिये नासिक गुफा के एक लेख में उषवदात अथवा ऋषभदत्त और उसकी स्त्री संघमित्रा का नाम मिलता है। ये दोनों हिन्दू नाम हैं। दूसरे लेख में उषवदात को शक कहा गया है। वह विदेशी था, इसका पता उसके पिता और श्वशुर के नाम से लगता है। उनका नाम दीनीक और नहपान था। नहपान 'क्षत्रप' था जो फारसी उपाधि के अंगरेजी नाम सेट्रप से समानता रखता है। इससे यह मालूम पड़ता है कि ऋषभदत्त और संघमित्रा यद्यपि भारतीय न थे तथापि उन्होंने हिन्दू धर्म स्वीकार कर लिया था।

अब यह देखना चाहिये कि ऋषभदत्त ने कौन सा हिन्दू मत स्वीकार किया था? ऋषभदत्त ने सोलह गांवों का दान देवताओं और ब्राह्मणों के हितार्थ दिया था, वह प्रत्येक वर्ष १००० ब्राह्मणों को भोजन कराता था। आज कल शायद ही ऋषभदत्त ऐसा कोई ब्राह्मणपालक हो। पर वह एक शक था और इसलिये भारतीय न था। यहां तक कि सभ्य यवन अथवा यूनानी हिन्दू धर्म और सभ्यता के आकर्षण से अपने को बचा न सके। इसका पता ग्वालियर राज्य के बेसनगर के लेख से लगता है जिसको सर जान मारशल साहब ने खोजा था। इस स्तम्भ के ऊपर गरुड़ध्वज है जिसकी स्थापना वासुदेव के लिये डिओन के पुत्र हेलियोडोरस नामक तक्षिशला निवासी ने की थी, जो वहां अतिअलकिदास नामक यूनानी सम्राट् के दरबार से भागभद्र नामक राजा के दरबार में राजदूत होकर गया था। हेलियो-डोरस और डिओन यूनानी नाम हैं। इसके अतिरिक्त यह बात भी प्रकट है कि हेलियोडोरस यहां योन-दूत अथवा यूनानी दूत कहकर सम्बोधित किया गया है। इसलिये उसका यूनानी होना पूर्णरूप से सम्भव है। उसने वासुदेव के पुण्यार्थ गरुड़ध्वज की स्थापना की थी इसलिये इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं कि वह पहले यूनानी था और बाद में वैष्णव हो गया। यदि इसमें कुछ सन्देह समझा जाय तो वह इस बात से दूर हो जाता है कि हेलियोडोरस को भागवत अर्थात् वासुदेव का भक्त कहा गया है। इस लेख से यह पता चलता है कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता का कितना प्रभाव था कि उसने एक पढ़े लिखे उच्च श्रेणी के हेलियोडोरस नामक राजदूत को भी हिन्दू बना लिया था, और इतना ही नहीं उसकी धार्मिक श्रद्धा इतनी बढ़ गई थी कि उसने एक बड़ा स्तम्भ बहुत धन व्यय करके वहां खड़ा करवाया था।

धार्मिक क्षेत्र के अतिरिक्त सामाजिक क्षेत्र में भी लेखों से बहुत कुछ सहायता मिली है। बहुत से सामाजिक विषयों पर लेखों ने प्रकाश डाला है किन्तु यहां पर केवल एक ही विषय पर विचार करना

है। वह है 'प्राचीन भारत में स्त्री शासिकायें और सम्राज्ञियां'। उस समय भी आज कल की भांति पर्दा रहा होगा, किन्तु इतना होते हुए भी स्त्रियां शासक के पद पर पहुँच सकती थीं। यहां पर रामायण अथवा महाभारत के आधार पर कुछ कहना सन्तोषजनक न होगा क्योंकि वे तो केवल अच्छे ढंग से लिखी वीर गाथायें हैं इसलिये लेखों की सहायता लेना आवश्यक है। बम्बई के धरवर जिले में बन्कपुर नामक स्थान में शक काल ९७७ (सन् १०५५) का एक लेख मिला है। इसमें लिखा है कि वनवासी प्रान्त के कदम्ब सम्राट् हरिकेसरी देव अपनी रानी लच्छलदेवी सहित राज्य किया करते थे। इसी प्रकार एक प्राचीन लेख से जो नासिक की गुफा में मिला है मालूम पड़ता है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि और उनकी रानी ने एक भूमि का दान बौद्ध भिक्षुकों को दिया था। एक और उदाहरण एक रानी का है जिसने एक नहीं किन्तु दो पत्रों पर अपने हस्ताक्षर किये थे। यह रानी बदापी के चालुक्य सम्राट् विक्रमादित्य प्रथम के ज्येष्ठ भ्राता चन्द्रादित्य की महिषी विजय महादेवी थी। इसी प्रकार का एक और उदाहरण राष्ट्रकूट सम्राट् ध्रुव की रानी शीलमहादेवी का है। उसने एक पत्र शक काल ७०८ (सन् ७८६) में अपने पति की आज्ञा न लेकर स्वयं अपने अधिकार से दिया था और उसने अपने को 'परमेश्वरी परमभट्टारिका' कहा था। स्त्रियां अपने छोटे पुत्रों की संरक्षिका होकर राज्य कर सकती थीं। वे प्राचीन भारत में केवल राज्य प्रबन्ध में ही भाग नहीं लेती थीं किन्तु राज्य प्रबन्ध का उन पर पूर्णरूप से उत्तरदायित्व भी था।

अनुवादक :—

बैजनाथ पुरी, एम० ए०।

———

पुनर्जन्म की प्रक्रिया

[ब्रह्म-सूत्र के अनुसार]

पण्डित श्री कृष्णदत्त भारद्वाज, एम० ए०, आचार्य, शास्त्री, साहित्यरत्न

वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत अनेक ग्रन्थ-रत्न हैं जिनमें से प्रस्थानत्रयी परम प्रसिद्ध है। ब्रह्मसूत्र प्रस्थानत्रयी का अन्यतम ग्रन्थ है जिसमें बादरायण ने सभी आवश्यक औपनिषद विषयों पर प्रकाश डालते हुए अनेक जटिल ग्रन्थियों को सुलझाया है। पुनर्जन्म भी एक समस्या है। देह के अन्त में जीव के सम्मुख दो गतियां होती हैं :—

१—शुक्ल गति अर्थात् देवयान। इसके द्वारा ज्ञानी प्रकृति से परे पहुँच कर सच्चिदानन्द हो जाता है और फिर कर्म-बन्धन के कारण प्राकृत लोकों में उसका जन्म नहीं होता।

२—कृष्णगति अर्थात् पितृयान।

(अ) इसके द्वारा अज्ञानी प्रकृति के सूक्ष्म लोकों में कर्मानुसार सुख-दुःख भोग कर पुनः प्राकृत लोकों में ही जन्म ग्रहण करता है। भोगभूमियों से उतरते समय जीव को सोम, वर्षा, अन्न, वीर्य और गर्भ में वास मिलता है। सोमादि गर्भान्त दशाएँ शास्त्र में आहुतियां कहलाती हैं अतएव यह अवरोह पञ्चाहुतिमय कहलाता है।

(आ) बिना आहुतिचक्र के भी प्राकृत लोकों में जन्म होता है जैसे कि द्रोण और द्रौपदी का। अवतार-विग्रह में भी आहुतिचक्र का नियम नहीं है जैसे कि जानकी जी का जन्म।

इस विषय में एक रहस्य यह भी है कि अवरोह दशा में अनुशयी जीव का सोम, वर्षा, अन्न वीर्य और गर्भ से सम्पर्क मात्र होता है तादात्म्य नहीं।

तदनन्तर गर्भ से जिस प्रकार बालक का जन्म होता है वह लोक में सम्यक् विदित है।

निम्नाङ्कित पंक्तियां पुनर्जन्म के सम्बन्ध में ब्रह्मसूत्र के दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के उद्देश्य से लिखी गई हैं। प्रमाण रूप से सूत्र और शास्त्र-वचनों का यथा स्थान उद्धरण किया गया है। यद्यपि छन्द-रचना मेरी है तथापि वह ब्रह्मसूत्र के अनुसार ही है और उसी को स्पष्ट करने के लिये है।

लावनी छन्द

(१)

पुण्य कार्य के कर्ता जैसे सुख पाने को जाते हैं।
उसी भांति ही पापी भी तो दुख पाने को जाते हैं॥

पापी संयमनी में दुख को पाकर, लौटा करते हैं।
"यमाधीन हैं पापी जन" यह मन्वादिक मुनि कहते हैं॥

व्याख्या :—अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम्।

संयमने त्वनुभूयेतरेषा मारोहावरोहौ तद्गति दर्शनात्।

स्मरन्ति च।

इन तीन ब्रह्मसूत्रों ३।१।१२—१४ के आधार पर उक्त पद्य की रचना हुई है। संयमनी यमराज की पुरी का नाम है। कठोपनिषद् का वचन "अय लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वश माप्द्यते मे" भी इस विषय में द्रष्टव्य है तथा मनुस्मृति का अवस्तन श्लोक भी :—

यामीस्ताः यातनाः प्राप्य स जीवो वीत कल्मषः।
तान्येव पञ्चभूतानि पुनरभ्येति भागशः॥ १२।२२।

(२)

रौरव आदिक सात नरक हैं, पौराणिक जन कहते हैं।
उनमें रहकर सब पापी जन नाना पीड़ा सहते हैं॥
चित्रगुप्त आदिक भी सुर-गण यद्यपि यम के साथ रहें।
यमाधीन हैं किन्तु सभी वे औ' यम के अनुकूल रहें॥

व्याख्या :—अपि च सप्त।

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः।

इन दो ब्रह्मसूत्रों ३।१।१५ और १६ के आधार पर इस पद्य की रचना हुई है। सात नरकों के नाम ये हैं; रौरव, महान्, वह्नि, वैतरणी, कुम्भीपाक, तामिस्र और अन्धतामिस्र। इनमें पहले पांच अनित्य हैं और शेष दो नित्य जैसा कि भारत का वचन है :—

रौरवोऽथ महांश्चैव वह्निर्वैतरणी तथा
कुम्भीपाक इति प्रोक्तान्यनित्यनरकाणि च।
तामिस्रश्चान्धतामिस्रौ द्वौ नित्यौ सम्प्रकीर्तितौ
इति सप्त प्रधानानि बलीयस्तूत्तरोत्तरम्॥

नरकों की संख्या पुराणों में अधिक भी बतलाई गई है किन्तु विवक्षाभेद से वहां गौण नरक भी सम्मिलित कर लिये गये हैं। प्रधान सात ही हैं।

चित्रगुप्त आदिकों के शासन में रहने से भी पापी लोगों की यमाधीनता अव्याहत रहती है क्योंकि चित्रगुप्तादिक भी तो यम के किंकर ही हैं।

(३)

ज्ञान-हेतु से देवयान की प्राप्ति हमें श्रुति बतलाती।
कर्म हेतु से पैत्र-यान की प्राप्ति जीव की जतलाती॥
मार्ग तीसरा एक और है जिसमें आहुति-नियम नहीं।
इसका भी तो वर्णन श्रुति में देख लीजिये मित्र ! वहीं॥

व्याख्या :—विद्याकर्मणो रिति तु प्रकृतत्वात्।

न तृतीये तथोपलब्धेः।

इन दो ब्रह्मसूत्रों ३।१।१७ और १८ के आधार पर इस पद्य की रचना हुई है। छान्दोग्योपनिषत् के "अथ य इत्थं विदुः……एष देवयानः पन्थाः" ५।१०।१ और "अथ य इमे ग्रामे……" ५।१०।३ मन्त्र द्रष्टव्य हैं। देवयान मार्ग में पुनरावृत्ति नहीं होती। पुनर्जन्म का भय पितृयान में ही है। पहली गीतोक्त शुक्लगति है और दूसरी कृष्णगति। कृष्णगति का एक अवान्तर भेद भी है जिसका वर्णन छान्दोग्य में यों दिया है :—

"अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानिमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्त्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत-तृतीयं स्थानम्' ५।१०।८।

द्वितीय पितृयान अथवा कृष्णगति में जीव को 'परलोक', 'पर्जन्य', 'पृथ्वी', 'पुरुष' और 'योषा' रूपी पांच अग्नियों में आहुत होकर क्रमशः 'सोम', 'वर्षा', 'अन्न', 'वीर्य' और 'गर्भ' में वास मिलता है। साधारणतया सभी को पांच आहुतियों के नियम का पालन करना पड़ता है, किन्तु तीसरी गति में इन आहुतियों का बन्धन नहीं है क्योंकि वहां पांच से कम आहुतियों में भी स्थूल शरीर से सम्पर्क हो जाता है।

(४)

द्रोण, जानकी आदि अनेकों की उत्पत्ति सुनी जाती।
आहुतिपञ्चक की जिसमें भी नहीं कल्पना की जाती॥
उद्भिज्जों का जन्म बिना ही आहुतियों के कहा गया।
स्वेदज प्राणि-जनों का वर्णन उद्भिज्जों में गिना गया॥

व्याख्या :—स्मर्यतेऽपि च लोके।

दर्शनाच्च।

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य।

इन तीन ब्रह्मसूत्रों ३।१।१९—२१ के आधार पर इस पद्य की रचना हुई है। द्रोणाचार्य

का जन्म बिना माता के और द्रौपदी धृष्टद्युम्न का बिना माता-पिता के प्रसिद्ध है। जानकी माता की उत्पत्ति भी आहुतिपञ्चक के बिना ही रामायण में वर्णित है। उद्भिज्ज वृक्षलताओं का एवं स्वेदज यूकालिक्षाओं का जन्म भी बिना पांच आहुतियों के ही हुआ करता है। बलाका के गर्भ की स्थिति में भी चार ही आहुतियां रहती हैं, पांचवीं नहीं ऐसी लोकरूढ़ि है। श्रुति में स्वेदज जीवों की गणना पृथक् नहीं की है अतएव उद्भिज्जों में ही उनका अन्तर्भाव मानना चाहिये। "आण्डजं जीवज मुद्भिज्जम्" छान्दोग्य ६।३।१।

(५)

जीव न होता धूम-जलादिक, किन्तु उन्हीं के साथ रहे।
नभ-आदिक अन्नान्त पदार्थों से केवल संयुक्त रहे॥
यह जैविक अवरोह बताया शीघ्र, न इसमें देर रहे।
केवल अन्नों के ही सँग में इसका चिर-संयोग रहे॥

व्याख्या :—तत्साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः।

नातिचिरेण विशेषात्।

इन दो ब्रह्मसूत्रों ३।१।२२ और २३ के आधार पर इस पद्य की रचना हुई है। चन्द्रलोक से नीचे उतरते हुए जीव का आकाश, वायु, धूम, मेघ, वर्षा, अन्न और वीर्य से संयोगमात्र रहता है न कि तादूप्य। आकाश से लेकर वर्षा पर्यन्त द्रव्यों के साथ संयोग अधिककालीन नहीं होता किन्तु अन्न के साथ अधिककालीन ही होता है।

(६)

अन्याधिष्ठित ओषधियों में रहता जीव सदा भू में।
पहले के ही सम हां उसकी स्थिति होती है अन्नों में॥

पूर्वपक्षः :—

याज्ञिक हिंसा के फल से यह जीव वृक्षता प्राप्त करे।

उत्तर पक्षः :—

वैदिक हिंसा पाप नहीं है; दुःख न उसको अतः वरे॥

व्याख्या :—अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात्।

अशुद्ध मिति चेन्न शब्दात्।

इन दो ब्रह्मसूत्रों ३।१।२४ और २५ के आधार पर इस पद्य की रचना हुई है।

चन्द्रलोक से उतरते हुए अनुशयी आत्मा अन्य जीवाधिष्ठित व्रीह्यादिकों से केवल संसर्ग को ही प्राप्त करते हैं। वे व्रीह्यादिकों के सुख-दुःख का उपभोग नहीं करते। जिस प्रकार वायु, धूम आदि के साथ अनुशयी जीव का केवल संश्लेष रहता है इसी प्रकार व्रीह्यादिकों के साथ भी केवल सम्पर्क ही रहता है।

शङ्का :—पूर्वकृत यज्ञ के पुण्यांश के प्रभाव से जैसे स्वर्ग मिला था उसी प्रकार यज्ञ के काष्ठच्छेदन आदि पापांश के प्रभाव से दुःख भोगने के लिये जीव का स्थावरत्व स्वीकार करना ठीक है। संसर्ग मात्र मानने से क्या लाभ?

समाधान :—वेदोक्त यज्ञों के अनुष्ठान में वृक्षच्छेदनादि कर्म-कलाप में होने वाली हिंसा पाप में सम्मिलित नहीं, अतएव उसका फल भी स्थावरभाव नहीं मिलता।

(७)

अन्नों से नर में; फिर जाता जायोदर में जीव यहां।
जाया से ही जन्म बताया जीव-देह का नित्य यहां॥

व्याख्या :—रेतः सिग्योगोऽथ।

योनेः शरीरम्।

इन दो ब्रह्मसूत्रों ३।१।२६ और २७ के आधार पर इस पद्यार्थ की रचना की गई है। छान्दोग्य का यह वचन द्रष्टव्य है—"यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति" ५।१०।६।

हर्षचरित की शैली

श्री सूर्यनारायण चौधरी, एम० ए०

ग्रन्थ-परिचय :— सातवीं सदी के पूर्वार्ध में बाण नामक एक प्रतिभाशाली संस्कृत-कवि हुआ था। वह सम्राट् हर्ष का समकालीन और कृपा पात्र भी था। उसकी ही लिखी कादम्बरी है। उसकी दूसरी कृति हर्षचरित है। कादम्बरी की तरह हर्षचरित लोक-प्रसिद्ध नहीं हुआ। इसकी एक ही टीका शङ्कर-विरचित 'सङ्केत' उपलब्ध है। बाण ने हर्षचरित के प्रारम्भिक सवा दो उच्छ्वासों में अपने पूर्वजों का इतिहास तथा अपनी संक्षिप्त जीवनी लिखी है और शेष उच्छ्वासों में उसने पूर्वज-सहित हर्ष के कतिपय चरितों का हाल लिखा है।

आख्यायिका :—हर्षचरित आख्यायिका श्रेणी की रचना है। अमरसिंह से लेकर विश्वनाथ तक अनेक आचार्यों ने आख्यायिका की परिभाषायें दी हैं जो एक दूसरे से कुछ-कुछ भिन्न हैं। इन्हें तथा हर्षचरित को देखते हुए हम कह सकते हैं कि आख्यायिका के लिए इन निम्न-लिखित बातों का होना आवश्यक है :—

(१) विषय का ऐतिहासिक होना (२) ग्रन्थ का उच्छ्वासों में विभाजन (३) प्रत्येक उच्छ्वास में वक्त्र और अपरवक्त्र नामक छन्दों में रचित पद्यों का होना।

बाण ही आख्यायिका का पहला लेखक नहीं था। उसने स्वयं आख्यायिका-कार श्रेष्ठ कवियों को वन्द्य बताया है। पहले-पहल कात्यायन ने अपने वार्तिकों[1] में आख्यायिका का उल्लेख किया है। इन वार्तिकों पर टीका करते हुए पतञ्जलि ने महाभाष्य में वासवदत्ता (सुबन्धु-रचित वासवदत्ता से भिन्न), सुमनोत्तरा और भैमरथी नामक तीन आख्यायिकाओं का उल्लेख किया है। अनेक प्राचीन ग्रन्थों की तरह इनके भी नाम ही शेष रह गये हैं।

हर्षचरित की शैली की तुलना :—बाण ने हर्षचरित के प्रारम्भिक श्लोकों में व्यास के महाभारत, कालिदास की सूक्तियों तथा वासवदत्ता की प्रशंसा की है तथा विविध प्रान्तों की काव्य-विशेषताओं का उल्लेख करते हुए दुर्लभ आदर्श शैली का निरूपण किया है। बाण इस आदर्श शैली तक नहीं पहुँच सका है क्योंकि वह स्वयं इसकी दुर्लभता को स्वीकार करता है। व्यास और कालिदास के महाकाव्यों और नाटकों से गद्य-बद्ध हर्षचरित की तुलना नहीं हो सकती। किन्तु श्लेष और समासों के अतिशय प्रयोग तथा वर्णनों में हर्षचरित वासवदत्ता से मिलता जुलता है। किसी अज्ञात संस्कृत-समालोचक के अनुसार

---

१ लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम् ; आख्यान-आख्यायिका-इतिहास-पुराणेभ्यश्च।

कवि बाण तथा कवयित्री शीला भट्टारिका के काव्य पांचाली शैली के हैं, जिसमें शब्द और अर्थ का समान 'गुम्फन' होता है।

वर्णन :—हर्षचरित आदि से अन्त तक देश, नगर, ग्राम, राज-कुल, सेना, परिव्राजक, आश्रम, वन, उत्पात, स्वप्न, यात्रा, उत्सव, मृत्यु, ऋतु, समय, आदि के छोटे-बड़े वर्णनों से भरा है। साधारण से साधारण स्थान, अवस्था, और पात्र का भी काफी वर्णन किया गया है, जिससे कथा की चाल धीमी हो गई है। यही कारण है कि इतने बड़े ग्रन्थ में भी हर्ष के पर्याप्त चरितों का वर्णन नहीं हो सका और समूचे ग्रन्थ के पढ़ने पर भी ऐतिहासिक की प्यास पूरी तरह नहीं मिट सकती।

हर्षचरित की द्विविध शैली :—हर्षचरित की शैली दो तरह की है—वर्णनात्मक और अवर्णनात्मक। वर्णन भी दो तरह के हैं—लम्बा और छोटा। लम्बे वर्णन प्रायः दो-एक ही वाक्य के हैं। एक एक वाक्य पचासों पंक्तियों में कई पृष्ठों तक चला गया है, वाक्य के अन्त में समापिका क्रिया रहती है, बीच में वर्णित वस्तु के विशेषण और इनके भी विशेषण रहते हैं; ये विशेषण समासों और अलङ्कारों से भरे होते हैं। सवा-सौ से भी अधिक पंक्तियों के एक वाक्य में किया गया नायक का—सम्राट् हर्ष का—वर्णन सबसे बड़ा है। इसके अन्तिम दो शब्द हैं—'हर्षम् अद्राक्षीत्' अर्थात् हर्ष को देखा। विशेषण-पुञ्जों में हर्ष के पलंग-पादपीठ, परिचारक-परिचारिकाओं, अङ्ग-आभरणों आदि का आलङ्कारिक मनमोहक वर्णन करके ही कवि सन्तुष्ट नहीं रहा उसने मानो सम्राट् के अन्तस्थल में भी प्रवेश कर पता लगाया है कि दोषों के लिए अनाश्रयणीय, इन्द्रियों के लिए निग्रह-रुचि, व्यसनों के लिये नीरस, कामदेव के लिए दुर्ग्रह-चित्तवृत्ति और परकलत्रों के लिए नपुंसक होते हुए भी वह करुणा का आगार था।

कोई कोई छोटे वर्णन लम्बे समासों तथा अलङ्कारों से शून्य होने के कारण सरल हैं। द्वितीय उच्छ्वास में प्रीतिकूट से निकलने के समय बाण के आत्म-वर्णन में एक ही उपमा का प्रयोग है, और वह भी अत्यन्त सरल। समास भी प्रायः छोटे छोटे और सुबोध हैं। तृतीय उच्छ्वास के शुरू में शरद् ऋतु के आरम्भ का सुन्दर वर्णन अलङ्कार से रहित होने के कारण सरल है।

वार्तालाप, प्रलाप, आत्म-चिन्तन, भाषण, प्रमाण में सैनिकों के कोलाहल आदि को हम हर्षचरित की अवर्णनात्मक शैली के अन्तर्गत रखते हैं। इसमें वाक्य छोटे छोटे और सरल होते हैं। जैसे :—

प्रभाकरवर्धन—'वत्स, कृशोऽसि' (वत्स, दुबले हो गये हो)।

भण्डि—देव, तृतीयमहः कृताहारस्य अद्य (देव, इन्हें भोजन किये आज तीसरा दिन हो गया)।

प्रभाकरवर्धनः—वत्स, जानामि त्वां पितृप्रियम् अतिमृदुहृदयम्। नार्हसि आत्मानं शुचे दातुम्।

निशितमिव शस्त्रं तक्ष्णोति मां त्वदीयत्वनिमा। तदुत्तिष्ठ। कुरु पुनरेव सर्वाः क्रियाः। कृताहारे च त्वयि अहमपि स्वयम् उपभोक्ष्ये पथ्यम्। (वत्स, जानता हूँ कि तुम पितृ-प्रिय हो और तुम्हारा हृदय अत्यन्त मृदु है। तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। तुम्हारी दुर्बलता मुझे तेज शस्त्र की तरह काट रही है। अतः उठो और सभी क्रियायें करो। तुम्हारे भोजन करने पर मैं भी स्वयं पथ्य पाऊँगा)।

रस :—अधिकांश संस्कृत काव्यों की अपेक्षा हर्षचरित में शृङ्गार रस की कमी है। शोण-तट पर पर्ण-कुटी में कुमारी सरस्वती और आगन्तुक नवयुवक दधीच के हृदयों में एक दूसरे को देखकर प्रेम अङ्कुरित हुआ। दधीच के चले जाने पर दोनों एक-दूसरे के वियोग में जलने लगे। यहाँ कवि ने विप्रलम्भ शृङ्गार का परिपाक दिखाया है। किन्तु शीघ्र ही सरस्वती की कुटी में दोनों का मिलन हुआ और कवि ने एक ही छोटे वाक्य में सम्भोग शृङ्गार को समाप्त कर दिया है। इसके बाद तो शृङ्गार रस वास्तव में कहीं है ही नहीं। हर्षचरित का प्रधान रस करुण ही है। इसका सुन्दर परिपाक पञ्चम उच्छ्वास में हुआ है। हर्ष के पिता प्रभाकरवर्धन की असाध्य बीमारी का दृश्य, प्रवास से लौटे हुए पुत्र का बीमार पिता के साथ मिलन, तथा स्वामी के स्नेह-भाजन वैद्य-कुमार रसायन के अग्नि-प्रवेश का समाचार पाषाण-हृदय व्यक्ति को भी रुला सकता है। मरने को उद्यत रानियों के मुँह से निकले अन्तिम विदा के वाक्य कम करुण नहीं हैं। सती होने से पूर्व माता यशोवती से 'अम्ब त्वमपि मां मन्दपुण्यं त्यजसि' (मां, तुम भी मुझ क्षीण-पुण्य को छोड़ रही हो), पुत्र हर्ष के इस एक ही छोटे वाक्य में करुण रस का सागर भरा है। अष्टम उच्छ्वास में विन्ध्याटवी का वह दृश्य, जहां मरने को उत्सुक स्त्रियां आलाप कर रही हैं और अग्नि में प्रवेश करने को उद्यत राज्यश्री मूर्छित हो रही है, हृदय-द्रावक है।

परिहास :—हर्षचरित में कहीं कहीं परिहास के भी उदाहरण मिलते हैं। यथा—"बाण के बान्धवों के घरों में सुग्गा और मैना द्वारा अध्ययन आरम्भ करने पर उपाध्यायों को विश्राम मिलता था (तृ० उ०)। "स्कन्दगुप्त की नाक निज नृप-वंश के समान लम्बी थी" (ष० उ०)। हर्षचरित की अनेक अतिशयोक्तियों में परिहास का पुट निहित है।

अलङ्कार :—हर्षचरित प्रायः सर्वत्र अलङ्कृत है। पद-पद पर अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और श्लेष मिलते हैं। विरोध, उल्लेख, विभावना, अप्रस्तुत-प्रशंसा, तुल्य-योगिता, भ्रान्तिमान्, काव्य-लिङ्ग, अतिशयोक्ति, दीपक, सहोक्ति, निदर्शना आदि का भी प्रयोग हुआ है। श्लेष सर्वत्र सहज नहीं है, अतः भाषा कहीं कहीं दुरूह हो गई है। श्लेष के अतिशय प्रयोग के कारण हर्षचरित का अविकल अनुवाद असंभव है। श्लेष-समास से लदे विशेषण-पुञ्जों से बने लम्बे वाक्यों की तीव्र आलोचना की गई है। किन्तु प्राचीन भारत में ये शैली के दोष नहीं, बल्कि गुण समझे जाते थे। सुबन्धु तो प्रति अक्षर में श्लेष भरने का गर्व करता है। उपर्युक्त अलङ्कारों में से कुछ के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

उत्प्रेक्षा—'अधर्म इस तरह विदीर्ण हो गया, जैसे यूप के लिए लकड़ी काटने वाले कुठारों से कट गया हो'। (तृतीय उच्छ्वास)

विरोध और श्लेष—'वहां की प्रमदायें मातङ्ग-गामिनी हैं और शीलवती हैं'। मातङ्ग-गामिनी के दो अर्थ हैं, (१) चण्डाल के यहां जाने वाली, और (२) गजगामिनी। (तृ० उ०)

उल्लेख—'उस स्थाण्वीश्वर को मुनियों ने तपोवन, वेश्याओं ने काम-मन्दिर, नर्तकों ने सङ्गीत-शाला............समझा'। (तृ० उ०)

विभावना—'मन्द समीर से झड़ी हुई फूल की धूल से आंखों के पीड़ित नहीं होने पर भी उसने अश्रु-जल बहाया'। (प्र० उ०)

भ्रान्तिमान्—'सिन्दूर-राशि से सूर्य-मण्डल लाल हो जाने पर (चक्रवाक आदि) पक्षियों को संध्या-समय होने की शङ्का हुई'। (स० उ०)

व्याकरण :—बाण आलङ्कारिक ही नहीं, वैयाकरण भी था। कहीं कहीं तो जान पड़ता है जैसे वह पाणिनि के सूत्रों को उदाहरण द्वारा समझा रहा हो। एक वाक्य में 'ललाटंतप' तथा अगले वाक्य में 'असूर्यंपश्या' का प्रयोग पाणिनि के सूत्र 'असूर्यललाटयोर्दृशि तपोः' का स्पष्ट उदाहरण है। हर्षचरित की भाषा व्याकरण-सम्मत है। किन्तु ढूँढ़ने से आर्ष प्रयोग भी मिल सकते हैं।

पद्य :—हर्षचरित एक गद्यमय रचना है। किन्तु इसके आरम्भ में तथा बीच बीच में कुछ पद्य आ गये हैं। प्रथम उच्छ्वास के आरम्भ में कवियों और काव्यों के सम्बन्ध में २१ आलोचनात्मक पद्य हैं। अन्य सात उच्छ्वासों में से प्रत्येक के आरम्भ में दो पद्य—आर्या-युगल, या एक श्लोक और एक आर्या हैं। आख्यायिका के प्रत्येक उच्छ्वास के आरम्भ में एक वक्त्र और एक अपरवक्त्र होना चाहिये—भामह के इस नियम का यहां पालन नहीं हुआ है। पहले छः उच्छ्वासों के बीच बीच में वक्त्र, अपरवक्त्र, आर्या, श्लोक, वसन्ततिलक, शार्दूलविक्रीडित, और स्रग्धरा के १४ पद्य आये हैं। इस तरह कुल २१+१४+१४=४९ पद्य हुए। किसी प्राचीन समालोचक के अनुसार गद्य-रचना में बाण जैसा सफल हुआ है वैसा पद्य-रचना में नहीं। साधारणतः बाण के पद्य सरल, सुन्दर और सूक्तिपूर्ण हैं। कुछ क्लिष्ट पद्य क्लिष्ट जान पड़ते हैं।

सूक्तियां :—हर्षचरित से कुछ चुनी हुई सूक्तियां नीचे दी जाती हैं :—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसार्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥

अर्थ—'मधुर और सरस मञ्जरी के सदृश कालिदास की सूक्तियों के उच्चारण मात्र से किसे आनन्द नहीं होता'। यह श्लोक बहुत ही लोक-प्रिय हो गया है।

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
युगे युगे व्यतीतानि कस्य ते कस्य वा भवान् ॥

अर्थ—'हजारों माता-पिता और सैकड़ों पुत्र-कलत्र युग-युग में बीत गये। वे किसके हुए या आप किसके हैं'? यह सरल और सुन्दर श्लोक यम-पट दिखाने वाले ने गाया था। सम्भवतः यह श्लोक बाण के समय में खूब प्रचलित होगा। आज भी इस आशय के पद्य या शब्द भारत के गांव गांव में प्रति-दिन सुनने में आते हैं।

अङ्गनवेदी वसुधा कुल्या जलधिः स्थली च पातालम् ।
वल्मीकश्च सुमेरुः कृतप्रतिज्ञस्य वीरस्य ॥

अर्थ—कृत-प्रतिज्ञ वीर के लिए पृथ्वी आंगन की वेदी है, सागर क्षुद्र सरिता है, पाताल स्थली है, और सुमेरु पर्वत कीड़ों का बनाया हुआ मिट्टी का स्तूप है। यह पद्य भी लोक-प्रिय है। अब कुछ छोटे-छोटे सार-गर्भित वाक्यों का हिन्दी रूपान्तर मात्र नीचे दिया जाता है :—

'क्षमा सभी तपों का मूल है। परोपकार सज्जनों का व्यसन है। सेवा कष्टदायक है, दासत्व विषम है। राजाओं के वास्तविक बन्धु प्रजा हैं। जो शोक का शिकार होता है, उसे पण्डित कापुरुष कहते हैं। अनित्यता-नदी अति द्रुत वाहिनी है'।

भक्तमाल की एक टीका

श्री कालिदास मुकरजी

नाभादास-कृत भक्तमाल की कई टीकाएँ हैं पर उनमें से प्रियादास जी की टीका सर्वोत्तम एवं लोक प्रसिद्ध है। प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों की खोज में मुझे एक और टीका मिली है। यह प्राचीन है लेकिन प्रियादास जी की टीका से नहीं। इस लेख में उसका परिचय दिया जा रहा है।

यह हस्तलिखित प्रति साफ़ साफ़ अक्षरों में लिखी हुई है—लेकिन पुराने हिन्दी लिपिकारों की बात ही निराली थी। वे एक के बाद एक अक्षर लिखते चले जाते थे—पर पढ़ने वाले पर आज बला आ टपकती है। उन अक्षरों को आपस में मिलाकर शब्द बनाकर पढ़ना पड़ता है। एक ही अक्षर के कुछ हेर-फेर से विभिन्नार्थी शब्द बन जाते हैं और पढ़ने वाले को मूर्ख की उपाधि दी जाती

है। यही हालत है इस आलोच्य प्रति की। इसके अतिरिक्त इसमें कुछ अक्षर भी विचित्र ही ढंग से लिखे गये हैं। 'म' प्रायः कैथी लिपि की सी है। 'ऐ'—अै लिखा हुआ है। करुणा और परीक्षा आदि शब्द करुणा और परीक्ष्या दिये गये हैं। इसी तरह और कुछ संयुक्ताक्षरों की भी दशा है। ब और व में कोई पार्थक्य नहीं है—ब के बदले सर्वथा व ही दीख पड़ता है। ड़, ढ़ आदि कुछ अक्षरों की बिंदी का नाम निशान नहीं है। क्ष के लिये बहुधा छ का और ज के लिये य का प्रयोग है। उस समय विरामादि की कोई व्यवस्था नहीं थी अतएव आलोच्य प्रति में अलग अलग अक्षर पास पास लिखे गये हैं, केवल जहां पर पूर्णविराम है वहीं दो खड़ी पाई दीख पड़ती है। इसके अतिरिक्त इस हस्तलिखित प्रति की एक और विशेषता है—वह यह कि लिपिकार ने बीच-बीच में भूल-चूक के शब्द और कहीं २ एक आध चरण भी ला घुसेड़ा है[1]। ये कहीं कहीं तो दो लकीरों के बीच में हैं और कहीं कहीं पृष्ठ में दी हुई मार्जिन में लिखे गये हैं। यह प्रति आड़ी तौर पर लिखी गई है इसलिये दो पृष्ठों को लिपिकार ने एक माना है। इस तरह आलोच्य प्रति में कुल १४२ पृष्ठ हैं। अन्त में लेखक ने अपना परिचय इस तरह दिया है :—

साषी फल अस्तुति

पादप पेडहि सीचते पावैं अंगनि अंगनिपोष ॥
पुरजा जौ वरण ते सव मानिये संतोष ॥१॥
भक्त जिते भूलोक मे कथ्यी कौन पै जाइ ॥
समुद्र पानहु (?) करे चिरिया पेट समाइ ॥२॥
श्री मूरति सव वैष्ण लघु दीर्घ गुणनि आगाध ॥
आगे पीछे वरणते जिनि मानौ अपराध ॥३॥
फल की सोभा लाभ तरु तरु सोभा फल होय ॥
गुरु शिष्य के कीरति मे अन्तर नाहिन कोय ॥४॥
चारि युगन में जेते भगत तिनकी पद की धुरि ॥
सर्वस शिर धरि राषिहौ मेरि जीवन मुरि ॥५॥
जग कीरति मंडल उदे तीनो ताप नसाइ ॥
हरिजन के जस गावते हरि हिय अटल वसाइ ॥६॥

---

१ ये शब्द या चरण उसी लिपिकार के हैं या नहीं इस पर पहले मुझे संदेह हुआ था कि दूसरे किसी ने अपनी विद्वत्ता तो प्रकट नहीं की है, लेकिन अक्षरों को भली भांति जांच करने पर वे उसी के ज्ञात हुए।

हरिजन के जस गावते यो करे असुया आइ ॥
इहा उदर बाढे विथा अरु परलोक नसाइ ॥७॥
यो हरि प्राप्ति की आस है तौ हरिजन गुण गाइ ॥
नतरु सुकृत भुजे बीज लौ जन्म जन्म पछिताइ ॥८॥
भक्तदास संग्रह करै कथा श्रवण अनुमोद ॥
सो प्रभु प्यारो पुत्र ज्यौ बैठे हरि की गोद ॥९॥
अत्युत कुल जस एक बेरहु जाकी मति अनुराग ॥
उनिके भक्ति भजन सुमरणते निश्चै हाइ (होइ?) विभाग ॥१०॥
भक्तदाम (स?) जिनि जिनि कथ्यौ तिनिकी जुठन पाइ ॥
मो मति सार अछर द्वै किनो सिलोवनाइ ॥११॥
काहु को बल योग जप कुल करनी की आस ॥
भक्त नाम माला अगर उर बसो नारायण दास ॥१२॥

अथ टीका करण को उक्ति वरणं

रसिकाइ कविताइ जीही दीनी तिही पाइ
भइ सरसाइ हिये नव नव चाइ है ॥
उर रंग भौन मे राधिका रमण बसे
लसे ज्यौ मुकुर मध्य प्रतिबिंब भाइ है ॥
रसिक समाज मे बिराज रसराज कहै
चहै सुख सब फुले सुख समुदाइ है ॥
जन मन हरि लाल मनो हरिनाम पायो
उनिके मन हरि लीनो ताते हरि राइ है ॥१॥
इनही के दास दास प्रियादास दास जानौ
तिन लै बखानौ मानौ टीका सुखदाइ है ॥
गोर्वर्द्धन (गोवर्द्धन ?) नाथ जु के हाथ मन परयौ जाके
करयौ वास वृंदावन लीला मिलि गाइ है ॥
मति उनमान कह्यौ लह्यौ सुख संतनि कौ
अंत कौन पावै जौन गावैं हिय आइ है ॥

घटि वढि जानि अपराध मेरो क्षेमा कीजो
साधु गुण ग्राही यह मानि मैं सुनाइ है ॥२॥
कीनी भक्तमाल सु रसाल नाभा स्वामी जु नैं
तरैं जीव जाल जग जनम न पोहनी ॥
भक्ति रस बोधिनी सु टीका मति सोधिनी है
बाचत कहत अर्थ लागै अति सोहनी ॥
जो पै प्रेम लछना चाह अवगाहि जाहि
मिटैं उर दाह नेक नैन तिहु जोहनी ॥
टीका और मूल नाम भूलि जात सुनैं जब
रसिक अनन्य मुख होत विश्व मोहनी ॥३॥
नाभाजु को अविलाष पूरण लै कर्यौ मैं
तौ ताकी साखी प्रथम सुनाइ नीकी गाइ कै ॥
भक्ति विस्वास जाको ताहि सौ प्रकाश कीजे
भीजे रंग हियो लिजै सत्त निलडाइ कै ॥
समत प्रसिद्ध दश सात सत उहुतरफाल
गुण मास वदी सप्तमी बिताइ कैं ॥
नारायण दास सुखरास भक्तमाल लै कै
प्रियादास दास उर वसो रहो छाइकै ॥४॥
अगिनि जरावी लै के जल मे बुडावो
भावै सुरी लै चढावो घोरि गरल पिआइवी ॥
बिछी बिछवावो कोटि साप लपटावो
हाथी आगे डरयावो इति भीति उपिजाइवी ॥
सिंह पै खवावो चाहो भूमि गडवावो
तिषीयन पै बिधावौ मोही दुख नहि पाइवी ॥
ब्रज जन प्राण कान्ह बात यह कान करौ
भक्त सो विमुख ताकी मुख न दिखाइवो ॥५॥

इति श्री भक्तमाल मूल टीका भक्ति रस बोधिनी संपूर्णा ॥ श्री राधा गोविंद देवौ जयताम् तराम् ॥ ॥ श्री ॥ श्री ॥ श्रीकृष्ण चैतन्य नित्यानन्दाद्वैत चन्द्रेभ्यो नमः ॥ श्री गौर भक्त वृंदेभ्यो नमः ॥ श्री हरये नमः ।

आलोच्य हस्तलिखित प्रति के प्रारम्भ में ऐसा दिया हुआ है :—

श्री राधाकृष्णाभ्यां नमः ॥ अथ भक्तमाल लिख्यते टीका कवित्त दंडकः ॥ महाप्रभु कृष्ण चैतन्य मन हरन जू के चरण को ध्यान मेरे नाम मुख गाइये ॥·········

टीका नाम स्वरूप वर्णं

रचि कविताइ सुखदाइ लगे निपट सुहाऔ सचाइ पुनरुक्त लै मेटाइ है ॥·········

इसके बाद "भक्ति को स्वरूप वरणं" "भक्ति पंचरस वरणम्" "मान वरनिम्", "सतसग प्रभाव", "श्री नाभा जू के वरणम्", "भक्तमाल स्वरूप", "मूल मंगलाचरण दोहा", "टीका विशेष लक्षणं", आदि कुछ पंक्तियों में वर्णित हैं। तदनन्तर "दोहा" है। वह नीचे दिया जा रहा है :—

दोहा

मंगल आदि विचारि रह्यौ वस्तु न और अनूप ॥
हरिजन को यश गावते हरिजन मंगल रूप ॥२॥
सब संतनि निरणय कियो मथि पुराण इतिहास ॥
भजिबे को दोउ सुघर कै हरि कै (है) हरिदास ॥३॥
श्री गुरु अग्रदेव आज्ञा दइ भक्तनि को यश गाइ ॥
भवसागर के तरण को नाहिन और उपाय ॥४॥

इसके बाद "आज्ञा सभे की टीका" दी हुई है। तत्पश्चात् "श्री नाभाजू की आदि अवस्था" दी हुई है, वह इस प्रकार है :—

श्री नाभाजू की आदि अवस्था

हनुमान वंसहि जन्म प्रसिद्ध जाको भयो
हगहीन सो नवीन बात धारिहै ॥
उमर बरस पांच मानि कै अकाल आय
माता बन छाडि गइ बिपति बिचारियै ॥
कीन्ह औ अगर ताहि कगर दरस दियो
लियो जो अनाथ जानि पुछी सो उचारियै ॥
कूडे सिद्ध जल लै कमंडल सो सिंचे नैन
चैन भयो खुले चष जोरि कौ निहारीयै ॥१२॥

पाय परे आंसु आय कृपा करि संग लाय
कीन्ह आज्ञा पाय मंत्र अगर सुनायो है ॥
गल्ता प्रकट साधु सेवा सो बिराजमान
जान अनुमान ताहि टहल लगायो है ॥
चरण प्रछाल संत सीत सो अनत प्रीति
जानि रस रीति ताते हृदे रंग छायो है ॥
भइ बढ वारता को पावै कौन वारापार
अैसो भक्त रूप सो अनूप गिरा गायो है ॥१३॥

आलोच्य हस्तलिखित प्रति में वर्णित कुछ सतों का वृत्तान्त नीचे दिया जा रहा है :—

श्री वल्लभाचार्य्य जू की टीका

हिय मे स्वरूप सेवा करि अनुराग भरे
हरे अबर जीवनिकौ जीवन को दीजियै ॥
सोइ लै प्रकास घर घर मे विलास कियो
अतिही हुलास फल नैननिकौ लीजियै ॥
चातुरी अवधि नेकु आतुरी न होत क्यौहु
चहु दिस नाना राग भोग सुष कीजियै ॥
वल्लभजू नाम लियो पृथु अभिराम रीति
गोकुल मे धाम जानि सुनि मति भीजियै ॥१८३॥

....

नंददास जू की टीका

निक टेवरली गाव तामे सोइ वेलि रहै
नंददास विप्र भक्त साधु सेवा रागी है ॥
कयो द्विज दोष तासो मुइ एक बछिया
लै डारि दइ पेत मास्क गारि एक लागि है ॥
हत्या को प्रसंग करै संत जन्हु सो लरै
हिंदु सो ण मारै यह बडोइ अभागी है ॥
षेत पर आइ वाहि लइ है जिवाय देषि
परे आइ पाइ आइ भक्ति मति पागी है ॥२४४॥

रैवीदास (रैदास ?) जू की टीका

रामानंद जू कौ शिष्य ब्रह्मचारी रहै एक
गहै वृति चुकटिकौ कहे तासो बाणी यै ॥
करो अंगीकार सिधो कहि दस बीस बार .
बरषे प्रबल धार तामै बापै आनियै ॥
भोग को लगावै प्रभु ध्यान मे न आवै
अरे कैसे करि ल्यावै जाइ पुछि नीच मानियै ॥
दियो श्राप भारी बात सुनि नाइ मारी
घटी कुल मै उतारी देह सोइ याको जानियै ॥२५५॥
माता दुध प्यावै याको कछु वोहु न भावै
सुधि आवै य पाछिली सुसेवा को प्रताप है ॥
भइ नभ वाणी रामानंद मे न जानी
बडो दंड दियो मानि वेगि आयो चल्यौ आप है ॥
दुषी पितु मातु देषि धाय लपटाय पाय
कीजिये उपाय किये शिष्य गयो पाप है ॥
स्तन पान कियो जियो लियो इन्हे ईस जानि
निपट सुजाण फेरि भूले भयो ताप है ॥२५६॥
हुतो धन माल कण दियोहु न तिया पति
सुण जाल अहो कियो यव न्यार ही ॥
गाठै पगदासी कहु बात न प्रकासी ल्यावै
षाल करै जुती साधु संत को सवार है ॥
बडेइ रैदास हरिदासहु सो प्रीति करि
पिता न सुहाइ दइ ठौर पिछवार ही ॥
कारि एक छान किये सेवा को स्थान रहै
चौडे आप जान बाट पाव यहै धारही ॥२५७॥

....

श्री कबीर जू की टीका

अतिही गंभीर मति सरस कबीरहि बोल्यो
भक्ति भाव जाति पाति सब टारियै ॥
भइ नभ बाणी देह तिलक रमाणी कहि
करौ गुरु रामानंद गले माला धारियै ॥
देखे नहि मुख मेरो मानिके मलेक्ष मोको
जात ना न्हान्ह गंगा कहि मग तन डारियै ॥
रजनी को शेष यो आवेश सो चलत आप
परे पग राम कहै मत्र सो विचारियै ॥२६४॥

कीनी वही वात माला तिलक बनाइ गात
मानि उतपात माता सोर कियो भारीयै ॥
पहुचि फुकार रामानंद जु के पास
आनि कहै कोउ पुछे तुम नाम लै उचारियै ॥
ल्यायो जु पकरि वाको कब हम कियो सिष्य
ल्याय करि परदा मैं पुछि कहि डारियै ॥
राम नाम मत्र एहि लिष्यौ सब तंत्रनि मैं
षोलि पट मिलै साचो मति यहै धारियै ॥२६५॥

बुनै तानो बाणौ हिये राम मडराणे कहि
कैसे कै वषाणी वह रीति कछु न्यारी है ॥
उतनोइ करै यामे तन निर्वाहि होइ
मोइ गइ और वात भक्ति लागि प्यारियै ॥
ठाढे मंढि माफ पट वेचन ले जन कोउ
आयो मोको देहु देह मेरि हे उघारियै ॥
लाग्यौ देन आधो फार आधो सो न काम होत
दियो सब डारि आपै हरि उर धारियै ॥२६६॥

....

हूँ के पिसाणे द्विज निज चारि विप्रनि कै
मुंडनि मुडाय वेष सुंदर वनाये है ॥

दुरि दुरि गावनि मे (मैं) नावनि को पुछि पुछि
नाम लै कबीर जु को झूठो न्यौति आये है ॥
आये सुनि साधु सब एतौ दूरि गयो कहुं
चहुंदिश संतनि के फिरे हरि धाये है ॥
इनही को रूप धरि न्यारी न्यारी ठौर बैठे
ये उ मिलि गय बीके पोषिकें रिझाये है ॥२७६॥

श्री पीपाजु (जू ?) की टीका

गगरौण गढ बढ पीपा नाम राजा भयो
ल्यो पण देवी सेवा रंग चढ्यौ भारीयैं ॥
आयो पुर साधु सिवो दियो योइ सोइ लियो
कियो मन माझ प्रभु बुद्धि फेरि डारियैं ॥
सोयो निसि रोवो देषि सुपनौ बिहाल अति
प्रेत विकराल देह धरिके पछारियैं ॥
भवण सुहाइ कछु चहु पाइ परि गइ
नइ रीति भइ याहि भक्ति लागी प्यारियैं ॥२७८॥
पुछ्यौ हरि पाइवे की मग जगदवी कही
सही रामानंद गुरु करि प्रभु पाइयैं ॥
लोग आन्यौ बौरो भयो गयो य काशीपुरी
फुरी मति अति आयो जाहा हरि गुग गाइयैं ॥
द्वार मे न आण देत आज्ञा इश लेत
कही राजा सो ण हेत सुनि सबहि लुटाइयैं ॥
कह्यौ कुप गिरौ चले गिरण प्रसन्न हिये
जिये सुष पाये ल्याये दरस दिषाइयैं ॥२७९॥

....

श्री धना जु (जू ?) की टीका

पेल की तौ बात कही प्रथम कवित्त माझ
और एक भइ सुनौ प्रथम सुरीति है ॥

श्री कबीर जू की टीका

अतिही गंभीर मति सरस कबीरहि बोलियो

भक्ति भाव जाति पाति सब टारियै ॥

भइ नभ वाणी देह तिलक रमाणी कहि

करौ गुरु रामानंद गले माला धारियै ॥

देखे नहि मुख मेरो मानिके मलेक्ष मोको

जात ना न्हान्ह गंगा कहि मग तन डारियै ॥

रजनी को शेष यो आवेश सो चलत आप

परे पग राम कहै मत्र सो बिचारियै ॥२६४॥

कीनी वही बात माला तिलक बनाइ गात

मानि उत्पात माता सोर कियो भारीयै ॥

पहुचि फुकार रामानंद जु के पास

आनि कहै कोउ पुछे तुम नाम लै उचारियै ॥

ल्यायो जु पकरि वाको कब हम कियो सिष्य

ल्याय करि परदा मैं पुछि कहि डारियै ॥

राम नाम मत्र एहि लिख्यौ सब तंत्रनि मैं

षोलि पट मिलै साचो मति यहै धारियै ॥२६५॥

बुनै तानो वाणौ हिये राम मडराणे कहि

कैसे कै बषाणी वह रीति कछु न्यारी है ॥

उतनोइ करै यामे तन निर्वाहि होइ

भोइ गइ और वात भक्ति लागि प्यारियै ॥

ठाढे मढि माझ पट वेचन ले जन कोउ

आयो मोको देहु देह मेरि हे उघारियै ॥

लाग्यौ देन आधो फारि आधो सो न काम होत

दियो सब डारि आपै हरि उर धारियै ॥२६६॥

....

ह्वै कै षिसाणे द्विज निज चारि विप्रनि के

मुंडनि मुडाय वेष सुंदर बनाये है ॥

दुरि दुरि गावनि मे (मै) नावनि को पुछि पुछि
नाम लै कबीर जु को झुठो न्यौति आये है ॥
आये सुनि साधु सब एतो दूरि भयो कहुं
बहुदिस संतनि कै फिरे हरि धाये है ॥
इनही को रूप धरि न्यारी न्यारी ठौर बैठे
ये उ मिलि मय नीके पोषिकै रिझाये है ॥२७६॥

श्री पीपाजु (जू ?) की टीका

गगरौण गढ बट पीपा नाम राजा भयो
लयो पण देवी सेवा रंग चढ्यौ भारीयै ॥
आयो पुर साधु सिधो दियो योइ सोइ लियो
कियो मन माझ प्रभु वुद्धि फेरि डारियै ॥
सोयो निसि रोयो देषि सुपनौ विहाल अति
प्रेत विकराल देह धरिके पछारियै ॥
श्रवण सुहाइ कछु चहु पाइ परि गइ
नइ रीति भइ याहि भक्ति लागी प्यारियै ॥२७८॥
पुछ्यौ हरि पाइवे की मग जगदवी कही
सही रामानंद गुरु करि प्रभु पाइयै ॥
लोग जान्यौ वौरो भयो गयो य काशीपुरी
फुरी मति अति आयो जाहा हरि गुन गाइयै ॥
द्वार मे न जाण वेत अज्ञा इस लेत
कही राजा सो ण हेत सुनि सबहि लुटाइयै ॥
कह्यौ कुप गिरौ चले गिरण प्रसन्न हिये
जिये सुष पाये ल्याये दरस दिषाइयै ॥२७९॥
....

श्री धना जु (जू ?) की टीका

षेत की ती बात कही प्रथम कवित्त माझ
और एक भइ सुनौ प्रथम सुरीति है ॥

आये साधु विप्र धाम सेवा अभिराम करें
करें ढिग आइ कहि मोहो दीजै प्रीति है ॥
पाथर लै दियो अति सावधान कियो यह
छाती लाय लियो सब जैसी नेह नीति है ॥
रोटी धरि आगे मुख मुदि लियो परदा कै
छियो नहि टूक देखि भइ बडी भीति है ॥३०२॥
बार बार पाव परे अरे मुख ख्यात जि धरें
हिये साचो भाव पाइ प्रभु प्यारीयें ॥
छाक निति आवैं नीके भोग को लगावैं योइ
छोडे सोइ पावे प्रीति रीति कछु न्यारियें ॥
याको कोउ बाय ताको टहल बनाइ करें
ल्यावत चराइ गाइ हरि उर धारियें ॥
आयो फिरि विप्र नेह खोजहु न पायो कहु
सरसायो बात लैं दिखायो स्याम जारीयें ॥३०३॥
....

(क्रमशः)

प्राचीन भारत में स्त्रियों की अस्त्र-शिक्षा

कुमारी गौरी रानी बैनर्जी, एम० ए०

भारतवर्ष में दीर्घकाल से नारी जाति के सम्बन्ध में जो एक भ्रान्त धारणा बद्धमूल हो चुकी है वह यह है कि स्त्री-जाति दुर्बल है। बाल्यावस्था से ही हम अबला और नारी को पर्यायवाची शब्द मानते आये हैं। परन्तु क्या हमने कभी इस बात पर भी विचार किया है कि स्त्रियाँ प्राचीन काल से ही बलहीना थीं अथवा वे सामाजिक कुसंस्कारों के करालकवल में पतित होकर अपने शारीरिक तथा मानसिक बल से हाथ धो बैठी हैं? यदि हम प्राचीन भारत के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो हमें यह ज्ञात होगा कि जिस नारी जाति को आज हम अबला कहकर पुकारते हैं उसी ने एक दिन इस भारतवर्ष में अपने बलवीर्य का परिचय दिया था। परन्तु यह उस समाज तथा काल की बात है जिसमें स्त्रियाँ पुरुषों के विलास की सामग्री नहीं मानी जाती थीं। यह उस समाज तथा युग की बात है जिसमें स्त्रियां समाज का एक आवश्यक अंग थीं तथा उसके कल्याणसाधन करने में वे पुरुषों की सहायता किया करती थीं। भारतवर्ष के उस गौरवमय युग तथा समाज में यही स्त्रियां जो आज पटाके की ध्वनि सुनकर मूर्च्छित होती हैं तथा अबला कहलाती हैं अस्त्रविद्या में निपुणा थीं। इस संक्षिप्त प्रबन्ध में भारत में स्त्रियों की अस्त्रशिक्षा तथा रणनैपुण्य के विषय में आलोचना की जायगी।

हिन्दुओं के अति पुरातन ग्रन्थ ऋग्वेद में ऐसी घटनाओं का उल्लेख पाया जाता है जिससे यह ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में स्त्रियां आवश्यकता पड़ने पर अस्त्र चला सकती थीं। कभी कभी स्त्रियां अपने पति के साथ युद्ध करने के लिये रणभूमि में जा डटती थीं। राजा खेल की स्त्री विश्पला तो ऐसी ही एक वीर रमणी थीं। उन्होंने अपने पति के साथ समर में भाग लिया था तथा उस युद्ध में उनका एक पैर नष्ट हो जाने पर अश्विनी कुमारों ने एक लौह निर्मित पैर वहां संयोजित किया था।[1] जब दस्युगण मुद्गल के गोधन का अपहरण कर भागे जा रहे थे उस समय उन्होंने रथ पर चढ़ कर उनका पीछा किया था। उनकी स्त्री मुद्गलानी ने रथ हांकने का कार्य सम्पादन किया था।[2] केवल इतना ही नहीं उन्होंने अपने पति का धनुष लेकर शत्रुओं पर तीरों की

---

१ ऋग्वेद १, ११२, १० ; ११६, १५ ; ११७, ११ ; ११८, ८ ; १०, ३९, ८

२ रथीरभून्मुद्गलानी गविष्टौ भरे कृतं व्यचेदिन्द्रसेना

(ऋग्वेद १०, १०२, २)

वर्षा की थी जिससे वे पराजित होकर भाग गये थे। इस प्रकार मुद्गलानी ने गोधन का उद्धार किया था३। ऋग्वेद४ में नैशान्धकार का अपसारण करनेवाली उषा की उपमा शत्रु का पीछा करने वाले एक योद्धा से दी गई है। यह सत्य है कि उषा कोई वास्तविक व्यक्ति नहीं थी। ऋग्वेद के रचयिताओं ने प्रकृति के इस विकार वा रूप को अपनी कल्पना द्वारा एक मूर्तिमती स्त्री के आकार में परिणत किया है। परन्तु यदि उस काल में स्त्री योद्धाओं की प्रथा न होती तो ऋग्वेद के मंत्र रचयिता इस सूक्त में उषा को एक शत्रुध्वंसकारिणी नारी के रूप में कल्पना नहीं करते। वेद५ में सरस्वती देवी को वृत्रघ्नी कहा गया है। वाग्देवी६ ऋग्वेद में जगत् के कल्याण के लिये धनुष की ज्या का कर्षण करती हुई दृष्टि गोचर होती हैं। इन युद्ध निरता देवी मूर्त्तियों की कल्पना वास्तविकता की भित्ति पर स्थित है। वैदिक काल में स्त्री योद्धाओं के आधार पर ही उनकी कल्पना की गई है७। जिस समय आर्यों ने भारतवर्ष में सपरिवार प्रवेश किया उस समय दिन रात सूच्यग्रपरिमित भूमि के लिये शत्रुओं के साथ उनका संघर्ष होना अवश्यम्भावी था। ऐसी अवस्था में वे यदि अस्त्रप्रयोग तथा आत्मरक्षा के उपायों से परिचित न होतीं तो वे पुरुषों के लिये भारस्वरूपा और उनकी अग्रगति में विघ्न का कारण होतीं।

स्त्रियों की अस्त्रशिक्षा की प्रथा केवल वैदिक काल में ही सीमित न रही। इसकी धारा परवर्त्ती काल में भी चली आई। ईसा से प्रायः ४०० वर्ष पूर्व कौटिल्य-रचित अर्थशास्त्र में अस्त्रधारिणी स्त्रियों का उल्लेख पाया जाता है और यह पता लगता है कि राजप्रासाद में धनुषधारिणी स्त्रियां पहरा देती थीं८। मेगास्थनीज ने अपने समय के भारतवर्ष की अवस्था का उल्लेख करते हुए कहा है कि

---

३ ककर्दवे वृषभो युक्त आसीदवावचीत्सारथिरस्य केशी।
दुधेर्युक्तस्य द्रवतः सहानस ऋच्छन्ति ष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्॥
(ऋग्वेद १०, १०२, ६)

४ वहन्ति सीमरुणासो रुशन्तो गावः सुभगामुर्विया प्रथानाम्।
अपेजते शूरो अस्तेव शत्रून्बाधते तमो अजिरो न वोळ्हा॥ (ऋग्वेद ६, ६४, ३)

५ उत स्या नः सरस्वती घोरा हिरण्यवर्तनिः। वृत्रघ्नी वष्टि सुष्टुतिं (ऋग्वेद ६, ६१, ७)

६ अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावा पृथिवी आ विवेश (ऋग्वेद १०, १२५, ६)

७ पुराणों में दश प्रहरणधारिणी दुर्गामाता तथा खड्गहस्ता कालिकादेवी की कल्पना भी प्राचीन काल में स्त्री योद्धाओं के अस्तित्व की सूचना देती है।

८ शयनादुत्थितः स्त्रीगणैर्धन्विभिः परिगृह्येत
अर्थशास्त्र १, २१

मृगया के समय स्त्रियां पुरुषों के साथ जाती थीं। स्त्रियां रथ, अश्व और हाथियों पर आरोहण करती थीं तथा विविध प्रकार के आयुधों से ऐसी सुसज्जित होती थीं कि मानो भावी दिग्विजय के लिये यात्रा कर रही हों[९]। ईसा की तीसरी शताब्दी में रचित नाट्यशास्त्र में भी राज-परिवार में आयुध-धारिणी स्त्रियों का उल्लेख मिलता है। ये स्त्रियां आयुधिका कहलाती थीं। भाण्डारों की देखरेख का भार इन्हीं पर था। केवल इतना ही नहीं अन्न, फल, मूल, गन्ध-द्रव्य, आभूषण आदि की रक्षा का भार इन्हीं पर अर्पित था[१०]। यदि वे अस्त्रविद्या में निपुणा न होतीं तो बहुमूल्य आभरणों की रक्षा का भार इनको नहीं दिया जाता क्योंकि वे तस्करों के हाथ से उनकी रक्षा न कर सकतीं। ईसा की सातवीं शताब्दी में महाकवि बाण विरचित कादम्बरी में सशस्त्रा प्रतिहारी[११] का वर्णन तो नारी जाति की दुर्बलता की कल्पना भी मन में उठने नहीं देता। संस्कृत नाटकों में भी अस्त्रशस्त्रों से सुसज्जिता प्रतिहारी दीर्घकाल तक (भारतीय इतिहास के मध्ययुग में) दृष्टिगोचर होती हैं।

प्राचीन भारत के राजघरानों में तो स्त्रियों को निश्चय ही अस्त्रशिक्षा दी जाती थी नहीं तो उस काल में निम्नलिखित राजमहिषियों का राज्यशासन तथा युद्ध में भाग लेना असम्भव था। ईसा से २०० वर्ष पूर्व सातवाहनवंश की रानी नयनिका[१२], ईसा की सातवीं शताब्दी में चालुक्यवंशीया विजयभट्टारिका[१३], ९वीं शताब्दी में उड़ीसा की त्रिभुवन देवी[१४], १०वीं शताब्दी में कश्मीर में सुगन्धा

---

९ Of the women some sat on chariots, some on horses and some even on elephants and they were equipped with weapons of every kind as if they were going on campaigns."

Macrindle : Megasthanese Fragments XXVII.

१० भाण्डागारेष्वधिकृताः सायुधा विहितास्तथा ।
फलमूलौषधीनां च तथा चैवाधिकारिणः ॥ (५५)
गन्धाभरणमाल्यानां वस्त्राणां चैव चिन्तकाः ।
महान्त्यास्तथा युक्ता स्त्रियो ह्यायुधिकाः स्मृताः ॥ (५६)
(नाट्यशास्त्र परिच्छेद २४)

११ वामपार्श्वावलम्बिना कौक्षेयकेण संनिहित विषधरेव चन्दनलता भीषणरमणीयाकृतिः अविरलचन्दनानुलेपन धवलितस्तनतटोन्मज्जदैरावत कुम्भमण्डलेव मन्दाकिनी, चूडामणि प्रतिबिम्ब च्छलेन राजाज्ञेव मूर्तिमती राजभिः शिरोभिरुह्यमाना, शरदिव कलहंसधवलाम्बरा, जामदग्न्य परशुधारेव वशीकृत सकल राजमण्डला, विन्ध्यवनभूमिरिव वेत्रलतावती, राज्याधिदेवतेव विग्रहिणी प्रतिहारी समुपसृत्य क्षितितल निहितजानुकरकमला सविनयमब्रवीत् (एम, आर काले द्वारा सम्पादित कादम्बरी पृष्ठ १६-१७)

१२ Archæological survey of Western India V page 88

१३ Indian Antiquary VII page 163

और दिद्दा[१५] आदि रानियों ने शासन किया था। १०४१ ई० में मैसूर की एक वीरांगना की सिद्धलहल्ली ग्राम में लड़ाई में मृत्यु हुई थी। १२६४ ई० में कर्नाटक की एक वीर रमणी को राज्य की ओर से उसकी वीरता के पुरस्कार-स्वरूप एक नासिका का आभूषण दिया गया था। १४४६ ई० में शिकोगा ताल्लुक में अपने पिता की हत्या का बदला लेने के लिये युद्ध करती हुई एक वीर महिला की मृत्यु हुई थी[१६]।

राजपूताने के इतिहास में भी बहुत सी वीराङ्गनाओं का उल्लेख मिलता है। सामरसी की मृत्यु के बाद उनकी स्त्री कर्मादेवी ने मेवाड़ का शासन अपने हाथ में लिया तथा उन्होंने युद्ध में कुतुबुद्दीन का सामना किया (Tod Annals vol I pages 303-4)। जब गुजरात के शासक बहादुरशाह ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया तो रानासांगा की विधवा स्त्री कर्णावती ने चित्तौड़ की रक्षा के लिये युद्ध किया और सैन्य-सामन्तों को युद्ध के लिये उत्साहित किया था। जवाहिर बाई नाम की राणा सांगा की दूसरी पत्नी ने भी चित्तौड़गढ़ की रक्षा के लिये युद्ध किया था।

महाराष्ट्र देश के इतिहास में भी ऐसी बहुत सी वीर रमणियों का उल्लेख मिलता है। सन् १७०० में कोल्हापुर के छत्रपति राजाराम की मृत्यु के पश्चात् उनकी विधवा स्त्री ने औरङ्गजेब के विरुद्ध मराठों का सगठन किया था। पेशवा बालाजी विश्वनाथ की कन्या अणुबाई घोरपड़े ने ३० वर्ष तक (१७४५-७५) शासन किया तथा लड़ाइयों में भाग लिया था। अहल्याबाई होल्कर ने २५ साल की अवस्था में राज्यशासन का भार लिया था (डा० ए० एस० अल्टेकर रचित The Position of women in Hindu Civilisation पृष्ठ २२२)।

प्राचीन भारत में केवल आर्यरमणियां ही अस्त्रविद्या में निपुण नहीं थीं परन्तु अनार्य स्त्रियां भी अस्त्र शिक्षा प्राप्त करती थीं और वे युद्ध कर सकती थीं। ऋग्वेद में[१७] (५,३०,९) अनार्य स्त्री सैनिकों का उल्लेख है। रामायण से यह ज्ञात होता है कि रावण के राज्य में सायुधा रक्षिकाओं की व्यवस्था थी। ये बन्दिनियों के कार्यकलाप की निगरानी करती थीं। वे शूल, मुद्गर आदि का प्रयोग

---

१४ Journal of the Behar and Orissa Research Society II 422-23

१५ राजतरंगिणी ६

१६ South Indian Epigraphical Reports for 1921, No 73 : Epigraphia Carnatica I. No. 75.

Archæological Survey Annual Report for 1928-9. p. 117, Epigraphia Carnatica Vol. VII. Shikarpur No 2.

१७ स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे किं मा करन्नबला अस्य सेनाः

करने में निपुणा थीं१८। अशोकवाटिका में सीता जी पर पहरा देने का काम इन्हीं पर न्यस्त था। यदि ये रक्षिकायें अस्त्रविद्या में चतुर न होतीं तो क्या बन्दिनियों की, (जो कि प्रति मुहुर्त भाग निकलने की चेष्टा करती थीं) निगरानी का भार इन पर न्यस्त होता ? रामायण में ताड़का को राक्षसी कहा गया है। परन्तु यह राक्षसी तो आर्यों के दृष्टिकोण से एक अनार्य रमणी की प्रतिमूर्त्ति है। उसका श्रीराम के साथ प्रबल युद्ध उसकी वीरता का परिचायक है। श्रीरामचन्द्र जैसे वीर भी बड़ी कठिनाई से उसको पराजित कर सके थे१९।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में स्त्रियों में अस्त्रशिक्षा की प्रथा प्रचलित थी। परन्तु इस प्रसङ्ग में इतना कहना आवश्यक है कि सभी परिवार में स्त्रियां अस्त्रशिक्षा नहीं प्राप्त करती थीं। जब से बाल्यविवाह की प्रथा का सूत्रपात हुआ तभी से स्त्रियों के मानसिक तथा शारीरिक विकास के मार्ग में बहुत सी बाधायें उत्पन्न होने लगीं। विवाह के पूर्व अस्त्रशिक्षा के लिये अवसर पाना उनके लिये कठिन था। विवाह के बाद घर-गृहस्थी के काम-काज की देख-रेख में बहुत सा समय लग जाता था। केवल धनी परिवार में ही विवाह के बाद भी घर के काम-काजों से बहुत सा अवकाश मिलना सम्भव था। परन्तु इन परिवारों ने अधिकतर ललितकलाओं की ओर ध्यान दिया था अस्त्रशिक्षा की ओर नहीं। क्रमशः इसका परिणाम यह हुआ कि अस्त्रशिक्षा स्त्रियों के लिये अनुपयोगी प्रतीत होने लगी तथा कुसुमकोमला, बलहीना नारियों की संख्या बढ़ती गई। परन्तु राजघरानों में अस्त्रशिक्षा का प्रचार दीर्घकाल तक बना रहा। इसका कारण सम्भवतः यह था कि क्षत्रिय समाज में बाल्यविवाह की प्रथा को दीर्घकाल तक स्थान नहीं मिला२०। क्षत्रिय-समाज तथा अधिकतर राजघरानों का वातावरण स्त्रियों की अस्त्रशिक्षा के अनुकूल था। उन परिवारों में अस्त्रविद्या की चर्चा रहने के कारण स्त्रियों पर भी उसका प्रभाव पड़ा तथा वे भी उसमें भाग लेती रहीं२१।

---

१८ शूलमुद्गर हस्ताश्च .... (१५)

रामायण सुन्दरकाण्ड सर्ग १७

१९ वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड सर्ग २६।

२० संस्कृत नाटकों की क्षत्रिय नायिकायें प्राप्तयौवना होने पर विवाह करती थीं। ब्राह्मण स्मृतिकार ऋषियों से अनुमोदित बालविवाहादि नियमों के पालन कराने में दीर्घकाल तक सफल न हुए क्योंकि उनको क्षत्रिय भूपतियों पर अपनी भरणपोषण के लिये निर्भर रहना पड़ता था। अतएव अन्य समाज में यह प्रथा सुप्रचलित होने पर भी क्षत्रियों में दीर्घकाल तक न हुई।

२१ जब से पर्दा की प्रथा प्रचलित हुई तब से साधारण घराने की स्त्रियों के लिये किसी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करना कठिन हो गया। विद्योपार्जन के लिये घर में शिक्षक नियुक्त करना अवश्यम्भावी था। परन्तु यह धनी

अतः यह स्पष्ट है कि नारी जाति अस्त्रविद्या ग्रहण करने में प्राचीन काल से ही समर्थ थी। स्त्रियों की अस्त्रशिक्षा के लोप होने का कारण उनकी निर्बलता नहीं किन्तु समाज के नियमों की कठोरता मात्र है। यदि राजघरानों की स्त्रियां अस्त्रशिक्षा प्राप्त कर सकती थीं तो साधारण घराने की स्त्रियां किसी दूसरी धातु की तो बनी ही नहीं थीं जो इस कार्य के लिये निर्बल प्रतीत होतीं। सामाजिक नियमों की कठोरता के बन्धन ने साधारण परिवार की स्त्रियों को पंगु बना दिया और समाज तथा साहित्य स्त्री-जाति की दुर्बलता में ही उसके सौन्दर्य का अनुभव करने लगा। इसका फल यह हुआ कि धीरे-धीरे नारियां आत्मरक्षा के लिये भी पुरुषों का मुँह ताकने लगीं और अपना शारीरिक तथा मानसिक बल भी खो बैठीं२२।

परिवार के लिये ही सम्भव था। क्षत्रिय घरानों में पुरुष अधिकतर अस्त्रविद्या में निपुण होते थे। अतएव दरिद्र क्षत्रियों की स्त्रियां अपने आत्मीयों से अस्त्रशिक्षा प्राप्त कर सकती थीं।

२२ आजकल तो हमारे समाज की ऐसी दुरवस्था हो रही है कि यदि किसी घर में कन्या को अस्त्रशिक्षा दी जाय तो पड़ोस की मातायें तथा बहिनें घर वालों पर क्रूरकटाक्षपात करती हैं। उनका कहना है कि अस्त्र हाथ में लेना स्त्रियों के लिये पाप है। हथियार तो पुरुषों की चीज़ है वह उन्हीं के हाथों में जचती है। स्त्रियों को तो कुसुमकोमला होना चाहिये फिर उनके हाथों में अस्त्र कैसे अच्छे लग सकते हैं? अज्ञानान्धकार में पतित इन स्त्रियों के विचार में तो यदि कोई दुर्जन किसी स्त्री पर अत्याचार करे तो उसका छाती पीटकर रोना ही स्त्रीसुलभसौकुमार्य के अनुरूप है परन्तु अस्त्रविद्या में निपुणा होकर उस पापिष्ठ को दण्ड देना उसका कार्य नहीं। ऐसा करने पर तो वह पुरुष को ही लजाने लगेगी। अति अद्भुत हैं उनके स्त्री-पुरुषों के व्यवधान के विचार।

विविध-विषय

(१)

भारती महाविद्यालय

एक दिन वह था जब भारतवर्ष धर्म, ज्ञान, समर, शौर्य और देश-सेवा के लिये संसार में पूज्य था। इसकी आध्यात्मिकता और ज्ञान आज पृथ्वी के श्रेष्ठ जनों का ध्यान आकर्षित करते हैं और इसकी वीरता की कहानियों से इतिहास के पृष्ठ भरे पड़े हैं। एक दिन वह था जब यहां के श्यामल तपोवन धर्म और शिक्षा के केन्द्र थे ; तीर्थस्थान के मन्दिर साधुसमागम से पूर्ण थे और कृषि तथा वाणिज्य से यहां की प्रजा सम्पत्तिशाली और सुखी थी। आज भारत के तीर्थस्थान उसी की घोषणा कर रहे हैं। आज तक्षिला और नालन्दा विश्वविद्यालय जिनकी यशगाथा सुदूर चीन और तिब्बत में पहुँची थी स्तूपाकार बने हैं।

भारत के गौरवपूर्ण दिनों का पुनरुत्थान कर उसे और भी गौरवपूर्ण केवल यहां के शिक्षा-केन्द्र ही बना सकते हैं। वह शिक्षा-केन्द्र भारत सन्तानों को सर्वांगीन शिक्षा देकर उन्हें धर्म, ज्ञान, शौर्य, देशसेवा, कृषि, शिल्प, वाणिज्य आदि की पराकाष्ठा में पहुँचावेगा। आर्य पुत्रों और आर्य कन्याओं को इस तरह की शिक्षा देने के लिये ही इस विश्वविद्यालय की परिकल्पना की गई है। इस विराट कल्पना को कार्यकारिणी रूप में परिणत करने के लिये बहुत अर्थ और कर्मियों की आवश्यकता है। लेकिन चुप-चाप बैठे रहने से यह काम कभी पूर्ण नहीं हो सकता। एक छोटे बीज से ही बड़ का भारी वृक्ष उत्पन्न होता है और सर्वोपरि तो उस परमेश्वर की शुभेच्छा और आशीर्वाद ही है।

भारतीय धर्म, कर्म, ज्ञान और भावधारा पर निर्भर होकर इस शिक्षायतन की शिक्षा पद्धति और कार्यतालिका बनाई जावेगी। इस महाविद्यालय का उद्देश्य और उसकी कार्यपद्धति संक्षेप में दी जा रही है :—

कुछ महीनों के पूर्व इन्डियन रिसर्च इन्स्टिट्यूट के साधारण सम्पादक श्रीयुत सतीश चन्द्र शील ने इस तरह के विश्वविद्यालय की परिकल्पना की और उन्होंने सर मन्मथ नाथ मुकरजी और डा० श्यामा प्रसाद मुकरजी तथा और और दूसरे विद्वानों को बतलाया जिन्होंने उसका अनुमोदन किया। तदनन्तर विद्योत्साही महोदयों की जानकारी के लिये इन्डियन रिसर्च इन्स्टिट्यूट में एक सभा हुई। महामहोपाध्याय विधुशेखर शास्त्री जी ने सभापति का आसन ग्रहण किया। उसके बाद सर मन्मथ

नाथ मुकरजी के सभापतित्व में दो सभाएँ हुईं और उसमें कार्यकारी समिति के सभ्यों का चुनाव हुआ। तदनन्तर शुभ अक्षय तृतीया (२६ एप्रेल) के दिन महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन सरस्वती के सभापतित्व में एक और सभा हुई और उसमें इस महाविद्यालय की सूचना दी गई। उसके बाद एक दूसरी सभा में कार्यपद्धति और नियमावली स्वीकृत होने पर रथ-यात्रा के पुण्य दिवस में इस महाविद्यालय के "भारती गर्ल्स कालेज" की स्थापना हुई। कलकत्ते के २६, विवेकानन्द रोड के भवन में सर मन्मथ नाथ मुकरजी ने उसका उद्बोधन किया। कई विद्वान् और विदुषियों ने उसमें भाग लिया। इसके पहले सर मन्मथ नाथ मुकरजी के सभापतित्व में एक दूसरी सभा में नीचे लिखे प्रस्ताव पेश किये गये :—

(१) हिन्दू बालक और बालिकाओं को विद्यारम्भ से ही आर्य भावपूर्ण शिक्षा देने के लिये एक प्राइमरी एजुकेशन बोर्ड (प्राथमिक शिक्षा संघ) की स्थापना की जाय। हिन्दू मिशन के अध्यक्ष स्वामी सत्यानन्द महाराज ने उस मिशन द्वारा परिचालित लगभग ५२ प्राथमिक और मध्य अंग्रेजी विद्यालय और कुमार विश्वनाथ राय ने इसी तरह की कई पाठशालाओं को इस विद्यालय में शामिल करने को कहा—यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया।

(२) श्रीयुत हीरेन्द्र लाल सरकार इस विश्वविद्यालय के अन्तर्गत कृषि-विद्यालय के लिये १०।१५ हजार रुपय देने को स्वीकार हुए। धन्यवाद सहित वह स्वीकार किया गया और आप कार्यकारी समिति में ले लिये गये।

(३) महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन सरस्वती ने निज प्रतिष्ठित "विश्वनाथ आयुर्वेद महाविद्यालय" को भारती महाविद्यालय के आयुर्वेद विद्यालय स्वरूप देना स्वीकार किया। धन्यवाद सहित यह प्रस्ताव भी स्वीकार किया गया।

(४) डा० बी० एस० मुंजे ने अपने सामरिक विद्यालय की शाखा स्वरूप बंगाल में एक सामरिक विद्यालय खोलने में सहायता देने का वचन दिया। आप सधन्यवाद उस सामरिक विद्यालय के सभापति मान लिये गये।

(५) श्रीयुत भवानी चरन लाहा संगीत और कला विद्यालय के सभापति चुने गये।

(६) श्रीयुत पद्मराज जैन ने निज परिचालित शिल्पविद्यालय को इसमें शामिल करने का वचन दिया। आपको धन्यवाद दिया गया।

(७) कुमार विष्णुप्रसाद राय ने केवल नाम मात्र किराये पर २६, विवेकानन्द रोडस्थित कमला-पाठशाला-भवन को भारती गर्ल्स कालेज के लिये दिया। आप सधन्यवाद कार्यकारी समिति में ले लिये गये।

इस प्रकार इस महाविद्यालय की सूचना की गई है। यह महाविद्यालय कलकत्ते के पास भागीरथी तीर में किसी विस्तीर्ण भू-भाग में हो उसकी व्यवस्था की जा रही है।

इस महाविद्यालय के तीन कार्य-धारा रहेंगे :—

(क) विभिन्न प्रकार की शिक्षा देने के लिये इसके अन्तर्गत आदर्शस्वरूप कुछ स्कूल और कालेज रहेंगे।

(ख) जो विद्यालय इस महाविद्यालय की कार्य-सूची और विशेषता अंशतः या पूर्ण रूप से स्वीकार करेंगे वे दूसरे विश्वविद्यालयों के आधीन रहने पर भी इस महाविद्यालय से संयुक्त रह सकते हैं।

(ग) इस महाविद्यालय में विभिन्न परीक्षाएँ होंगी। छात्र और छात्राओं के लिये पाठ्य पुस्तकें निर्धारित की जावेंगी [फ़िलहाल इसके छात्र और इसकी छात्राएँ इच्छानुयायी दूसरे विश्वविद्यालयों में परीक्षा दे सकें उसकी व्यवस्था की जा रही है।]

(घ) इस महाविद्यालय में निम्नलिखित विभिन्न शिक्षालय रहेंगे :—

(१) अंग्रेजी हाई स्कूल।

(२) आर्ट्स कालेज (Arts College) आइ० ए० और बी० ए० तक।

(३) विज्ञान कालेज (Science College) आइ० एस० सी० और बी० एस० सी० तक।

(४) कृषि विद्यालय और कालेज।

(५) शिल्प विद्यालय और कालेज।

(६) धर्मतत्व विद्यालय और कालेज।

(७) व्यवसाय-शिक्षा विद्यालय और कालेज।

(८) आयुर्वेद विद्यालय और कालेज।

(९) कला शिल्प और संगीत विद्यालय।

(१०) स्थापत्य विद्यालय।

(११) समाज सेवा शिक्षा विद्यालय और कालेज।

(१२) सामरिक विद्यालय।

(१३) लॉ कालेज।

(१४) चिकित्सा विद्यालय इत्यादि। महिलाओं को शिक्षा देने के लिये अलग विद्यालय होंगे और कई एक विद्यालयों में अलग महिला विभाग रहेंगे।

(ङ) ये सब विद्यालय साधारणतः आवासिक (Residential) छात्र और छात्राओं के

लिये होंगे। लेकिन सविशेष शिक्षा विस्तार के लिये अन्यान्य छात्र और छात्राएँ दो-पहर को घर से आकर शिक्षा लाभ कर सकते हैं।

(ख) जो विद्यालय दूसरे विश्वविद्यालयों के आधीन रहकर इस महाविद्यालय में संयुक्त रहेंगे उनकी पाठ्य-तालिकादि उन विश्वविद्यालयों की-सी ही रहेगी लेकिन कई एक अतिरिक्त विषयों के लिये अलग पुस्तकों की व्यवस्था की जावेगी।

(ग) फ़िलहाल जो छात्र-छात्राएँ दूसरे विश्वविद्यालयों में परीक्षा देने की इच्छा करेंगे वे वहां परीक्षा दे सकते हैं। जिस किसी विषय में दूसरे विश्वविद्यालयों में परीक्षा नहीं होती उस विषय में उत्तीर्ण हुए छात्र-छात्राओं को इस महाविद्यालय से सर्टिफिकेट, डिप्लोमा, डिग्री आदि मिलेंगे। प्राथमिक और वर्त्तमान मध्य अंग्रेजी विद्यालयों के छात्र और छात्राओं को भी इसी तरह की परीक्षाओं की सर्टिफिकेट दी जावेगी। इन सब विषयों के लिये और अतिरिक्त विषयों के लिये इस महाविद्यालय से पाठ्य पुस्तकें निर्धारित और प्रकाशित की जावेगी। इसके अतिरिक्त संस्कृत, पाली, हिन्दी और बंगला परीक्षाओं और उपाधियों के लिये अलग अलग बोर्ड रहेंगे।

आधुनिक कार्य पद्धति

फ़िलहाल कलकत्ता विश्वविद्यालय, हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस और दूसरे विश्वविद्यालय भारती महाविद्यालय के विद्यार्थियों को वहां की परीक्षाओं के लिये अनुमति दें उसकी व्यवस्था की जा रही है। साथ ही साथ इस महाविद्यालय की 'डिग्री' या उपाधि को अन्यान्य वैदेशिक विश्वविद्यालय भी स्वीकार करें उसकी भी चेष्टा हो रही है।

उपर्युक्त विभिन्न विद्यालयों और कालेजों में से कुछ अभी कलकत्ते में स्थापित किये जा रहे हैं और उसके "भारती गर्ल्स कालेज" की स्थापना रथ-यात्रा के दिन २६, विवेकानन्द रोड में हो चुकी है। अगले जन्माष्टमी को "समाज सेवा शिक्षा कालेज" (Social Service Training College), धर्मतत्त्व शिक्षा कालेज और शिल्प विद्यालय की स्थापना हो उसकी भी चेष्टा हो रही है। बाद में ये सब कालेज और विभिन्न विद्यालय कलकत्ते के पास ही निजस्व भवन में हटा लिये जावेंगे।

अर्थ-व्यवस्था

जिस तरह दक्षिणात्य शिक्षा समिति (Deccan Education Society) और अन्यान्य सम्प्रदाय (आर्य समाज आदि) सभ्य संग्रह कर खर्च चलाया करते हैं उसी तरह यह महाविद्यालय भी साधारण सभ्य (वात्सरिक चन्दा १२)), आजीवन सभ्य (२५०) चन्दा देने वाले) और पृष्ठ पोषक (१०००) देने वाले) तथा ग्रेजुएट सभ्य (Registered Graduate)

(वात्सरिक चन्दा १०)) से चंदा वसूल करेगा। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के शिक्षा दान के लिये जो गच्छित सम्पत्ति और मन्दिर सम्पत्ति हैं (Endowments) उनसे कुछ कुछ लेने की चेष्टा की जावेगी और उसके बाद धनी और दूसरों की सहानुभूति प्रार्थनीय है। इसके अतिरिक्त कोई भी महोदय इच्छानुयायी किसी भी नाम पर गृह निर्माण या कोई पुस्तकागार या किसी अध्यापक के आसन की व्यवस्था कर सकते हैं।

इसके सभ्य इसके विभिन्न पुस्तकागारों को उपयोग कर सकते हैं, कुछ प्रकाशित पुस्तकें बिना मूल्य पा सकते हैं और शेष पुस्तकें २५) सैकड़ा कमीशन पर पा सकते हैं।

छात्र और छात्राओं के भविष्य की व्यवस्था

इस महाविद्यालय के अन्तर्गत विभिन्न विद्यालयों से छात्र और छात्राएँ उत्तीर्ण होने पर स्वावलम्बी, उपार्जनशील और देश-सेवक बन सकें इसके लिये यह महाविद्यालय चेष्टा करेगी। विद्यार्थियों की धार्मिक और नैतिक उन्नति की व्यवस्था भी की जावेगी। उपासना, भजन, पूजा-पद्धति-शिक्षा आदि इसकी विशेषता होगी।

यही है संक्षेप में इस भारती महाविद्यालय का आदर्श और यही है इसकी कार्य-सूची। इस परिकल्पना को कार्यकारी रूप में बनाने के लिये बहुत अर्थ, कर्मी और भारत के जनसाधारण की सहानुभूति की आवश्यकता है यह कहना वृथा है। —कालिदास मुकरजी।

---

(२)

भारतवर्ष और पश्चिमी एशिया की मातृदेवी "नना"

कुषाण मुद्राओं पर "नना" अथवा "ननैया" की मूर्त्ति ने अब तक मुद्राविद्या के पंडितों को अंधकार में रखा था। सब का यह विचार था कि अपने विचित्र नाम के कारण यह देवी यूनानी अथवा ईरानी है। सर औरेल स्टोन, जिन्होंने इस विषय पर सर्व प्रथम प्रकाश डाला था लिखते हैं—"यद्यपि देवी "नना" की मूर्त्ति तुर्क राजाओं की मुद्राओं पर अकसर पाई जाती है—फिर भी इनका ईरानी देव-देवियों में कोई भी स्थान नहीं है। यद्यपि उनका (नना) धर्म ईरान के कई स्थानों में तथा पश्चिमी एशिया के एक बड़े हिस्से में पाया जाता है—फिर भी उनकी ईरानी देवी न होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता। ईरानी धर्म में उनका कोई स्थान न था और पश्चिम में "अविस्तिक अनाहिता" के साथ उनके मेल का कुछ उदाहरण पाया जाता है—लेकिन ये उदाहरण यह प्रमाण करने में समर्थ नहीं है

कि "इण्डो सीथिया" में उनकी पूजा से ईरानी धर्म से कुछ सम्बन्ध था। "नना" की पूजा ईरानी मत के पहले से ही होती आई थी और इसके बाद तक होती रही। इस देवी का नाम एक अति प्राचीन राजा के सिक्के पर पाया जाता है, जिसने "युक्रेटाइड्स" के सिक्कों का अनुकरण किया था तथा इसका नाम वासुदेव के सिक्कों पर (जब कि सिक्कों पर ईरानी प्रभाव अदृश्य हो गया था) भी पाया जाता है"१।

उपर्युक्त वर्णन से यह मालूम पड़ता है कि "नना" ईरानी देवी नहीं थी। इसका प्रमाण इस बात से और भी पुष्ट हो जाता है कि इसका नाम वासुदेव के सिक्कों पर जिस पर ईरानी प्रभाव हट गया था, पाया जाता है। यह सिद्ध हो जाने पर कि वह ईरानी देवी नहीं थी, हम लोगों को उनके अस्तित्व के विषय में अन्य जगह खोज करनी पड़ेगी। इसी सम्बन्ध में हम लोग "हुविष्क' के एक सिक्के पर देवी "नना" तथा "ओएषो" अथवा शिव "देवता" को एक दूसरे के सामने खड़े पाते हैं। इस प्रकार के सिक्कों को सर्व प्रथम "कनिंघम"२ तत्पश्चात् "ह्वाइटहेड"३ ने देखा था पर इनमें से किसी ने भी इस पर प्रकाश डालने की चेष्टा नहीं की थी। इसलिये यह एक पहेली ही रह गई। डा० डी० आर० भण्डारकर ने "ओएषो" (ohpo) को "उमेश" अथवा "शिव" कहा है४। 'ओएषो" के साथ "नन्दी" और त्रिशूल के होने के कारण इसके "शिव" अथवा "उमेश" होने में लेशमात्र भी सदेह नहीं। अब यह प्रश्न स्वतः उठता है कि यह "नना" देवी, जिनका "शिव" के साथ सम्बन्ध दिखाया जाता है, कौन थी? पहिले यह "नना" देवी "दुर्गा" ज्ञात हुईं क्योंकि "सपैलेजेस" (Sapaleizes) के एक सिक्के पर "ननैया" नाम के साथ "सिंह" की मूर्ति५ थी। फिर हुविष्क के एक सिक्के पर "ननैया" की मूर्त्ति कमर में एक तलवार बांधे पायी गई६। इस विषय पर मैंने डा० डी० आर० भण्डारकर साहब से वादविवाद किया था—परन्तु दोनों शब्दों में भिन्नता होने के कारण "नना" का दुर्गा होना सन्देहजनक रहा।

उन्होंने मेरा ध्यान वैदिक कोष७ की ओर आकर्षित किया जिसमें "नना" शब्द का अर्थ माता

---

१ इण्डियन एण्टिक्वेरी १८८८ पृष्ठ ९८।

२ ह्वाइटहेड कैटेलाग पृष्ठ २०७ नं ८

३ ,, पृष्ठ १९७ नं १२५।

४ कारमाइकेल लेक्चर १९२१ पृष्ठ १७।

५ ह्वाइटहेड कैटेलाग पृष्ठ १६८।

६ गार्डनर कैटेलाग पृष्ठ १४६ नं ८४।

७ ऋग्वेद ९, ११२, ३।

है। ऋग्वेद में भी एक ऋक् है "कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणो नना"; जिसका अर्थ यह है कि "मैं एक भाट हूँ, मेरा पिता वैद्य है, मेरी मां चक्की पीसती है[८]"।

ऋग्वेद में एक और शब्द "अम्बा" या "अम्बितमा" पाया जाता है—जिसका अर्थ माता है। इसलिये ऋग्वैदिक-काल में देवी "अम्बा" या "अम्बिका" एक मातृदेवी थीं। उनका रुद्र के साथ सम्बन्ध, जिसका डा० भण्डारकर ने उल्लेख किया है, "वाजसनेयी संहिता"[९] द्वारा प्रमाणित है, जिसमें उन्हें रुद्र की भगिनी कहा गया है। "शतपथ ब्राह्मण"[१०] में भी अम्बिका को शिव की भगिनी कहा है। परन्तु आगे चलकर अम्बिका और शिव का सम्बन्ध कुछ दूसरा ही बताया गया है। "अमरकोष" में एक श्लोक है :—

शिवा भवानी रुद्राणी शर्वाणी सर्वमङ्गला।
अपर्णा पार्वती दुर्गा मृडानी चण्डिकाम्बिका॥ (१-३७-३८)

आगे चलकर "अम्बिका" के विषय में निम्नलिखित श्लोक लिखा है :—"अम्बिका पार्वती मात्रो धृतराष्ट्रस्य मातरि"। यहां उनको पार्वती, माता तथा धृतराष्ट्र कहा गया है। इस स्थान पर उनका "शिव" के साथ सम्बन्ध भार्या के रूप में है। रुद्र अथवा शिव के साथ नना का सम्बन्ध प्राचीन काल में किसी भी प्रकार का रहा हो—किन्तु यह पूर्णतया सिद्ध है कि अम्बा संसार की मातृदेवी के रूप में "हुविष्क" के काल तक अवश्य रहीं, "नना" अथवा "अम्बा" और "ओएशो" अथवा "उमेश" या "शिव" का सम्बन्ध उपर्युक्त कारणों से साफ प्रकट हो जाता है। उसके बाद, जैसा कि पहले डा० भण्डारकर द्वारा भी बताया गया था, "उमा" की मूर्त्ति एक कुषाण राजा के सिक्के पर पाई गई है जिससे प्रतीत होता है कि उस काल तक "उमा" और "नना" की अलग अलग स्थिति थी।

इस प्रकार यह बात पूर्णतया सिद्ध हो गई कि वैदिक संस्कृत भाषा में "नना" का अर्थ "माता" से है और "अम्बा" तथा "अम्बितमा" के भी यही अर्थ हैं; इसलिये देवी "नना" "अम्बा" देवी के सिवाय और कोई दूसरी नहीं। इस "अम्बा" देवी को ऋग्वेद में मातृदेवी कहा गया है और वैदिक साहित्य में इनका रुद्र के साथ सम्बन्ध चाहे जिस हालत में हो, पूर्णतया स्पष्ट है।

अब यह प्रश्न उठता है कि सिक्कों पर मुद्रित "नना" की मूर्त्ति के साथ अम्बिका की मूर्त्ति से समानता हो सकती है या नहीं? हिन्दू विचारों के अनुसार अम्बिका सिंह पर आरूढ़ा हैं और उनके तीन नेत्र हैं। उनके एक बांये हाथ में दर्पण है। उनका एक दाहिना हाथ 'वरद' मुद्रा में है। दूसरे दाहिने तथा बांयें हाथों में तल्वार तथा ढाल हैं[११]। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि

---

८ डा० भण्डारकर मैकल लैक्चर मद्रास १९३८-३९ पृष्ठ १६।

९ ३, ५८।   १० २, ६, २, ९।

११ गोपीनाथ राव हिन्दू आइकानोग्राफी जिल्द १ भाग २ पन्ना ३५८।

सरेंजेस के एक सिक्के पर ननैया का नाम एक सिंह की मूर्ति के समीप लिखा है जिससे यह प्रतीत होता है कि कुषाणों के आगमन के पहले "नना" अथवा "ननैया" की मूर्त्ति के स्थान पर उनके वाहन सिंह की मूर्त्ति अङ्कित की जाती थी।

इस नना-अम्बा मत के विषय में खोज करते हुए अब यह देखना चाहिये कि इस देवी का पश्चिमी एशिया में क्या प्रभाव था। इस विषय में जैसरो ने निम्नलिखित वर्णन दिया है जो महत्त्वपूर्ण है "मातृदेवी नना का मत सबसे प्राचीन उरुक नामक स्थान में पाया जाता है जहां पर वह नना नाम से प्रसिद्ध थी। प्राचीन बेबीलोनियन देवताओं में सबसे प्रसिद्ध अनुदेवता थे जिनके कारण नना की महत्ता वहां स्वीकार हुई थी। उरुक में इअना नामक नना का मन्दिर तथा उस देवी का अनु के साथ सम्बन्ध उस समय बहुत प्रसिद्ध था। इस मातृदेवी नना के मत के सम्बन्ध में बाद में कुछ कुछ इस प्रकार की आहुतियां दी जाने लगीं कि हिरोडोटस नामक यूनानी इतिहासकार भी बड़े विस्मय में पड़ गया था। यह मातृदेवी नना केवल मातृदेवी तथा संसार की जननी नहीं कही जाने लगी किन्तु यह प्रेम की देवी अथवा बेबीलोनिया कि अफ्रोडाइट भी कहलाने लगी। इस प्रकार इनकी पूजा की जाने लगी क्योंकि इन्हीं के द्वारा बालक संसार में जन्म लेता है[१२]"।

जैसरो ने जैसा वर्णन किया है वह भारतवर्ष में भी नना-अम्बा मत के विषय में ठीक है। यहां पर भी कुषाण काल में उनका सम्बन्ध रुद्र से उमेश में परिवर्तित हो गया और उन्हें भिन्न २ प्रकार की आहुतियां दी जाने लगीं। वे केवल संसार की जननी ही नहीं समझी जाने लगीं किन्तु उनका नाम भवानी भी पड़ गया। इसलिये यह आश्चर्यजनक नहीं जैसा कि इनके साथ उरुक में हुआ था—उसी प्रकार वे भारतवर्ष में पूजी जाने लगीं। इस विषय में डा० भण्डारकर से मेरा वादविवाद हुआ था। वे पूर्णतया मेरे मत से सहमत हैं और यह आश्चर्य करते हैं कि सर जान मारशल ने भी अपनी मोहनजोदारो की पुस्तक में इस पर प्रकाश नहीं डाला।

—बैजनाथ पुरी एम० ए०।

---

१२ दि सिवीलाइजेशन आफ बेबीलोनिया एण्ड असीरिया पृष्ठ २३३।

सम्पादकीय मन्तव्य

भारती महाविद्यालय नामक जिस विद्यालय की स्थापना हुई है, इस संख्या में उसका उद्देश्य और उसकी कार्य-पद्धति संक्षेप में दी गई है। इस विद्यालय को भविष्य में भारतवर्ष का अन्यतम हिन्दू विश्वविद्यालय बनाना ही इसके कर्तृपक्षों का उद्देश्य है। भारत का धर्म, उसकी शिक्षा और संस्कृति की विशेषता को बनाये रखते हुए प्राचीन भारत के गुरुकुल के आदर्श पर और तक्षिला तथा नालन्दा विश्वविद्यालय की तरह एक विश्वविद्यालय की आवश्यकता है—इसे सब स्वीकार करते हैं। कोई कोई इसे जातीयतामूलक या साम्प्रदायिकता कह सकते हैं लेकिन उन्हें अपना ढोल पीटने दीजिये। अलीगढ़ विश्वविद्यालय, उसमानिया विश्वविद्यालय अथवा बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय को साम्प्रदायिक भित्ति पर स्थित कहना बुरा होगा और यह भी कहना अनुचित होगा कि वे साम्प्रदायिकता-प्रचार कर रहे हैं। उनकी विशेषता यह है कि वे कुछ विशेष कृष्टि, साहित्य और शिक्षा-प्रसार एवं प्रचार के लिये प्रतिष्ठित किये गये हैं। भारती महाविद्यालय भी उसी तरह का एक शिक्षाकेन्द्र है। इस महाविद्यालय में सब प्रकार की शिक्षा और कृष्टि की आलोचना और चर्चा की जावेगी।

भारती महाविद्यालय के इस आदर्श, कल्पना और कार्य-पद्धति का हम पूर्ण रूप से समर्थन करते हैं और जिसमें वह शीघ्र ही कार्यकारी हो उसकी प्रार्थना करते हैं।

*　　*　　*　　*　　*

जिससे हिन्दी भाषा और साहित्य की वृद्धि हो और धर्म, दर्शन, इतिहास, विश्व-साहित्य के उत्कृष्ट-अंशों, विभिन्न शिल्प-ग्रन्थ और संसार के महान् पुरुषों की जीवनी और उनके ग्रन्थ मूल या अनुवादित होकर प्रकाशित हों इसके लिये इन्डियन रिसर्च इन्स्टिट्यूट में एक हिन्दी विभाग खोला गया है। यह "प्राचीन भारत" पत्रिका भी उसी के अन्तर्गत है। हाल ही में इस विभाग की कार्यकारिणी सभा के सदस्य श्रीयुत बाबूलाल राजगड़िया ने हिन्दी में ऐसी पुस्तकों की छपाई के लिये सालाना दो ढाई हजार रुपये देने का प्रस्ताव पेश किया है। श्रीयुत घनश्याम दास जी बिड़ला के सभापतित्व में वह सानन्द गृहीत हुआ है।

हिन्दी से प्रेम रखने वालों से हम ऐसी सहायता की प्रार्थना करते हैं। जिनकी सहायता से जिस पुस्तक की छपाई होगी उस पुस्तक के साथ उनका नाम संयुक्त रहेगा। जो महाशय ऐसी

पुस्तकें लिखेंगे या उनका अनुवाद करेंगे वे कृपया इन्डियन रिसर्च इन्स्टिट्यूट के साधारण सम्पादक को सूचित करें। उन्हें यथा-योग्य पारिश्रमिक दी जायेगी।

*   *   *   *   *

भारत का इतिहास, उसकी शिक्षा तथा कृष्टि और उसके अमूल्य ग्रन्थों की गवेषणा करना और पुस्तकें प्रकाशित करना ही इन्डियन रिसर्च इन्स्टिट्यूट का उद्देश्य है। वैष्णव ग्रन्थों की छपाई यहां से आज तक नहीं हुई थी। इस विषय में निम्बार्क सम्प्रदाय के कुछ पण्डितों और अनुरागियों की सहयोगिता से इस संस्था (इन्स्टिट्यूट) में एक "निम्बार्क-विभाग" खोला गया है। हम इसकी शुभ कामना करते हैं और विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करते हैं।

पुस्तक-समालोचना

सटीक चाणक्य श्लोक शतकम्—पश्चतीर्थोपाधिक श्री ईश्वरचन्द्र शर्म शास्त्री-कृत संकलित और टीका सहित। निउ आर्य मिशन प्रेस कलकत्ता से प्रकाशित, मूल्य ॥) पृष्ठ संख्या १३६।

चाणक्य-श्लोक का परिचय देना व्यर्थ है। भारत के सभी विद्वान् उनसे परिचित हैं। चाणक्य के श्लोक नीति-शास्त्र के अन्तर्गत हैं। ये नीति मानव जीवन के लिये अपरिहार्य हैं। हर एक श्लोक में चाणक्य की अन्तर्दृष्टि व्यवहारिक जगत के साथ समता रखती है। अतएव दैनिक जीवन के साथ उनके वाक्य संयुक्त हैं। इन श्लोकों को कण्ठस्थ करना जरूरी है।

शर्म शास्त्री जी ने इस ग्रन्थ की टीका लिखकर बहुत भारी काम किया है। अतः वे हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

—विभूति भूषण चटर्जी।

चाणक्य-सूत्रम्—श्री ईश्वरचन्द्र शास्त्री द्वारा टीका सहित संकलित—सिद्धेश्वर प्रेस कलकत्ता, मूल्य २) पृष्ठ संख्या ४४२।

चाणक्य के ये सूत्र कई वर्षों से अन्धकार में पड़े थे। सन् १८८१ में सिंहलद्वीप (लङ्का) में इसका एक संस्करण प्रकाशित हुआ था लेकिन उसका भी प्रचार न हो पाया। इसके बाद डा० श्याम शास्त्री ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र के परिशिष्ट रूप में उसे प्रकाशित किया। इन सूत्रों में ऐतिहासिक और सामाजिक समस्याएँ हैं। जब तक ये समस्याएँ दूर न हों, जब तक उनका हल न किया जाय तब तक उनका ऐतिहासिक मूल्य नहीं मालूम हो सकता। शुक्रादि नीति शास्त्रों के साथ उनका क्या सम्बन्ध है उस पर विचार नहीं हो पाया है। अन्त में ये चाणक्य रचित हैं या नहीं उसमें भी सन्देह है।

कुछ भी हो इस पुस्तक को पाकर हमारी प्यास कुछ मिटी है। ग्रन्थकार को धन्यवाद है।

—कालिदास मुकरजी।

ओंकार और गायत्री तत्व—श्री सुरेशचन्द्र सिंह राय विद्यार्णव राय बहादुर, एम० ए० मूल्य १।) द्वितीय संस्करण।

इस पुस्तक में ग्रन्थकार ने ओंकार और गायत्री तत्व पर अच्छी आलोचना की है। वेद के सारभूत गायत्री-मन्त्र की आलोचना कर आपने लोगों का कम उपकार नहीं किया है। ओंकार की उत्पत्ति, अर्थसाधन प्रणाली आदि पर अच्छा वर्णन है। मन्त्र के दूसरे भाग में गायत्री मन्त्र की उपयोगिता, विभिन्न आचार्यों द्वारा उनकी व्याख्या, साम, ऋक् और यजुः संहिता भेद में गायत्री-ध्यान का

पार्थक्य और उसका गूढ़ार्थ अच्छी तरह से दिया हुआ है। ग्रन्थकार ने उपनिषद् से दूसरे विषयों का उल्लेख कर गायत्री-मन्त्र के साथ उनकी उपयोगिता बतलाया है। ओंकार और गायत्री सम्बन्धीय ऐसी कोई विस्तृत आलोचना बङ्ग भाषा में सम्भवतः नहीं है। धर्म की चर्चा करने वालों को और धार्मिक विषयों में दिलचस्पी रखने वालों से इस पुस्तक को पढ़ने का अनुरोध है।

—नलिनविहारी वेदान्ततीर्थ।

अष्टावक्र संहिता—स्वामी नित्यस्वरूपानन्द, अद्वैत आश्रम, मायावती, मूल्य २)

शास्त्रों में संहिताओं का एक उच्चस्थान है। जिन संहिताओं से हम परिचित हैं उनमें मनुसंहिता सर्वोत्तम है और उसका आसन भी सर्वोच्च है। लेकिन अगस्त्य और अष्टावक्र संहिता को नीची निगाह से देखना भी बुरा होगा। स्वामी जी ने अष्टावक्र संहिता मूल अंग्रेजी अनुवाद और साथ ही टीका भी प्रकाशित किया है। इससे कुछ अभाव मिट सका है।

गीता के साथ इस संहिता का सादृश्य दीख पड़ता है। कुछ विद्वानों की यह राय है कि दोनों की रचना एक ही समय में हुई थी, क्योंकि महर्षि अष्टावक्र और श्री कृष्णचन्द्र जी समसामयिक थे। इस संहिता में आत्मज्ञान पाने की विधि दी हुई है। जो वेदान्त के अद्वैतवाद की चर्चा करते हैं उन्हें इस संहिता से विशेष लाभ होगा।

इस युग में अष्टावक्र संहिता का मूल्य कम नहीं है। इसका प्रभाव स्वामी विवेकानन्द की जीवनी पर पड़ा था। इस ग्रन्थ के प्रचार से लोगों को लाभ होगा।

—विभूति भूषण चटर्जी।

नई पुस्तकें

Nyāya Kalāpasamgraha of Srī Senesvarācārya—

Edited by A. Srinivasaraghavan : M. A.—Pudukottoh

The Number of Rasas—Dr. V. Raghavan, M. A., Ph. D.

The Gospel of Zoroaster—Bhai Manilal C. Parekh;—Rajkot.

Some Aspects of Ancient Indian Culture—

Dr. D. R. Bhandarkar, M. A. Ph. D.

Sources of Karnātaka History, Vol. I.—S. Sri Kantha Sastri M. A.,

University of Mysore.

Nalanda year Book, 1941-42—

Edited by Tarapada Das Gupta M. A. Calcutta.

India and the World (Polish Number)—

Edited by Dr. Kalidas Nag M. A. D. Litt.

पृथ्वी का इतिहास—श्री सुरेन्द्र बालु पुरी ।

दैनिक जीवन और मनोविज्ञान—श्री इला चंद्र जोशी ।

सूर-सन्दर्भ—श्री नन्द दुलारे बाजपेयी ।

रामकृष्ण चरितामृत—पं॰ छल्लो प्रसाद पांडेय ।

साहित्य (गुजराती)—श्री जयन्ती लाल आचार्य ।

हुमायूं—(उर्दू)—बशीर अहमद ।

मल्हार राव होल्कर (मराठी)—केशव मंगेश रंगनेकर बी॰ ए॰ ।

बुद्धि ओ बोधी (बंगला)—श्री हीरेन्द्र नाथ दत्त ।

काबुल (ईरानी-पश्तो)—आगा मुहम्मद कादिर ।

पुरानी-पत्रिकाएं

कालिदास मुकरजी द्वारा संकलित

The Indian Antiquary Vol. II. 1873

On Indian Dates—Jas Fergusson.

भारतवर्ष के मध्ययुग का इतिहास अधिकतर शिलालेखों ताम्रपत्रों या दूसरे खुदे हुए लेखों पर निर्भर है। इन शिलालेख आदि को खोज निकालना कोई बड़ी बात नहीं है परन्तु उन पर खुदे लेखों को पढ़ना और उनका समय भलीभांति जांच करना ही कठिन है। इस लेख में लेखक ने कलियुग और महाभारत-युग के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है।

Early Printing in India—सोलहवीं शताब्दी के मध्ययुग में Goa Jesuits द्वारा भारतवर्ष में छपाई का काम हुआ था। लेकिन सबसे पहले अंगरेजी अक्षरों की ही छपाई हुई थी।

On the Dialects of the Palis—G. H. Damant

इस लेख में कुछ अप्रचलित पाली शब्दों की तालिका और उनका अंगरेजी अर्थ दिया हुआ है।

Abhinanda, the Gauda—G. Buhler, Ph. D.

अभिनंद या अभिनन्दन नामक एक प्रसिद्ध कवि हो गये हैं। वे गौड़ के रहने वाले थे। उनकी दो रचनाएं "रामचरित्र महाकाव्य" और "कादम्बरी कथासार" हैं। ये ग्रन्थ आज भी अप्रकाशित हैं। गुजरात से प्रकाशित Catalogue of Mss. के दूसरे fascicle के १०२ पृष्ठ में १८७ नं और १२८ पृष्ठ के ६ नं० में लेखक ने इन ग्रंथों का उल्लेख किया है। पहला ग्रंथ अपूर्ण है।

The Calendar of Tipu Sultan—P. N, Purnaiya B. A.

मैसूर के टीपू सुल्तान के लिये काला अक्षर भैंस बराबर था लेकिन तिसपर भी उन्होंने वर्ष गणना की एक नई पद्धति चलाई थी। उनके अनुसार हफ्ते में सात दिन और साल में बारह महीने अवश्य थे लेकिन महीनों के दिनों की संख्या अंग्रेजी या हिंदू दिनों की तरह न थी। Col. William Krikpatrik के अनुसार सन् १७८४ई० के जनवरी से जून माह के भीतर किसी समय इसका प्रचार हुआ था।

———

सामयिक-साहित्य

भारती (अप्रेल)—हिन्दी काव्यालोचन का क्रमिक विकास—जानकी वल्लभ शास्त्री ।

पुरुषार्थ (मराठी)—आर्य धर्म आणि हिन्दू धर्म—प्रो॰ शं॰ ल॰ गोखले, एम॰ ए॰ अमेरिका ।

„ —दक्षिणेंतील हिन्दू समाज—श्री महादेव शास्त्री दिवेकर ।

„ —ब्राह्मणांचे ब्राह्मण्य—श्री गोविन्द विष्णु केलकर, बी॰ ए॰ ।

मधुकर (अप्रेल)—बुन्देलखण्ड की कहावतें—संग्रहकर्ता—श्री हरगोविन्द गुप्त ।

वैदिक धर्म —ईश्वरवाद का वास्तविक स्वरूप—पं॰ रामावतार जी विद्याभास्कर ।

„ —ऋग्वेदानुक्रमणी—पं॰ जयदेव शर्मा वेदालङ्कार ।

तरुणजैन (अप्रेल)—महावीर और जैनधर्म—डा॰ कालिदास नाग एम॰ ए॰ डी॰ लिट (पेरिस) ।

„ —अहिंसा की पुण्य भूमि—काका कालेलकर ।

कल्याण (मई)—जगन्मिथ्यात्व के वैज्ञानिक प्रमाण—डा॰ डी॰ जी॰ लौंढे,

एम॰ ए॰ पी॰ एच॰ डी॰ ।

„ —प्रेमरूपाभक्ति—श्रीहीरेन्द्र नाथ दत्त, बी॰ ए॰ बी॰ एल, वेदान्तरत्न ।

„ —सत्संग का प्रभाव—सेठ त्रिभुवन दास दामोदर दास जी ।

„ —अनन्य प्रेम और परम श्रद्धा—श्री जयदयाल जी

गोयन्दका के व्याख्यान से ।

„ —व्रत परिचय—पं॰ हनूमान जी शर्मा ।

„ —भारतवर्ष में भक्ति और भक्ति में भारतवर्ष—

दीवान बहादुर श्री॰ के॰ एस॰ रामस्वामी शास्त्री॰ ।

सामयिक संवाद

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय—अलीगढ़ विश्वविद्यालय के वार्षिक अधिवेशन में सर जियाउद्दीन अहमद अलीगढ़ विश्वविद्यालय के वाइस चांसेलर बनाये गये हैं।

* * * *

कलकत्ता के नये मेयर—कलकत्ता कॉरपोरेशन के अधिवेशन में सन् १९४१-४२ के लिये श्रीयुत फनीन्द्रनाथ ब्रह्म महाशय मेयर और श्रीयुत एम० ए० इस्पाहानी डिप्टी मेयर चुने गये हैं।

* * * *

आसाम शिक्षा विभाग के नये डाइरेक्टर—श्रीहट्ट एम० सी कालेज के अध्यक्ष श्रीयुत एस० सी० राय आसाम शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर नियुक्त किये गये हैं।

* * * *

ढाका विश्वविद्यालय की डिग्री—त्रावणकोर विश्वविद्यालय के सभ्यों ने ढाका विश्वविद्यालय की डिग्री मान ली है। इससे ढाका और त्रावणकोर विश्वविद्यालय की डिग्रियां एक ही मूल्य की हुईं।

* * * *

रवीन्द्रनाथ की वर्ष गांठ—चियांग-काइ-शेक ने रवीन्द्रनाथ की वर्ष गांठ पर बधाइयां भेजा है।

भावार्थ—अग्न्याधान करने के लिये जिस प्रकार की अग्नियों का निषेध है उनका उल्लेख ऊपर किया गया है ॥६५॥

तस्माच्छुभेन पात्रेण अविच्छिन्नाकृशं बहु।
अग्नि प्रणयनं कुर्याद्द यजमानसुखावहम् ॥६६॥

सान्वय-शब्दार्थ—(तस्मात्) इसलिये (शुभेन+पात्रेण) शुभ पात्र से (अविच्छिन्ना) जो अग्नि छितरी हुई न हो और (अकृशा) बहुत ही कम भी न हो वरन् (बहु) परिमाण में अधिक हो (अग्नि+प्रणयनम्) यज्ञ में अग्न्याधान (कुर्यात्) करे (यजमान+सुखावहम्) ऐसा कर्म यजमान के लिये सुखोत्पादक होता है ॥६६॥

भावार्थ—शुभ पात्र से पर्याप्त परिमाण में अग्न्याधान करना चाहिये जिससे यजमान को सुख की प्राप्ति हो ॥६६॥

शुभं पात्रं तु कर्त्तव्यं यजमान सुखावहम् ॥६७॥

सान्वय-शब्दार्थ—(यजमानस्य+सुखावहम्) यजमान को सुख पहुँचाने के लिये (पात्रम्) पात्र को शुभम्) शुभ करना चाहिये ॥६७॥

भावार्थ—यज्ञानुष्ठान में शुभपात्र रखना चाहिये जिससे यजमान का कल्याण हो ॥६७॥

शुभं पात्रं तु कांस्यं स्यात्तेनाग्निप्रणयेद्बुधः।
तस्याभावे शरावेण नवेनाभिमुखञ्च तम् ॥६८॥

सान्वय-शब्दार्थ—(कांस्यम्+पात्रम्) कांसे का पात्र (शुभम्) शुभ (स्यात्) होता है (तेन) उसी से (बुधः) बुद्धिमान् मनुष्य (अग्निम्) अग्नि का (प्रणयेत्) प्रणयन करे। (तस्य +अभावे) उस कांसे के पात्र के न रहने पर (नवेन) नये (शरावेण) मिट्टी के पात्र से (च) और (तम्) उसे (अभिमुखम्) सामने रख कर अग्नि प्रणयन करे ॥६८॥

भावार्थ—अग्नि का प्रणयन कांसे के पात्र से करना चाहिये कांसे का पात्र न हो तो मिट्टी के पात्र को सामने रख कर उससे काम लिया जाय क्योंकि ये पात्र शुभ कहे गये हैं ॥६८॥

सर्वतः पाणिपादान्तः सर्वतोक्षि शिरोमुखः।
विश्वरूपो महानग्निः प्रणीतः सर्वकर्मसु ॥६९॥

सान्वय-शब्दार्थ—(महान्) यह महान् (अग्निः) अग्नि (विश्व+रूपः) सर्व रूप वाला है क्योंकि यह (सर्वतः) सब ओर (पाणिपादान्त) हाथ पैर वाला है और (सर्वतः) सब ओर (शिरः+मुखः) सिर और मुख वाला है। अतः (सर्व+कर्मसु) सब याज्ञिक कर्मों में (प्रणीतः) प्रणयन किया जाता है ॥६९॥

भावार्थ—अग्नि विश्वरूप है, सब दिशाओं में अग्नि के सिर और मुँह हैं तथा इसके हाथ पैर भी विश्वव्यापी हैं इसोलिये याज्ञिक कर्मों में अग्नि का प्रणयन किया जाता है ॥६९॥

(प्रो॰ ॰ णाभ्याश्च लक्षणोल्लिखनेन वा।
प्रणीताग्निः प्रकर्त्तव्यो विधिवद्याज्ञिको भवेत्।)
न वस्त्रेण धमेदग्निं न शूर्पेण न पाणिना।
मुखेनोपधमेदग्निं मुखाद्ध्येषोऽध्यजाय ॥७०॥

सान्वय-शब्दार्थ—(प्रोक्षणाभ्युक्षणाभ्यास+च) प्रोक्षणी वा उक्षणी पात्र से (वा) अथवा (लक्षणोल्लिखनेन) लक्षणों के उल्लेख से (विधिवत्) विधिपूर्वक (प्रणीताग्निः) अग्नि का प्रणयन (प्र+कर्त्तव्यः) करना चाहिये, ऐसा करने से (याज्ञिकः) याज्ञिक अर्थात् यज्ञ का अनुष्ठान कराने वाला (भवेत्) होता है। (वस्त्रेण) वस्त्र से (अग्निम्) अग्नि को (न) न (धमेत्) हौंके, (न शूर्पेण) और न तो सूप ही से और (न पाणिना) हाथ से ही अग्नि को हौंके ; (मुखेन) मुख से ही (उप+धमेत्+अग्निम्) अग्नि को फूंकना चाहिये क्योंकि (मुखात्+हि+एषः+अधि+अजाय) मुख से ही अग्नि की उत्पत्ति हुई है ॥७०॥

भावार्थ—यज्ञों में जल छिड़कने के प्रोक्षणी पात्र से विधिपूर्वक अग्नि का प्रणयन करना चाहिये और अग्नि को प्रज्वलित करने के लिये मुख से ही फूंकना चाहिये सूप वस्त्र या हाथों से अग्नि को हौंकना नहीं चाहिये ॥७०॥

वस्त्रेण तु भवेद् व्याधिः शूर्पेण धन नाशनम् ।
पाणिना मृत्युमादत्ते मुखेन सिद्धिभाग्भवेत् ॥७१॥

सान्वय-शब्दार्थ—(वस्त्रेण तु) वस्त्र से अग्नि को धूंकने से तो (व्याधिः) रोग (भवेत्) होता है और (शूर्पेण) सूप से धूंकने पर (धन+नाशनम्) धन का नाश होता है, (पाणिना) हाथ से अग्नि को धूंकने पर (मृत्युम्) मृत्यु को (आ+दत्ते) प्राप्त होता है परन्तु (मुखेन) मुख से अग्नि को फूंक कर प्रज्वलित करने से (सिद्धिः+भाक्+भवेत्) सिद्धि प्राप्त करने का भागी होता है ॥७१॥

भावार्थ—वस्त्र, सूप अथवा हाथ से हवा कर अग्नि को प्रज्वलित करने से, क्रमशः रोग, धन नाश तथा मृत्यु होती है अतः ऐसा नहीं करना चाहिये वरन् मुँह से ही फूंक कर अग्नि प्रज्वलित करना चाहिये क्योंकि ब्रह्मा के मुख से ही अग्नि की उत्पत्ति हुई है ॥७१॥

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा ।
सर्वथा वर्त्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥७२॥

सान्वय-शब्दार्थ (उदिते) सूर्य उदय होने पर (च+एव) और (अनुदिते) सूर्य उदय न होने पर (तथा) और (अधि+उषिते+समय) उषाकाल के समय (सर्वथा) सब तरह से (यज्ञ) यज्ञ का (वर्त्तते) विधान किया जाता है। (इति+इयम्) यह (वैदकी+श्रुतिः) वेदप्रतिपादित श्रुति है ॥७२॥

भावार्थ—दिन, रात तथा उषा काल में वेद के अनुसार यज्ञ प्रतिपादित हो सकता है ॥७२॥

रात्रेः षोडशमे भागे ग्रहनक्षत्र भूषिते ।
अनुदयं विजानीयाद्धोमिं तत्र प्रकल्पयेत ॥७३॥

सान्वय शब्दार्थ—(रात्रेः) रात्रि के (षोडश में) सोलहवें (भागे) भाग में जब कि आकाश (ग्रह+नक्षत्र+विभूषिते) ग्रहों तथा नक्षत्रों से विभूषित रहता है, ऐसे समय को (अनुदयम्)

हिन्दी-सभा

सभापति—श्रीयुत घनश्यामदास जी बिड़ला ।

सह० सभापति—(२) श्रीयुत बंशीधर जालान ।

(३) „ भागीरथ कानोड़िया ।

अन्यान्य सदस्य

(४) काका कालेलकर ।
(५) डा० डी० आर० भंडारकर ।
(६) महामहोपाध्याय सकलनारायण शर्मा ।
(७) डा० सुनीति कुमार चटर्जी ।
(८) श्रीयुत बहादुर सिंह सिंघी
(९) श्रीयुत मूलचन्द अगरवाल ।
(१०) डा० बेनीमाधव बड़ुआ ।
(११) श्रीयुत शिवप्रसाद गुप्त ।
(१२) पं० अम्बिका प्रसाद बाजपेयी ।
(१३) श्रीयुत देवीप्रसाद खेतान ।
(१४) „ लक्ष्मीनिवास बिड़ला ।
(१५) „ पारस नाथ सिंह
(१६) „ पद्मराज जैन ।
(१७) „ बाबूलाल राजगाड़िया ।
(१८) डा: बटकृष्ण घोष
(१९) पं० श्री रामसुरति मिश्र ।
(२०) श्रीयुत सतीश चन्द्र शील । (परिचालक)
(२१) „ कालिदास मुकरजी (सह-सम्पादक)
(२२) कुमारी पद्मा मिश्र (सह-सम्पादिका)

प्राचीन भारत का उद्देश्य

हिन्दी में मासिक एवं त्रैमासिक कई पत्रिकायें हैं लेकिन भारतीय संस्कृति एवं शास्त्र सम्बन्धीय कोई पत्रिका नहीं दिखलाई पड़ती। प्राचीन भारत की ज्ञान-गरिमा को हम क्रमशः भूलते ही जा रहे हैं कि इसी भारतवर्ष ने चीन, जापान के अतिरिक्त सुदूर अमेरिका में भी हिन्दुत्व का प्रभाव कैसे डाला था? कैसे यूनानियों ने यहां से चिकित्सा पद्धति सीखी? सम्राट सिकन्दर तो यहां की शिक्षा, एवं संस्कृति को देखकर दंग हो गया था। इस पत्रिका का उद्देश्य उस प्राचीन संस्कृति आदि पर प्रकाश डालना ही है। इस पत्रिका में नीचे लिखे विषयों पर लेख रहेंगे :—

(१) वैदिक शास्त्र (२) दर्शन-शास्त्र (३) धर्म-शास्त्र (४) बौद्ध तथा जैन शास्त्र (५) आयुर्वेद-शास्त्र (६) शिल्प एवं कला (७) प्राचीन विज्ञान-शास्त्र (गणित, ज्योतिष, रसायन, पदार्थ-विद्या आदि) (८) हिन्दी-साहित्य (९) समाज तथा नीति-शास्त्र (१०) प्राचीन तथा आधुनिक भारतवर्ष और दूसरे देशों की शिक्षापद्धति तथा उनका प्रचार कार्य (११) पुस्तक समालोचना तथा अन्यान्य विषयों में प्रकाशित लेखों पर मन्तव्य (१२) सम्पादकीय मन्तव्य। इसके अतिरिक्त अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियों का प्रकाशन एवं प्रकाशित दुष्प्राप्य पुस्तकों की समालोचना। संस्कृत, पाली एवं प्राकृत अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियों का हिन्दी अनुवाद।

हिन्दी-सभा

सभापति—श्रीयुत कल्याणराय जी सिंहल।

सह० सभापति—(२) श्रीयुत वंशीधर आचार्य।

(३) ,, भागीरथ कानोड़िया।

अन्यान्य सदस्य

(४) काका कालेलकर।
(५) डा० डी० आर० भंडारकर।
(६) महामहोपाध्याय सकलनारायण शर्मा।
(७) डा० सुनीति कुमार चटर्जी।
(८) श्रीयुत बहादुर सिंह सिंघी
(९) श्रीयुत मूलचन्द अग्रवाल।
(१०) डा० बेनीमाधव बड़ुआ।
(११) श्रीयुत शिवप्रसाद गुप्त।
(१२) पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी।
(१३) श्रीयुत देवीप्रसाद खेतान।
(१४) ,, लक्ष्मीनिवास बिड़ला।
(१५) ,, पारस नाथ सिंह
(१६) ,, पद्मराज जैन।
(१७) ,, बाबूलाल राजगढ़िया।
(१८) डा० बटकृष्ण घोष
(१९) पं० श्री रामसूरति मिश्र।
(२०) श्रीयुत सतीश चन्द्र शील। (परिचालक)
(२१) ,, कालिदास मुकर्जी (सह-सम्पादक)
(२२) कुमारी पद्मा मिश्र (सह-सम्पादिका)

प्राचीन भारत का उद्देश्य

हिन्दी में मासिक एवं त्रैमासिक कई पत्रिकायें हैं लेकिन भारतीय संस्कृति एवं शास्त्र सम्बन्धीय कोई पत्रिका नहीं दिखलाई पड़ती। प्राचीन भारत की ज्ञान-गरिमा को हम क्रमशः भूलते ही जा रहे हैं कि इसी भारतवर्ष ने चीन, जापान के अतिरिक्त सुदूर अमेरिका में भी हिन्दुत्व का प्रभाव कैसे डाला था? कैसे यूनानियों ने यहां से चिकित्सा पद्धति सीखी? सम्राट सिकन्दर तो यहां की शिक्षा, एवं संस्कृति को देखकर दंग हो गया था। इस पत्रिका का उद्देश्य उस प्राचीन संस्कृति आदि पर प्रकाश डालना ही है। इस पत्रिका में नीचे लिखे विषयों पर लेख रहेंगे :—

(१) वैदिक शास्त्र (२) दर्शन-शास्त्र (३) धर्म-शास्त्र (४) बौद्ध तथा जैन शास्त्र (५) आयुर्वेद-शास्त्र (६) शिल्प एवं कला (७) प्राचीन विज्ञान-शास्त्र (गणित, ज्योतिष, रसायन, पदार्थ-विद्या आदि) (८) हिन्दी-साहित्य (९) समाज तथा नीति-शास्त्र (१०) प्राचीन तथा आधुनिक भारतवर्ष और दूसरे देशों की शिक्षापद्धति तथा उसका प्रचार कार्य (११) पुस्तक समालोचना तथा अन्यान्य विषयों में प्रकाशित लेखों पर मन्तव्य (१२) सम्पादकीय मन्तव्य। इसके अतिरिक्त अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियों का प्रकाशन एवं प्रकाशित दुष्प्राप्य पुस्तकों की समालोचना। संस्कृत, पाली एवं प्राकृत अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियों का हिन्दी अनुवाद।

इन्डियन रिसर्च इन्स्टट्यूट कृत प्रकाशित पुस्तकें

१। ऋग्वेदसंहिता—मूल, सायणभाष्य तथा अन्यान्य भाष्य एवं अंग्रेजी, तथा हिन्दी अनुवाद तथा गवेषणा मूलक व्याख्या सहित खण्डाकार में प्रकाशित हो रहा है।

२। बंगीय महाकोष—४२ संख्या तक प्रकाशित हो रही है। प्रति संख्या ॥)
विस्तृत विवरण के लिये लिखिये :

३। बौद्धकोष—१म खण्ड, मूल्य १)

४। BARHUT, I–III—डा० वेणीमाधव बड़ुआ-रचित—मूल्य २७)

५। GAYA & BODHGAYA—डा० वेणीमाधव बड़ुआ-रचित
Vol. I—मूल्य ५) Vol II—मूल्य ७)

६। EARLY HISTORY OF BENGAL, I—II
श्रीप्रमोदलाल पाल-रचित,—मूल्य ८)

७। LINGUISTIC INTRODUCTION TO SANSKRIT—
डा० वटकृष्ण घोष-रचित—मूल्य ५)

८। UPAVANA-VINODA—
अध्यापक श्रीगिरिजाप्रसन्न मजुमदार-सम्पादित—मूल्य २॥)

९। INDIAN EPHEMERIS, **1939, 1940–41,**
श्री निर्मलचन्द्र लाहिड़ी-सङ्कलित—मूल्य प्रति खण्ड ।॥)

१०। पञ्चाङ्ग-दर्पण—श्रीनिर्मल चन्द्र लाहिड़ी एम-ए रचित—मूल्य १)

११। ACĀRYA-PUṢPĀÑJALI VOLUME—
Edited by Dr. B. C. Law, M.A., B.L., PH.D., F.R.A.S.B.—Rs. 10/-

१२। PRINCIPLES OF POLITICS—
अध्यापक आर० सि० अधिकारी रचित—मूल्य ८)

विस्तृत विवरण के लिये लिखिये

साधारण-सम्पादक
इन्डियन रिसर्च इन्स्टट्यूट
१७०, मानिकतला स्ट्रीट, कलकत्ता

१म वर्ष

छठवीं संख्या

प्राचीन भारत

[भारतीय शास्त्र एवं संस्कृति सम्बन्धीय मुख्य मासिक पत्रिका]

आषाढ़

संवत् १९९८

सम्पादक—महामहोपाध्याय सकलनारायण शर्मा

सह० सम्पादक—श्री कालिदास मुकरजी, एम. ए., एम. आर. ए. एस.

सह० सम्पादिका—कुमारी पद्मा मिश्रा, एम. ए.

परिचालक—श्री सतीश चन्द्र शील, एम. ए., बी. एल.

दि इन्डियन रिसर्च इन्स्टिट्यूट

१७०, मानिकतला स्ट्रीट, कलकत्ता।

नियमावली

(१) माघ माह से प्राचीन भारत का वर्ष आरम्भ होता है। हर माह के पहले हफ्ते में यह पत्रिका प्रकाशित होती है। हर संख्या में लगभग ७२ पृष्ठ रहते हैं।

(२) इस पत्रिका का वार्षिक मूल्य ४) तथा छमाही मूल्य २।) रुपये (डाक सहित) है। प्रति संख्या की कीमत ।≥), डाक अलग।

(३) वार्षिक या छमाही मूल्य पहले देना पड़ता है।

(४) किसी विशेष-संख्या के प्रकाशित होने पर वार्षिक-ग्राहकों को उसकी कीमत नहीं देनी पड़ती है।

(५) वर्ष-समाप्ति के एक माह पूर्व वसूली के लिये पत्र दिया जाता है नहीं तो वर्ष-समाप्ति के बाद पहली संख्या वी० पी० द्वारा भेजी जाती है। जो महोदय पत्रिका बन्द करना चाहते हैं उन्हें पहले ही सूचित करना आवश्यक है।

(६) ग्राहक का पता यदि बदल जाय तो जितनी जल्दी हो सके सूचित करना चाहिये।

(७) ठीक समय में यदि पत्रिका न मिले तो ग्राहक १५ दिन के भीतर सह० सम्पादक को सूचित करें।

(८) लेखक कृपया पृष्ठ की एक ओर अपना लेख भेजें। प्रूफ केवल एक ही बार लेखक के पास भेजा जा सकता है।

(९) जो महाशय १००) देने की कृपा करेंगे वे इस संस्था के आजीवन—सदस्य बनेंगे। उन्हें पत्रिका एवं इस संस्था से प्रकाशित हिन्दी पुस्तकें मुफ्त में दी जावेंगी।

Printed and Published by Mr Gour Chandra Sen, B Com, from the Indian Research Institute, 170, Maniktala Street, Calcutta, at the Sree Bharatee Press of the same address.

सूचोपत्र

प्राचीन भारत

(भारतीय शास्त्र एवं संस्कृति सम्बन्धीय मुख्य मासिक पत्रिका)

प्रथम वर्ष } आषाढ़ (संवत् १९९८) { छठवीं संख्या

राजपूत शब्द और उसका अर्थ

कुमारी पद्मा मिश्रा, एम० ए०

राजपूत का साधारण अर्थ है 'हिन्दुओं का द्वितीय वर्ण अर्थात् क्षत्रिय, अथवा वे हिन्दू जो अपने को प्राचीन क्षत्रियों की सन्तान कहते हैं।' वास्तव में राजपूत शब्द का क्या अर्थ है यह बताना कठिन है। इस विषय में मुन्शी देवी प्रसाद जी का कथन उपयुक्त प्रतीत होता है। उनका कहना है कि राजपूत भूमि के स्वामित्व को बहुत श्रेय देते हैं। उनका पद, उनकी मर्यादा और प्रतिष्ठा इसी के आधीन होती है और बिना मारकाट के वे कभी अपनी अधिकृत भूमि को नहीं छोड़ते[1]।

राजपूत शब्द संस्कृत के राजपुत्र का ही रूपान्तर है पर दोनों अर्थों में बहुत अन्तर है। राजपुत्र का अर्थ है 'राजा का लड़का या राजकुमार' और राजपूत का तात्पर्य आजकल जमींदारों की एक श्रेणी से है। राजपुत्र का प्रयोग इस अर्थ में संस्कृत साहित्य अथवा प्राचीन लेख आदि में कहीं हुआ है या नहीं, इस पर विचार करना है।

कथासरित्सागर की चौबीसवीं तरंग[2] में रत्नपुर के रहने वाले शिव और माधव नाम के दो धूर्तों की कहानी दी हुई है। उज्जयिनी में आकर शिव ने ब्रह्मचारी का वेश धारण किया और माधव

---

१ मारवाड़ की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट, १८९१, पृष्ठ १८।

२ क० सागर, २४, श्लोक ८२ और उसके बाद।

ने राजपुत्र का। यहां राजपुत्र राजपूत का ही द्योतक हो सकता है। माधव यदि राजकुमार का वेष धारण करते तो सबकी उत्सुकता बढ़ती और सबका ध्यान उधर आकृष्ट होता। इस कथा को अच्छी तरह पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस में राजपुत्र का प्रयोग राजपूत के अर्थ में ही हुआ है। राजपुत्र का वेष धारण करने के बाद माधव ने उज्जयिनी के राजपुरोहित के पास सदेशा भेजा कि वे दक्षिण के एक राजपुत्र हैं और अपने सम्बन्धियों के अन्याय से दुखी होकर वहां आये हैं। उनके साथ और बहुत से राजपूत हैं और वे स्थानीय राजा की सेवा में रहने का सौभाग्य चाहते हैं। यहां राजपुत्र का अर्थ राजपूत ही ठीक जचता है। जब हम देखते हैं कि सी० एच० टावनी ने इसके अंग्रेजी अनुवाद में राजपुत्र के लिये प्रत्येक स्थान पर राजपूत का ही प्रयोग किया है तो इस विचार की और भी पुष्टि हो जाती है। इसी तरह कथासरित्सागर की कुछ अन्य कथाओं३ में भी जहां जहां राजपुत्र का प्रयोग हुआ है उसका अर्थ राजपूत ही उपयुक्त लगता है।

काश्मीरी कवि और ऐतिहासिक कल्हण ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक राजतरङ्गिणी में सम्पन्न-जन (nobility) के अर्थ में राजपुत्र का व्यवहार किया है। इस ग्रन्थ की सातवीं तरंग४ में राजा अनन्त का वर्णन है जिनका अनुसरण 'राजपुत्रगण, अश्वारोही, सशस्त्र सैनिक और डामर' कर रहे थे। राजपुत्र का अर्थ यहां राजकुमार तो हो नहीं सकता क्योंकि उनका ग्रहण तो इसी प्रसङ्ग के पिछले श्लोक५ में 'नृपात्मजाः' शब्द से हो चुका है। सर औरेल स्टाइन और श्रीयुत आर० एस० पण्डित इस पद्य में तथा ऐसे दूसरे श्लोकों में राजपुत्र का अनुवाद राजकुमार के पर्यायवाची किसी शब्द से नहीं करते पर राजपुत्र ही लिखते हैं६। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने भी इसे इसके आधुनिक अर्थ अर्थात् राजपूत के लिये समझा है।

कल्हण ने जयसिंह के राज्यकाल सन् ११४९ ई० में राजतरङ्गिणी समाप्त की थी और कथा-सरित्सागर के रचयिता सोमदेव का जीवनकाल सन् १०६३ और १०८२ के भीतर माना जाता है। इससे भी पहले के राजपुत्र के ऐसे प्रयोग संस्कृत साहित्य में मिलते हैं जिन्हें राजपूत के अर्थ में लिया जा सकता है। वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड७ में इक्ष्वाकु वंशज त्रिशंकु को विश्वामित्र राजपुत्र कह कर

---

३ कथा सरित्सागर, तरङ्ग ३८, श्लोक १७ और ७४।
 " तरङ्ग ७४, " ५९।
 " " ११६, " २४ और २९।

४ रा० तरङ्गिणी, ७,२६०।

५ " ७,२५७।

६ " ७,४८ और ७२५।

७ वा० रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ५८, श्लोक ११।

सम्बोधित करते हैं। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि इसके पहले और बाद के श्लोकों में त्रिशंकु को राजा कहा गया है। यदि त्रिशंकु राजा थे तो उन्हें राजपुत्र कहने का क्या प्रयोजन था इसलिये राजपुत्र का अर्थ यहां राजकुमार नहीं हो सकता। वह तो यहां प्राचीन समृद्धिशाली समाज के एक व्यक्ति का बोध कराता है।

प्रश्नोपनिषद्[८] के इस वाक्य में राजपुत्र का उल्लेख मिलता है—"भगवन् हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्य एत प्रश्नमपृच्छत"। मैक्समूलर ने इस उपनिषद् के अनुवाद में 'कौसल्यो राजपुत्रः' का अर्थ दिया है[९]—'कोसला के राजकुमार'। यदि 'कोसलो राजपुत्रः' होता तब यह अर्थ ठीक था, लेकिन 'कौसल्यो राजपुत्रः' का यह अर्थ ठीक नहीं। शंकराचार्य ने इस काव्य की टीका करते हुए लिखा है—'कोसलायां जातो जातितः क्षत्रियः' अर्थात् कोसल देश में उत्पन्न और जाति के क्षत्रिय। इससे यह प्रतीत होता है कि हिरण्यनाभ कोसला के राजकुमार नहीं किन्तु वहां के निवासी थे और जाति के क्षत्रिय या राजपुत्र थे। इस अर्थ में प्रयुक्त राजपुत्र का सबसे प्राचीन उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण[१०] में है। इसमें शुनःशेप की कथा है जिन्हें उनके पिता ने यज्ञ में बलि देने को बेच दिया था। इस विपत्ति से बचने पर उन्हें सौभाग्यवश विश्वामित्र की संरक्षता मिल गई। विश्वामित्र ने शुनःशेप को गोद लेने की इच्छा प्रकट की, इस पर शुनःशेप ने उनसे पूछा—'स वै यथा नो ज्ञपया राजपुत्र! तथा वद', अर्थात् हे राजपुत्र! मुझे बतलाइये। इसके पहले शुनःशेप के पिता ने विश्वामित्र को ऋषि कहकर पुकारा था, इसलिये यहां राजकुमार अर्थ उपयुक्त नहीं होगा। इसका तात्पर्य यहां प्राचीन सम्पन्न-समाज के सदस्य से है। विश्वामित्र का सपत्तिशाली होना तो इसी से सिद्ध है कि उन्होंने शुनःशेप को अपने ज्येष्ठ का अधिकारी नियुक्त किया था।

राजपुत्र के अर्थ पर प्राचीन लेखों से क्या प्रकाश पड़ता है अब इसकी विवेचना करनी है। चम्बा के कुछ लेखों में यह वाक्य पाया जाता है 'समुपागतान् सर्वानेव नियोगस्थान् राजा-राजानक-राजपुत्र-राजामात्य-राजस्थानीय···' इत्यादि। इसके बाद राज्याधिकारियों की एक लम्बी सूची रहती है। प्रो॰ फोगेल इन शब्दों की व्याख्या करते समय राजपुत्र के सम्बन्ध में लिखते हैं[११]—'It is a title of nobility or a class name ,....It is however, possible that from its original sense, 'as son or near relative of

---

८ प्रश्नोपनिषद् ६,१।

९ Sacred Books of the East, vol. xv, p. 283.

१० ऐतरेय ब्राह्मण, ७,१७।

११ Antiquities of Chamba State. part I, p. 122.

a raja', it had already like the modern Rajput come to be used of the nobility in general' ?

"यह सम्भव हो सकता है कि अपने असली अर्थ 'राजा के लड़के या निकट सम्बन्धी' से आजकल के राजपूत की भांति यह सम्पन्न-लोक-समुदाय का द्योतक हो गया था।" ऊपर के प्रकरण में नियोगस्थ शब्द आया है, उसका अर्थ फोगेल साहब ने (Official) अर्थात् राज्याधिकारी या राज्य-कर्मचारी दिया है परन्तु यह युक्ति-युक्त नहीं लगता। कुछ राजा और राजानक राज्याधिकारी भले ही रहे हों, पर प्रत्येक राजा आदि का राज्याधिकारी होना सम्भव नहीं था। नियोगस्थ का अर्थ अधिकारी (Functionary) अधिक उपयुक्त होगा। राजा और राजानक आदि अपनी और अपने पड़ोसियों की सम्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ न कुछ अधिकारों का उपभोग करते थे। वास्तव में राजकीय भूमि से केवल जमींदारों का ही सम्बन्ध नहीं रहता था पर सरकारी कर्मचारियों का भी। हां, दोनों को अधिकारी कहा जा सकता है। यहां ध्यान देने की बात यह है कि राजा और राजानक की तरह राजपुत्र भी भूमि और ग्राम आदि के वितरण में उसी तरह का भाग लेते थे जैसे राजामात्य आदि राज्याधिकारी। चम्बा के इन लेखों से पता चलता है कि उस समय चम्बा में सम्पन्न पुरुषों के तीन विभाग थे—राजा, राजानक और राजपुत्र। इसके कुछ समय बाद और एक दूरवर्ती प्रान्त बङ्गाल में सम्पन्न जनों के इससे भिन्न विभाग मिलते हैं। बल्लालसेन और उनके पुत्र लक्ष्मणसेन के तांबे के दानपत्रों में अधिकतर यह वाक्य मिलता है—'समुपागताशेषराज-राजन्यक-राज्ञी-राणक-राजपुत्र' आदि, इसके बाद अन्य राज्याधिकारियों के नाम रहते हैं। इन लेखों के राजा और राजपुत्र चम्बा के लेखों के राजा और राजपुत्र के समान हैं और चम्बा का राजानक सेन लेखों के राजन्यक से मिलता जुलता है। इस तरह हम देखते हैं कि सेन काल में बङ्गाल में राजा, राजन्यक, राज्ञी, राणक और राजपुत्र ये पांच श्रेणियां थीं, जिनकी पदवी उनके नाम की स्थिति के अनुसार थी। इस विभाग में राजा का स्थान सबसे ऊंचा और राजपुत्र का सबसे नीचा था। इससे यह प्रकट है कि राजपुत्र सम्पन्न-जनों की सबसे नीची श्रेणी में थे।

राजपूत अपनी उत्पत्ति क्षत्रियों से बताते हैं, इसलिये यहां क्षत्रिय शब्द के प्राचीन और आधुनिक अर्थ पर विचार करना अप्रासङ्गिक न होगा।

आजकल क्षत्रिय का आशय है हिन्दुओं के द्वितीय वर्ण से। पर पहले इसका यह अर्थ नहीं था। ऋग्वेद में जहां जहां क्षत्रिय शब्द का प्रयोग हुआ है विद्वानों ने उसका अर्थ प्रत्येक स्थान पर राजा या राजकुमार ही किया है। सायण ने जिन ऋचाओं में इसका अर्थ क्षत्रिय जाति दिया है[१२], वहां यह आदित्य

---

१२ ऋग्वेद—४,४२,१।
" ८,५६,१।

और वरुण का विशेषण है। यह तो विश्वास-योग्य नहीं है कि देवताओं ने अपने समाज को ब्राह्मण आदि वर्णों में विभाजित कर लिया हो। इसलिये जब आदित्य और वरुण के लिये क्षत्रिय शब्द का प्रयोग हुआ है तब उसका स्वाभाविक अर्थ 'राजा या शासक' ही होना चाहिये। इससे यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद में इसका अर्थ आजकल प्रचलित अर्थ से बिलकुल भिन्न था। द्वितीय वर्ण के लिये पुरुष सूक्त[13] में राजन्य का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि उस समय तक क्षत्रिय शब्द क्षत्रिय जाति का द्योतक नहीं था। ब्राह्मणों में ब्राह्मण आदि के वर्णन में राजन्य शब्द का ही प्रयोग बहुधा पाया जाता है, यद्यपि क्षत्रिय भी इस सम्बन्ध में कहीं कहीं मिलता है। इस नये अर्थ के साथ साथ क्षत्रिय शब्द का प्रयोग पहले अर्थ में भी होता है। जहां क्षत्रिय और राजन्य साथ साथ आते हैं तो वह क्षत्रिय जाति का नहीं किन्तु शासक का ही बोध कराता है। जैसे ऐतरेय ब्राह्मण[14] में—'यद् ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यो दीक्षिष्यमाणो क्षत्रियं देवयजनं याचति, कं क्षत्रियो याचेत्।' 'यदि यज्ञ करने के इच्छुक ब्राह्मण, राजन्य और वैश्य यज्ञ के स्थान के लिये क्षत्रिय (राजा) से पूछे तो क्षत्रिय (राजा) किससे पूछे।' राजन्य का प्रयोग यहां द्वितीय वर्ण के लिये हुआ है यह तो निर्विवाद ही है फिर क्षत्रिय का अर्थ राजा ही हो सकता है। इस प्रकरण में जहां जहां इन दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है वहां इनका यही अर्थ किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि क्षत्रिय का अर्थ ऋग्वेद में शासक ही था, और ब्राह्मण आदि में यद्यपि द्वितीय वर्ण के लिये इसका व्यवहार होने लगा है पर अपने पहले अर्थ को भी इसने बिलकुल दूर नहीं किया। अथर्ववेद में इसका क्या अर्थ था, इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। 'इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं मे' इस ऋचा[15] में क्षत्रिय का पर्यायवाची शब्द सायण ने राजा दिया है और इसका यही आशय ठीक लगता है। पर कुछ ऐसे स्थल भी हैं जहां इसका अर्थ बताना कठिन है, जैसे इस ऋचा[16] में 'य एवं विदुषो ब्राह्मणस्य क्षत्रियोगामादत्ते' सम्भव है ब्राह्मणों की तरह अथर्ववेद में भी पूर्वोक्त दोनों अर्थों में इसका व्यवहार होता था। राजपुत्र की तरह धीरे धीरे इसका भी अर्थ बदल गया और यह राजपरिवार के व्यक्तियों का सूचक बन गया। फिक नामक विद्वान् की सम्मति में महाभारत में इसका यही अर्थ था। इन्होंने पाली जातकों के अच्छी तरह अध्ययन करने के बाद लिखा है[17]—'जातकों में खत्तिय (क्षत्रिय) का प्रयोग भारत

---

१३ ,, १०,९०.१२।

१४ ऐ० ब्राह्मण, ७,२०।

१५ अथर्ववेद, ४,२२,१।

१६ ,, १२,५,४६।

१७ Fick—The Social Organisation in North East India Translated by Maitra, p. 79-80.

के आदि निवासियों के विजेताओं की सन्तति और शासक तथा उनके सम्बन्धियों के लिये हुआ है।' वैदिक काल में और जातकों के समय भी आर्यों में समाज की कोई कड़ी व्यवस्था न थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों विभाग विभिन्न श्रेणियों की तरह थे। कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र में चारों वर्णों के कार्य अलग अलग निर्धारित किये[१८] हैं। उसके बाद ही यह कट्टरपन आ गया होगा। काम के इस तरह बट जाने पर क्षत्रियों के मुख्य कर्म शासन, पालन और युद्ध हो गये होंगे। क्षत्रिय का अर्थ भी द्वितीय वर्ण अथवा योद्धा हो गया होगा। प्रारम्भ में इसका अर्थ राजा था फिर सम्पन्न जन हो गया, यह हम ऊपर देख ही चुके हैं। यहां यह ध्यान देने योग्य बात है कि राजपुत्र का भी पहले यही अर्थ था।

मैथिल साहित्य और विद्यापति

डा० सुकुमार सेन, एम० ए०, पी-एच० डी०

पाल और सेन वंश के राज्यकाल में तिरभुक्ति या मिथिला की संस्कृति और साहित्य-चर्चा बङ्गाल से स्वतन्त्र नहीं थी। बङ्ग भाषा और मैथिल भाषा दोनों ही मागधी प्राकृत से निकली हैं। ११वीं और १२वीं शताब्दी में इन दोनों भाषाओं में जो पार्थक्य था वह वर्तमान बङ्ग भाषा की दो उप-भाषाओं में जो पार्थक्य है उससे अधिक नहीं था। बङ्ग और मैथिल दोनों भाषाओं में कृष्ण-लीलात्मक और आध्यात्मिक गीतों के आधार पर साहित्य-रचना हुई थी। दोनों भाषाओं का सबसे प्राचीन आदर्श था जयदेव के पद।

१३वीं शताब्दी में तुर्कों ने बङ्गाल को जीता और साथ ही साथ बङ्गदेश तिरभुक्ति से अलग हो गया। बीच-बीच में मुसलमानी शक्ति से आक्रान्त होने पर भी मिथिला लगभग दो सौ वर्षों तक अपनी स्वाधीनता बनाये रहा। इसलिये १४वीं शताब्दी में मिथिला में साहित्य-चर्चा का निदर्शन मिलता है पर उस समय बङ्ग भाषा में लिखा हुआ कुछ भी नहीं मिलता।

कृष्ण-लीला विषयक पद बङ्गाल में १५वीं शताब्दी से मिलते हैं। पर १४वीं शताब्दी

---

१८ D. R. Bhandarkar—Some Aspects of Ancient Indian Culture, p. 13.

के अन्तिम भाग में रचित पद मिथिला में अधिकतर पाये जाते हैं। असम्पूर्ण गद्य में लिखा हुआ एक ग्रन्थ भी पाया गया है।

मिथिला के कर्णाट वंशीय राजा हरसिंह (हरिसिंह या हरिहरसिंह) देव के मन्त्री उपाध्याय उमापति ने संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में 'पारिजात-हरण' नामक एक नाटक की रचना की थी। इसमें इक्कीस मैथिल पद हैं। इन पदों की भणिता में उमापति मिश्र का नाम है। कई पदों की भणिताओं में राजा और राजमहिषी के नाम मिलते हैं। हरसिंह देव ने दिल्ली के सुलतान ग्यास्-उद्दीन तुगलक (गयासुद्दीन १३२०-२४) से युद्ध कर मिथिला की स्वाधीनता की रक्षा की थी। इसलिये वह राजा 'हिन्दूपति' नाम से प्रसिद्ध हुआ था। उमापति ने अपने पदों में 'हिन्दूपति' नाम से उनका उल्लेख किया है। उमापति के कई पद बाद में विद्यापति के नाम से प्रचलित हो गये थे।

हरसिंह देव के एक दूसरे सभासद् पण्डित थे जिनका नाम था ज्योतिरीश्वर और उनकी उपाधि थी कविशेखराचार्य। उन्होंने संस्कृत में कई पुस्तकें लिखीं उनमें से एक प्रहसन की पुस्तक थी जिसका नाम धूर्तसमागम था। ज्योतिरीश्वर ने मातृभाषा में एक गद्य-ग्रन्थ भी लिखा था। इस ग्रन्थ का नाम वर्णरत्नाकर है। अभी हाल ही में यह पुस्तक एशियाटिक सोसाइटी (बङ्गाल) से श्रीयुत सुनीति कुमार चट्टोपाध्याय और श्रीयुत बबुआ मिश्र के द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुई है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में रची हुई सबसे प्राचीन पुस्तकों में से यह दूसरी है इसलिये इसका मूल्य बहुत है। वर्णरत्नाकर कवियों और कथकों का 'कड़चा' ग्रन्थ है। इसमें शहर, बाजार, राजसभा, नायक-नायिका, प्रभात, सन्ध्या आदि का मामूली वर्णन संक्षेप में दिया गया है। बीच-बीच में ऐसे छन्द हैं जो कुण्डलिया से लगते हैं।

मिथिला के श्रेष्ठ और आधुनिक भारतीय साहित्य के अन्यतम श्रेष्ठ कवि विद्यापति का १४वीं शताब्दी के अन्तिम दशाब्द में जन्म हुआ था। ये ब्राह्मण थे और एकाधिक तिरभुक्ति राजाओं की सभा में रहकर उन्होंने पदों की रचना की थी। विद्यापति के रचे हुए अधिकांश पदों की भणिताओं में शिवसिंह देव का नाम मिलता है जिनके राज्यकाल में विद्यापति की प्रतिभा उच्च कोटि पर पहुँची थी।

विद्यापति ने संस्कृत भाषा में कई स्मृति और व्यवहार ग्रन्थों की रचना की थी। इनमें से 'भूपरिक्रमा', 'लिखनावली', 'गङ्गावाक्यावली', 'दुर्गाभक्ति-तरङ्गिनी' और 'पुरुष-परीक्षा' उल्लेखनीय हैं। 'पुरुष-परीक्षा' का बङ्गाल में अधिक प्रचार हुआ था। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हरप्रसाद राय ने इसे बङ्ग भाषा गद्य में अनुदित किया था।

विद्यापति की दो पुस्तकें अवहट्ठ या अर्वाचीन अपभ्रंश भाषा में हैं। इन दोनों पुस्तकों के नाम हैं 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका'। कीर्तिलता ऐतिहासिक काव्य-ग्रन्थ है। कवि के प्रारम्भिक

जीवन के पृष्ठपोषक कीर्तिसिंह थे जिनके बड़े भाई थे वीर सिंह। इन दोनों के पिता असलान नामक एक तुर्क के हाथ मारे गये थे। जौनपुर के अधिपति इब्राहिम शाह की सहायता से उन्होंने असलान को पराजित किया था।

विद्यापति ने अवहट्ठ भाषा में कई फुटकर पद भी लिखा है। शिवसिंह देव के पिता देवसिंह देव के राज्यकाल में उन्होंने मैथिल भाषा में पद रचना की थी। इस समय के रचे हुए पदों की भणिताओं में राजा और रानी के नाम मिलते हैं :—

विद्यापति कवि गाओल रे रस बुझ रसमन्त।
देवसिंह नृप नागर रे हासिनी देवी कन्त॥

यह पहले ही कहा गया है कि विद्यापति के अधिकांश पदों में शिवसिंह देव का नाम मिलता है। शिवसिंह देव के नाम के साथ प्रायः उनकी महिषी लखिमा (या लछिमा) देवी का नाम भी आता है। दूसरी रानियों के नाम भी पाये जाते हैं। कई पदों में राजपरिवार के व्यक्तियों के नाम मिलते हैं। ये सब कवि के पृष्ठपोषक थे। इससे यह मालूम होता है कि कवि की ख्याति का विस्तार बहुत ही अधिक हुआ था।

विद्यापति की कविता अलङ्कारमय और चित्र-बहुल है। ये संस्कृत भाषा के पण्डित थे। इन्होंने कई संस्कृत उद्भट कविताओं से भाव और अलङ्कार लिये थे। विद्यापति की किशोरी राधा का चरित्र जैसा सुपरिस्फुट हुआ है ऐसा दूसरे किसी कवि की रचनाओं में नहीं देखा जाता। मैथिल भाषा के ह्रस्व और दीर्घ स्वरों से भरी हुई ध्वनि और मात्रावृत्त छन्दों के कारण विद्यापति के पदों में विचित्र भाव की झनकार सुनाई पड़ती है।

विद्यापति और इनके पूर्ववर्ती मैथिल कवियों के पदों ने बङ्गाल, आसाम और उड़ीसा में कविता की एक विचित्र भाषा का प्रचार किया था जिससे पदावली साहित्य की नींव पड़ी।

१५वीं शताब्दी के अन्तिम दशाब्द में बङ्गाल के कई कवि विद्यापति की नकल कर ब्रजभाषा में पद्य लिख प्रसिद्ध हुए थे। हुसेन शाह के एक कर्मचारी कविशेखर ने—जिनका असली नाम देवकीनन्दन सिंह था—विद्यापति की भणिता की ओट में कई पद रचे थे। इनके पद भी विद्यापति की टक्कर के थे जिससे ये 'द्वितीय विद्यापति' कहलाते हैं। विद्यापति की भणिता-युक्त जिन पदों में हुसेन शाह का उल्लेख है वे सब इन्हीं की रचना हैं। ये हुसेन शाह के पुत्र नुसरत शाह और घियास-उद्दीन की सभा में गये थे, क्योंकि इनके रचे हुए दो एक पदों में इन दोनों के नाम मिलते हैं। विद्यापति ने बङ्ग भाषा में भी पदों की रचना की थी।

१६वीं शताब्दी में ब्रजभाषा कविता की रचना में जो कवि विद्यापति की तरह प्रतिभा दिखला गये हैं उन सबों में विशेषतः उल्लेखनीय हैं, कविरञ्जन, कविवल्लभ और गोविन्ददास कविराज।

विद्यापति के पदों का प्रचार मिथिला में अधिक नहीं था। ये पद वैष्णव पदकर्त्ता और कीर्त्तन-गवैयों की चेष्टा से आजतक रक्षित थे। ये विशेषतः 'पदामृत-समुद्र', 'पदकल्पतरु', 'गीतचिन्तामणि' आदि संग्रह ग्रन्थों में पाये जाते हैं। मिथिला में पाये गये पदों की संख्या करीब सौ है। १९वीं शताब्दी के अन्त में विद्यापति के पदों पर शिक्षित बङ्गालियों की दृष्टि पड़ी। इसीसे विद्यापति के पदों के दो-चार संग्रह पुस्तक प्रकाशित हुए। इन सब ग्रन्थों का मूल्य कम नहीं है तिस पर भी यह कहना पड़ेगा कि इन्हीं सब सङ्कलनकारों की लापरवाही के कारण विद्यापति के नाम से कविशेखर, कविरञ्जन और कविवल्लभ के ब्रजभाषा में रचे हुए पदों का प्रचार होने लगा। "सखि हे हमारि दुखेर नाहि ओर", और "सखि हे कि पुछसि अनुभव मोय",—ये दो पद विद्यापति की श्रेष्ठ रचनाओं के अन्यतम उदाहरण हैं—ऐसा सब का कहना है। पर ये पद विद्यापति के रचे हुए नहीं हैं। पहला पद कविशेखर की रचना है। प्राचीन पोथियों के अनुसार इस पद की भणिता इस प्रकार है :—

भनइ शेखर कैसे निबह
सो हरि विनु इह रातिया।

कविता के छंद और अर्थ की ओर ध्यान देने से भी यही प्रत्यक्ष होता है कि "हरि विने दिन रातिया" से "सो हरि विनु इह रातिया" अधिक युक्ति-युक्त है। दूसरा पद कविवल्लभ की रचना है।

पदकल्पतरु में उद्धृत दो एक पदों में चण्डीदास और विद्यापति की भेंट का वर्णन किया गया है। विद्यापति १५वीं शताब्दी के मध्य भाग में जीवित न थे, चण्डीदास के समय का भी कुछ ठीक नहीं बल्कि द्वितीय विद्यापति और द्वितीय चण्डीदास भी थे, और ये पद प्राचीन पोथियों में भी नहीं हैं। इन सब कारणों से यही मालूम पड़ता है कि यदि इन सब पदों में सचाई हो तो कोई अर्वाचीन विद्यापति और अर्वाचीन चण्डीदास की भेंट हुई होगी।

आसाम और उड़ीसा में ब्रजभाषा की पदावली :

बङ्गाल की तरह आसाम में भी १५वीं शताब्दी के शेष से ब्रजभाषा में कृष्णलीला विषयक पदों की रचना होने लगी। उस समय असमिया भाषा बङ्गला भाषा से स्वतंत्र न थी; उत्तर पूर्व बङ्गदेश में जो उपभाषा उस समय प्रचलित थी आसाम की भाषा भी वही थी। अतः इस हिसाब से प्राचीन असमिया साहित्य बङ्गाल के साहित्य के बाहर नहीं है।

आसाम में वैष्णव धर्म के प्रवर्त्तक शंकर देव श्रीचैतन्य के समसामयिक थे। इनकी मृत्यु १५१८ ई० में कुचविहार में हुई थी। इन्होंने श्रीकृष्ण चरित्र पर कई पदों की रचना की थी। शङ्कर देव ने संस्कृत श्लोक और ब्रजभाषा के संयोग से कृष्णचरित्र तथा रामचरित्रों के आश्रय पर कई छोटी छोटी नाटकें भी लिखीं। ये अभी नृत्य-गीत के संयोग से खेले जाते हैं।

कुचविहार के राजा नरनारायण के भाई और सेनापति शुक्लध्वज के प्रोत्साहन से शंकरदेव ने 'रामविजय' नाटक की रचना की और रुक्मिनीहरण और केलिगोपाल नाटक रामराय के उद्योग से रचे गये थे और उनका अभिनय भी हुआ था। ये कदाचित् कुचविहार के कोई सामन्त थे। पारिजातहरण नाटक के अन्त में कवि के अन्यतम पृष्ठपोषक जगदानन्द दलपति का नाम है।

शङ्कर देव के प्रधान शिष्य तथा सहायक माधव देव ने भी कई कृष्णलीलात्मक पदों की रचना की थी। माधव देव के प्रधान शिष्य "दीन" गोपालदेव ने भी गुरु के अनुकरण में पदों की रचना की।

प्राचीन काल में बङ्गाल, विशेषतः पश्चिम बङ्गाल के साथ उड़ीसा का संयोग बहुत ही घनिष्ठ था। हर साल स्नानयात्रा, रथयात्रा तथा दूसरे तिथि-त्योहारों में बङ्गाल के सैकड़ों तीर्थयात्री नीलाचल जाया करते थे। गौड़ से नीलाचल तक दक्षिण की ओर सीधी लम्बी सड़क थी।

बङ्गाल से नीलाचल के बीच में आने जाने और समाचारादि भेजने के लिये सविशेष सुभीते थे। श्रीचैतन्यदेव संन्यासग्रहण के उपरांत माता की अनुमति लेकर नीलाचल गये थे। १६वीं शताब्दी के मध्यभाग तक उड़ीसा की हिंदू-स्वाधीनता अटूट रही। इसी कारण ब्राह्मण-पण्डित तथा साधु-सन्यासियों ने नीलाचल में रहना स्वीकार किया था।

बङ्गाल से ही ब्रजभाषा-पदों की रचना-धारा उड़ीसा में प्रचलित हुई। उड़ीसा के प्राचीनतम पद के रचयिता थे रामानन्द राय जो उड़ीसा के राजा प्रतापरुद्र देव के विश्वस्त प्रतिनिधि और श्रीचैतन्यदेव के मित्र थे।

"पहिलहि राग नयन भंग भेल" इत्यादि रामानन्द राय के रचित पद पहले पहल चैतन्यचरितामृत में उद्धृत हुए थे। रामानन्द ने संस्कृतभाषा में एक नाटक लिखा था। इस नाटक का नाम जगन्नाथवल्लभ है। इसमें जयदेव की ढांच से बने हुए कई संस्कृत पद हैं। यह नाटक नीलाचल में जगन्नाथदेव के मन्दिर में खेला जाता था। श्री चैतन्य इसका अभिनय देख सन्तुष्ट हुए थे*।

---

* श्रीयुत सत्येन्द्र नाथ घोषाल एम० ए० ने इस लेख का बङ्ग-भाषा से अनुवाद किया है।

भक्तमाल की एक टीका

(पूर्वानुवृत्ति)

श्री कालिदास मुकरजी

श्री सेना जू की टीका

बाधोगढ़ वास हरि साधु सेवा मन लागि
पागि मति अति प्रभु परचौ दिषायो है ॥
करि नित्य नेम चल्यौ भूप कौ लगाउ तेल
भये वगमेल संत फिरि घर आयो है ॥
टहल बनाइ करि नृप कि न संक धरि
धरि उर श्याम जाइ भूपनि रिझायो है ॥
पाछे सेन गयो पथ पुछो हियो रंग छयो
भयो अचरज राजा वचन सुनायो है ॥३०५॥
फिरि कैसे आये सुनि अतिही लजाय कही
सदन पधारे संत भइ यो अवार है ॥
आवन नहि पायो वाही सेवा अरुझायो
राजा दौरि शिर नायो देषि महिमा अपार है ॥
भीजि गयो हिय दास भाव दिढ लियो
पियो भक्ति रस शिष्य हुं के जान्यौ योइ सार है ॥
अबलौ हु प्रीति सुन नाती वही रीति चलै
होइ जो प्रतीति प्रभु पावै निराधार है ॥३०६॥

श्री कृष्णदास ब्रह्मचारी जू की टीका

गोसाइ श्री सनातन जू मदन मोहन रूप
माथे पधराइ कही सेवा नीके कीजियै ॥
जान कृष्णदास ब्रह्मचारी अधिकारी भये
भट्ट श्री नारायण जु शिष्य किये रीझियै ॥

करिकै सिगार चारु आपुहि निहारी रहै
गहे नहि चेत भाव माफ मति भीजियै ॥
कहा लौ बषाण करौ राग भोग रीति भांति
अबलौ विराजमान देषि देषि जीजियै ॥३७६॥

श्री सधना जू की टीका

सधना कसाइ ताकी नीकी कसकाइ यैसे
वारावाणो सो नेकि कसोटो कसि आइ है ॥
जीव को न बध करै अपै कुलाचार टरै
बेचै मास लाइ प्रीति हरि सो जनाइ है ॥
गडकी कौ सुत विन जाने ताम्यो तौल्यौ करे
भरै हग साधु आनि पूजे पै न भाइ है ॥
कहौ निसि स्वपन मे वाही ठौर देव मोको
सुनौ गुण गान रिभौ हिये की सचाइ है ॥३८९॥
लै कै आयो साधु मै तौ बड़ौ अपराध कियो
कियो अविवेक सेवा करौ पे न भाइ है ॥
एतो प्रभु रीझे तो पै योइ चाहौ सोइ करौ
गरो भरि आयो सुनि मति बिसराइ है ॥
बेइ हरि उर धारि डारि दियो कुलाचार
चले जगनाथ देव चाह उपजाइ है ॥
मिल्यो एक एक संग जात वे सुगात सब
जाते आप दूर दूर रहै जानि जाइ है ॥३९०॥
आयो मग गाव भिक्षा लेन एक ठाव गयो
नयो रूप देषि एक तिया रीभि परी है ॥
बैठो याही ठौर क़ह्यौ भोजन निहोरि करौ
रह्यौ निशि सोइ आइ मरी मति हरी है ॥
लेव मोको संग गरौ काटौ तौ न होइ रंग
बुझि और काटि पति ग्रीवा पै न डरी है ॥

कही अब पागी मो सो बातो कौन तो सो मो सो
सोर करि उठी इनि मारौ और करी है ॥३९१॥
हाकिम पकरि पुछौ कह्यौ हंसि मारौ हम
डारौ सोच भारी कह्यौ हाथ काटी डारी है ॥
काट्यौ कर चल्यौ हरि रंग माहि भिल्यौ मानि
जानि कछु चूक मेरो यहै उर धारियै ॥
जगन्नाथ देव आप पाल्की पठायो लेन
सपना सो भक्त कहा चढौ न बिचारियै ॥
चढे आये प्रभु पास सुपनो सो मिट्यौ त्रास
बोल्यौ दै कसोटिहु पै भक्ति विस्तारियै ॥३९२॥

लोटा भक्त जु (जू) की टीका

गढागढ पूर नाम माधो बटि प्रेम भूमि
लोटैं जब नृत्य करैं भूलै सुधि अंग की ॥
भूपति विमुख झुठ जानिके परीक्षा लइ
आनि तिन क्षातनि पर देखि गति रंग की ॥
नूपरनि बांधि नाचि साची सि दिषाइ दइ
गिरो हो कराह मध्य जीवो गति पंग की ॥
बडो त्रास भयो नृपदास विश्वास बढ्यौ
मढ्यौ उर भाव रीति न्यारी या प्रसंग की ॥४५१॥

मीरा जु (जू) की टीका

मेरते जन्म भूमि झुमि हित नैन लगी
पगी गिरिधारी लाल पीता (पिता) हि की धाम मे ॥
राणा सो सगाइ भइ करी व्याह स्यामा नइ
मति को बुडाइ वा रंगीले घनस्याम मैं ॥
भावरे परत मन सांवरे स्वरूप माझ
ता बरैसि आवै चलिबे को पति ग्राम मे ॥

पुछौ पितु मातु पट आभरण लीजियै जु
लोचन भरत नीर काहा काम दाम मे ॥४६६॥
देव गिरिधारि लाल जौ निहाल कियो चाहो
और धन माल सब राषिये उठाइ कै ॥
घटी अति प्यारी प्रीति रंग चढ्यौ भारि
रोय मिली महतारो कही लीजिये लडाइ कै ॥
डोला पधराइ हग हग सो लगाइ चलि
सुख न समाइ चाइ प्राण पति पाइकै ॥
पहुचो भवन सासु देवी पै गमन कियो
तिया और वर गेठि (गांठि ?) जोरी कियो आइ कै ॥४६७॥

....

आइ कै ननद कहै गहै की न चैन भाभी
साधुन्हि के हेत मे कलक लागै भारियै ॥
राणा देशपति लाजै बाप कुल रौनि जाति
मानि लीजे बात वेगि संग निरवारियै ॥
लागे प्राण साथ सत पावत अनत सुख
जाको दुख होइ ताकी नीके करि टारियै ॥
सुनिके कटोरा भरि गरल पठाय दियो
लियो करि पान चढ्यौ रंग यो निहारियै ॥४७०॥
गरल पठायो सो तो सीस ले चढायो संग
त्यागि त्रिष भारि जाको झारण संभारी है ॥
राणानै लगायो चर बैठे साधु ढिग ढरि
तबहि षबरि करौ मारो एइ धारी है ॥
राजै गिरिधारि लाल तिनहि सो रंग जाल
बोलति हसति ख्याल कान परि प्यारी है ॥
जाइ के सुनाइ भइ अति चपलाइ लिये
आयो तरवार दै केवार षोलि नाषि है ॥४७१॥
जाके संग रंग भीनी करती प्रसंग नाना
कहा वह नर गयो वेगि दै बताइयै ॥

आगहि बिराजे कछु तोहि सो न काजै
अभु देषु सुख साजे आखे खोलि दरसाइयै ॥
भयोइ खिसानो लिख्यो चित्र भीत मानो
उलटि पयान कियो नेकु मन मे न आइयै ॥
देख्यो यो प्रभाव अपैं भाव पैं न भिज्यो जाइ
बिनु हरि कृपा कहो कापे जात पाइयै ॥४७२॥

....

रूप की निकाइ भूप अकबर हिये भाइ
लिये संतान सेन देखिबे को आयो है ॥
निरखि निहाल भयो छबि गिरिधारि लाल
पद सुखजाल एक तबही चढायो है ॥
वृंदावन आइ श्री गोसाइ जु सु मिली भिली
तिया मुख देखिबे को पण लै छुटायो है ॥
देखि कुंज कुंज जाल प्यारी सुख पुंज भरी
धरि उर माफ आयो देश वन गायो है ॥४७४॥
राणा को मलीन मति देखि बसो द्वारावती
रति गिरिधारि ला(ल) नितहि लडाइयै ॥
लागि चटपटी भूप भक्ति को स्वरूप जानि
अति दुःख मानि विप्र श्रे लै पठाइयै ॥
वेगि लै के आवो मोको प्राण दै जियावो अहो
गयो द्वार धरणो दै विनती सुनाइयै ॥
सुनि विदा होन गइ राइ रणछोर जु पै
छाडी हो न राख्यौ लीन भइ नहि पाइयै ॥४७५॥

श्री मदनमोहन सुरदास जु (सूरदास जू) की टीका

सूरदास नाम नैन कंज अभिराम फुलै
फूले रंग पीके नीके जीके और ज्यायो है ॥
भयो सो अमीन यो सडीले की नवीन
प्रीति रीति गुरु देखि दाम बीस गुणो आयो है ॥

कही पुया पायो आप मदन गोपाल लाल
परे प्रेम ख्याल लादि छकरा पठायो है ॥
आये निशि सोये श्याम किये अज्ञो योग ले के
अबही लगावै भोग जागे फीरि पायो है ॥४९,३॥

पद ले बनायो भक्ति रूप दरसायो दुरि
संतनि की पनही कि रक्षक कहाउ मै ॥
काहु सोषि लियो साधु लियो चाहै परचै को
आये द्वार मंदिर कै खोलि कहु आउ मै ॥
रहै वै जाय जुतो हाथ मे उठाइ लीनी
कीनी पुरी आस निशिदिन गुण गाउ नै ॥
भीतर बोलावै श्री गोसाइ वार दोय चारि
सेवा सौंपि सार कहि जन पद धाउ मै ॥४९४॥

पृथ्वीपति सपति लै साधुनि खवाइ दइ
भइ नहि संक यौं निशंक रंग पागे है ॥
आयो सो खजाना लेन मानो यह बात अहो
पाथर ले भरे आप आत्रि निशि भागे है ॥
रुका लिखि डारे दाम गटकि यो सतनि ने
याते हम सटके है जले जब जागे है ॥

पहुचे हजुर भूप खोलिकै संदुक देखि
पेखि आंक कागद के मे रीझि अनुरागे है ॥४९५॥
लेन को पठायो कहि निपट रिझायो हमे
मन मे न लायो लिषि बनत न डारे है ॥
टोडर दिवान (दीवान) कही धन को विराणो कियो
ल्यायो रे पकरि मूढ फेरि कै सभारे है ॥
गयो लै हजुर नृप बोल्यौ मोसो दूर राखो
ऐसो महाकुर सौपि दुष्ट कष्ट धारे है ॥
दोहा लीषि दीनो अकबर देषि रीझि लीनो
आप बाही ठौर तो मे वर्ष (ग्रन्थ ?) सब वारे है ॥४९६॥

आयो वृंदावन मन माधुरी में भीजि रह्यो

कह्यो जोइ पद सुन्यो रूप रस रास है ॥

जे दिन प्रगट भयो गयो संत औजन पै

सुनत मेववाटि जग प्यास है ॥

सुर द्विज द्विज निज महल टहल पाइ

वहल पहल हिये युगल प्रकाश है ॥

मदन मोहन जु है इष्ट इष्ट महाप्रभु

अचरज कहा कृपा दृष्टि अनायास है ॥४९७॥

श्रीतुलसीदास जू की टीका

तिया सो सनेह विन पुछे पिता गेह गइ

भइ सुधि देह भुलि वाही ठौर आयो है ॥

वधू अति लाज भइ रीसि सो निकसि गइ

प्रीति राम नहि तन हाड चाम छायो है ॥

सुनि जन वात मानो ह्वै गयो परात तव

पाछे पछतात तजि कासीपुर आयो है ॥

कियो ताहा वास प्रभु सेवा लै प्रकाश किये

लिये दृढ़ नैन भाव रूप के तिसाये है ॥५०३॥

सौच जल शेष पाइ भूत हो विशेष कोउ

बोल्यौ सुखमानि हनुमान जु वताये है ॥

रामायण कथा सो रसायन है कानन कौ

आवत प्रथम पाछे जात घृणा छाये है ॥

आइ पहिछानि संग चले उर आनि

आइ वन मध्य जाइ धाइ पाइ लपटाये है ॥

करौ सितकार कहो संकोगे न टारै

मैं तो जानो रस सार वेद वरो जैसे गाये है ॥५०४॥

मागि लीजे वर कहि दीजे राम रूप भूप

अतिहि अनूप निज नैन अभिलाषि है ॥

किये लै संकेत वाही दिन सो लख्यो हेत
आइ सोइ समोचेत कव छवि चाखिये ॥
आये रघुनाथ साथ लछमनहु चढे घोरे
पट रंग वोरे हरे कैसे मन राखिये ॥
पाछे हनुमान आये बोले देवे प्राण प्यारे
नीके न निहारे मैं तो भूले फेरि भाषिये ॥५०५॥

हत्या करि विप्र एक तीरथ करत आये
कहे मुख राम भीक्षा दीजे हत्यारे को ॥
सुनि अभिराम नाम धाम मे बुलाइ लयो
दयो ले प्रसाद भयो शुद्ध गायो प्यारे को ॥
भयो द्विज सभा कहि बोलिकै पठाये आये
कैसे गयो प.प संग लै के जेयो न्यारे को ॥
पोथि तुम वाचो हिये राम नहि साचो ताते
मति काचो दुरि करे न अध्यारे को ॥५०६॥

देखि पोथि वाचि नाम महिमा हु कही साची
अपै हत्या करे कैसे तरे कहि दीजियै ॥
आवै जो प्रतीति करो कही याके हाथ जेवे
सिव जु को वैल तव पगति मे लीजियै ॥
थार मे प्रसाद दियो चल्यो जहा पन कियो
बोले आप नाम को प्रताप मति भीजिये ॥
जैसी तुम जानौ तैसी कैसे कै वखानौ अहो
सुनिके प्रसन्न पायो जै जै धुनि रीझियै ॥५०७॥

आयो निशी चोर चोरी करण हरण धन
देख्यौ श्यामघन हाथ चाप शर लियो है ॥
जब जब आवे वान साधि डर पावे ये तो
अति मे डरावे अपै वल दुरि कियो है ॥
और आइ पुछे अजु सावरो कुयर (कुंवर?) कौन
सुनि करि मौन रहै आंसु डारि दियो है ॥

दई सब लुटाइ जानि चौकी राम राय दई

लई उन्ही दीक्षा सिक्षा सुद्ध भयो हियो है ॥५०८॥

कियो तन विप्र त्याग लाग चली संग तिया

दूरिहिते देखि किया चरण प्रणाम है ॥

बोले ये सोहागवती मरौ पति होहु सती

अवतो निकसी गइ जाइ सेवो राम है ॥

बोलिकै कुटुंब कही जो पै भक्ति करौ सही

गही तव वात जीव दयो अभिराम है ॥

भये सब साध व्या मीटी लै विमुषताकी

जाको वास रहै जौन सुन्यै स्याम धाम है ॥५०९॥

दीलीपति पातसाह आहदी पठायो लेन

ताको सो सुनायो सु वे विप्र जाय जानियै ॥

देषिबे को चाहे नीके सुष सो निवाहे आय

कहि बहु विनै गहि चल्यौ मनि आनियै ॥

पहुंचे नृपति पास आदर प्रकाश कियो

दियो उच आसन लै बोल्यौ मृदु वानी यैं ॥

दीजै करामात सब ष्यात जग मात किये

कहो झूठी बात एक राम पहिचानियै ॥५१०॥

देषै राम कैसो तेरो अैसो कहि कहद कियो

हुजियै कृपाल हनुमान जु दयाल है ॥

ताही समै फैलि गये कोटि कोटि कपि नये

नाचे तन षैंचे चीर मानो प्रलैकाल है ॥

फारे कोट मारे चोट किये डारे लोट-पोट

लीजै कौन वोट आइ भयो यो विहाल है ॥

भयो तव आषे दुष सागर के चाखे अब

वेइ हमे राषै सब वारी धनमाल है ॥५११॥

आय पाय लिये तुम दिये हम प्राण पावैं

आपु समुझावैं करामात नेकु कीजियै ॥

लाज दबि गयो तव नृप राखि लयो कह्यौ
भयो घर राम जू को वेगि छाड़ि दीजियै ॥
सुनि तजि दयो तव करो लै के कोट नयो
अवहुं न रहै कोउ वामे तन छीजिये ॥
कासी आइ वृंदावन आइ मिले नाभा जू सो
सुनो हो कवित्व निज रीझि मति भीजियै ॥५१२॥
मदन गोपाल जू को दरसन करण कह्यौ
सहि राम इष्ठ मेरे इष्ठ भाग यागि है ॥
वैस ही स्वरूप कियो दियो लै दिषाइ रूप
मन अनरूप छवि देषि नीकी लागी है ॥
कोउ कहै कृष्ण अवतारी जू प्रसंस महा
राम अंस मुनि वोले मति अनुरागी है ॥
दशरथ सुत जानौ सुंदर अनुप मानो
ईशता वताइ रीति वीरा गुण जागी है ॥५१३॥

(क्रमशः)

पाटलिपुत्र

श्री विभूति भूषण चटर्जी, एम॰ ए॰

पाटलिपुत्र के अधिष्ठाता मगध के शैशुनाग या शिशुनागवंशीय छठवें राजा अजातशत्रु[1] थे। उन्होंने 'वृजी'[2] लोगों पर आक्रमण करने के लिये (दूसरों की राय में आत्मरक्षा के लिये) गङ्गा के दक्षिण तट पर पाटलि गांव में एक किला बनवाया था। इस किले की परिधि क्रमशः बढ़ती गई और अन्त में वही पाटलिपुत्र नगर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उनके पोते उदय (उदयाश्व या उदायी) ने उसी गांव के पास ही कुसुमपुर की प्रतिष्ठा की थी। इसका दूसरा नाम पुष्पपुर[3] है। पाटलिपुत्र की उत्पत्ति की कई कहानियां हैं। लेकिन उन्हें हम ऐतिहासिक नहीं कह सकते। 'वायुपुराण' के अनुसार अपने राज्यकाल के चौथे वर्ष में उदायी ने इस नगर को बसाया था। 'महावंश' में उन्हें अजातशत्रु का पुत्र कहा गया है, लेकिन पौराणिक आधार पर वे अजातशत्रु के पोते थे। जैनों के 'स्थविरावली-चरित' के

---

१ सिंहासनारोहण काल ४९१ ई॰ पू॰ (?)। ये बुद्धदेव के समसामयिक थे। सम्भवतः राजगृह में गृध्रकूट पर्वत पर अजातशत्रु से आपकी भेंट हुई थी। 'महापरिनिब्बाणसुत्त' से यह पता चलता है कि वैशाली आक्रमण करने के पहले अजातशत्रु ने अपने मन्त्री वस्सकार को बुद्धदेव के पास उनकी राय जानने के लिये भेजा था। आपके राज्यकाल में बुद्धदेव पाटलिग्राम नालन्दा से वैशाली को गये थे। राह में पाटलि गांव में उनके ठहरने के लिये एक सराय में उन्होंने विश्राम किया था। उनके साथ बुद्धदेव का जो कथोपकथन हुआ था वह 'सामञ्ञफलसुत्त' में लिपिबद्ध है। बौद्धों ने उन्हें 'अजातसत्तु' कहा है और जैन लोग उन्हें 'कुणिक' कहते थे। [Prof. Rhys Davids कृत अनुवाद 'Dialogues of the Buddha,' १८९९ देखिये]

२ इनकी राजधानी वैशाली में थी। "In the time of the Buddha, the Videhas together with the Licchavis of Vaicāli (Basārh in the Hājipur sub-division Muzaffarpur) and other powerful clans formed a confederation and were known collectively by their tribal name as the Vṛijis (Vajjis). The reduction of their power marks an epoch in the expansion of the kingdom of Magadha"—C. H. I. V. 1. (विस्तृत विवरण के लिये Vedic Index, Pargitar : J. R. A. S. 1910 और Rhys Davids : Buddhist India आदि देखिये)।

३ "The names of Kusumapura and Pushpapura are synonymous, both meaning 'Flower-town': Patali means 'trumpet-flower,' Bignonia suaveolens"—v. s.

अनुसार उदायी ने ही पाटलिपुत्र बसाया था। 'महापरिनिब्बाणसुत्त' में भी यही दिया हुआ है और ब्रह्माण्डपुराण में भी यही लिखा हुआ है :—

"उदायी भविता तस्मात् त्रयोविंशत् समा नृपः।
स वै पुरवरं राजा पृथिव्यां कुसुमाह्वयम्।
गङ्गाया दक्षिणे कूले चतुरस्रं करिष्यति॥"

'भविष्य ब्रह्मखण्ड' में इस नगर की उत्पत्ति के विषय में जो उपाख्यान दिया हुआ है वह ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अविश्वास योग्य है४। ख़ैर, "The City so founded, including settlements of various ages, not precisely on one site, was known variously as Kusumapura, Pushpapura, or Pàtaliputra, and rapidly developed in size and magnificence, until, under the Maurya dynasty, it became the capital not only of Magadha, but of India." E H I

अजातशत्रु के पोते राजा मुण्ड के राजत्वकाल में पाटलिपुत्र मगध की राजधानी थी। पाटलिपुत्र में उनकी पत्नी भद्रा की मृत्यु होने पर शोकार्त्त होकर वे अन्तिम क्रिया करने के लिये पहले राजी नहीं हुए थे५।......लेकिन चन्द्रगुप्त के पहले पाटलिपुत्र के विषय में और कुछ पता नहीं चलता, क्योंकि बौद्धों द्वारा रचित राजवंशावली और कालनिर्णय विद्या (Chronology) ऐसी विश्रृङ्खल है कि उन पर विश्वास करना अपने सिर पर बला मोल लेना है। जैनों की राय में उदायी और नव नन्दों ने चन्द्रगुप्त के पहले मगध का शासन किया था। चन्द्रगुप्त के राजत्वकाल में पाटलिपुत्र एक विश्ववासी-नगर (Cosmopolitan City) बन गया था और वह भारतवर्ष के बाहर भी प्रसिद्ध हो गया था। यह कार्य यूनानी (ग्रीक) आक्रमण और यूनानी ऐतिहासिकों से हुआ था। बाद में सम्राट अशोक ने इस नगर की ख्याति और भी बढ़ाई।

सेल्यूकस से सन्धि हो जाने पर६ मेगास्थनीज़ चन्द्रगुप्त की राजधानी पाटलिपुत्र में

---

४ उपाख्यान यह है—कुशनाभ के पुत्र गाधिराज की पाटली नामक कन्या को (विश्वामित्र की छोटी बहिन) कौण्डिन्य मुनि के पुत्र ने मन्त्र-बल से हरण कर विवाह किया। आकाश पथ से जाते समय भागीरथी के दक्षिण तट की कच्छ भूमि पर गिरने से उन्होंने मन्त्र-बल से बगीचों को छेद कर पाटली के नाम पर पाटलिपुत्र नामक शहर बसाया।

५ अङ्गुत्तर सुत्त

६ ३०३ ई० पू० (?)

भेजे गये थे। उन्होंने (मेगास्थनीज़) पाटलिपुत्र के बारे में जो कुछ लिखा है उस पर विश्वास किया जा सकता है क्योंकि उनकी लेखनी चाणक्य के 'अर्थशास्त्र' से मिलती-जुलती है।............... "that the greatest city in India is that which is called Palimbothra, in the dominions of the Prasians, where the streams of the Erannoboas and the Ganges unite,—the Ganges being the greatest of all rivers, and the Erannoboas being perhaps the third largest of Indian rivers, though greater than the greatest rivers elsewhere, but it is smaller than the Ganges where it falls into it." ७आजकल पटना और बांकीपुर में पाटलिपुत्र के शेष चिन्ह मौजूद हैं। लेकिन उपर्युक्त नदियां वहां से हट गई हैं और गङ्गा तथा सोन का सङ्गम वहां से बारह मील की दूरी पर दिनापुर के पास है। प्राचीन पाटलिपुत्र वहां की धरती के नीचे है। वह नगर ९ मील लम्बा और १॥ मील चौड़ा था। उसमें

---

७ 'Ancient India as described by Megasthenes and Arrian'—Mc-Crindle का अनुवाद। अरियन की 'Indika' मेगास्थनीज की भित्ति पर है। इसके वर्णन अधिकतर मेगास्थनीज के वर्णन से लिये गये हैं। महर्षि पतञ्जलि के महाभाष्य में पाटलिपुत्र की स्थिति इसी तरह की दी हुई है—'अनुशोण' पाटलिपुत्र' अर्थात् शोण पर पाटलिपुत्र। शोण और हिरण्यवाह (Erannoboas) एक ही नदी का नाम है। इस नदी का किनारा टूट जाने पर पाटलिपुत्र सोन-गर्भ में विलीन हो गया था। चीन लेखक मतौन्लिन् का कहना है कि यह ७५६ई० की बात है। स्ट्रैबो (Strabo) ने मेगास्थनीज को झूठा कहा है क्योंकि उनकी राय में मेगास्थनीज के विवरण काल्पनिक और झूठे हैं। लेकिन यह ठीक नहीं मालूम पड़ता क्योंकि "The information collected by Megasthenes was supplemented by the works of other writers, of whose books fragments have been preserved by the authors to whom we are indebted for our knowledge of Megasthenes.' E. H. I. उदाहरण स्वरूप हम अरियन का नाम ले सकते हैं। अधिवासियों को प्रसियन (Prasian) या प्रसह कहा गया है। प्रसह 'पलाशी' या 'पराशीय' (फारसी) का अपभ्रंश है। मगध का दूसरा नाम 'पलाश' या 'पराश' है। दूसरों की राय में इससे प्राच्य देशों' का बोध होता है। आजकल का पटना नाम बोलचाल की भाषा पाटन (शहर) शब्द से बना है।

पाटलिपुत्र की भौगोलिक स्थिति के विषय में उल्लिखित ग्रन्थ की टीका में मकक्रिण्डल (Mc.Crindle) लिखते हैं—"Its happy position at the confluence of the Son and Ganges and opposite the junction of the Gandak with their united stream, naturally made it a great centre of commerce, which would no doubt greatly increase its wealth and prosperity.'

६४ दरवाजे थे और ५७० स्तम्भों से वह सुसज्जित था। चारों ओर गहरी खाई थी और सोन नदी के पानी से वह खाई हमेशा भरी रहती थी। राजप्रासाद लकड़ी का बना हुआ था। It was 'considered to excel in splendour and magnificence the palaces of Sūsa and Ecbatana, its gilded pillars being adorned with golden vines and silver birds'. और 'there the imperial court was maintained with barbaric and luxurious ostentation.' लेकिन वहां यूनानी प्रभाव के बदले ईरानी प्रभाव था। राजधानी चौड़ं राजमार्ग से शानदार थी। ये मार्ग ऐसे सुरक्षित थे कि भारत के सौदागर निर्विघ्नतापूर्वक एक प्रान्त से दूसरे में आसानी से आ जा सकते थे, "The chief kingdoms of Northern India lay along the routes which connected Pātaliputra, ... with the Kabul valley on the one hand and with the delta of the Indus on the other, and these routes were continuations of others which passed through Irān to the West". C.H.I.

सौदागरों और सैन्य-चलाचल के मार्गों का हम इस तरह विभाग कर सकते हैं :—

१।	हैद्राबाद (सिन्ध)	से	उज्जयिनी	५००	मील।
२।	भृगुकच्छ (भड़ोंच)	,,	,,	२००	,,
३।	उज्जयिनी (पू०)	,,	बेसनगर	१२०	,,
४।	बेसनगर (उ० पू०)	,,	भरहुत	१८५	,,
५।	भरहुत	,,	कौशाम्बी	८०	,,
६।	कौशाम्बी	,,	काशी	१००	,,
७।	काशी	,,	पाटलिपुत्र	१३५	,,

पाटलिपुत्र के सुशासन के लिये वहां ६ विभाग थे और हर एक विभाग में पांच सदस्य थे। उन विभागों का वर्णन नीचे दिया जा रहा है :—

१। उत्पन्न द्रव्य या उपज का मूल्य इत्यादि ठीक करने का विभाग (Board)।

२। वैदेशिक विभाग—इसका कार्य विदेशियों की सुख-स्वच्छन्दता देखना तथा उनके पीछे गुप्तचर या जासूस लगाना था। मुख्यतः यह विभाग विदेशियों की देख-रेख के लिये था और उसका कार्य आजकल के Foreign Department का सा था।

३। जन्म रजीस्ट्री विभाग—इसका कार्य मनुष्य संख्या का हिसाब लगा कर उस पर 'कर'

४। वाणिज्य विभाग—इसका कार्य वजन और बिक्री की जांच करना था। वणिकों को 'लाइसेन्स टैक्स' (Licence tax) देना पड़ता था।

५। द्रव्य-प्रस्तुत विभाग— (Manufacture); "A curious regulation prescribed the separation of new from old goods and imposed a fine for violation of the rule."

६। बिक्री-लगान विभाग — बेचे हुए मूल्य का दसवां हिस्सा लगान-स्वरूप देना पड़ता था, और 'evasion of the tax was punishable with death.' इसके अलावा, The Municipal Commissioners in their collective capacity were required to control all the affairs of the city, and to keep in order the markets, temples, harbours and, generally speaking all public works." E.H.I. (बन्दरगाह सोन और गङ्गा पर थे)। ये सब कार्य चाणक्य के अर्थशास्त्र के उपदेशानुयायी हुआ करते थे और उसमें किसी तरह की विश्रृङ्खलता नहीं होती थी क्योंकि दण्ड बहुत कड़े दिये जाते थे—इतने कड़े कि पढ़ने पर दिल घबड़ा जाता है।

सम्राट अशोक २४९ ई० पू० में पाटलिपुत्र से तीर्थ करने को निकले। वे उत्तर के राजमार्ग से नेपाल पहुँचे। उनके राज्यकाल के करीब अन्तिम समय में पाटलिपुत्र में बौद्धों की एक भारी सभा हुई थी। इस सभा के सिद्धान्त (धर्म मतों की विभिन्नता) सारनाथ के शिलालेख में मिलते हैं। बौद्ध-ग्रन्थों में इस सभा की जो तारीख दी हुई है उस पर कई ऐतिहासिक विश्वास नहीं करते। इसके पहले ३०० ई० पू० (?) में पाटलिपुत्र में जैनों की भी एक ऐसी ही सभा हुई थी। लगातार बारह वर्षों तक जो अकाल पड़ा था उस समय मगध में जो जैन सन्यासी थे उन्होंने पाटलिपुत्र में एक धर्म-सभा की थी। इस सभा का उद्देश्य था—"to collect and revise Scriptures", लेकिन उनके लिये ऐसा करना सहज नहीं था क्योंकि सारे 'पूर्व' का ज्ञान केवल भद्रबाहु को ही था और वे उस समय नेपाल में थे। इस सभा में वे सम्भवतः जानबूझ कर ही नहीं गये थे। यद्यपि स्थूलभद्र को चौदह 'पूर्व' का ज्ञान था लेकिन उनके आचार्य के आदेशानुयायी दस से अधिक की शिक्षा देना मना था। इसके फलस्वरूप "The canon established by the Council was, therefore, a fragmentary one; and in it, to some extent, new scriptures took the place of the old." आधुनिक श्वेताम्बरों का धर्म-शास्त्र उसी के अनुयायी है लेकिन दिगम्बरों ने उसे स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार पुराने धर्म-शास्त्रों का लोप हो गया है, और, "They regard the whole canon of the C'vetāmbaras, the Siddhānta as it is called, as merely a late and unauthorised collection of works." C.H.I.

कुछ भी हो बौद्ध-धर्म सभा विषयक ऐसी कई बातें ऐतिहासिक नहीं हैं। सप्त-शिलालिपि (Seven-Pillar-Edicts) में जो घटनाएँ हैं उनमें इस 'Buddhist Council' का उल्लेख नहीं है इसलिये इसे कई लोग काल्पनिक कहते हैं। अशोक ने पाटलिपुत्र में पशु-चिकित्सालय बनवाया था। उनका 'अहिंसावाद सिद्धान्त' केवल मनुष्यों के लिये ही नहीं था बल्कि पशुओं के लिये भी, लेकिन इस विषय में वे कितने सफल हुए थे यह नहीं कहा जा सकता। अशोक के पुत्र (किसी २ का कहना है कि उनके छोटे भाई) महेन्द्र पाटलिपुत्र में एक आश्रम बना कर रहते थे। पांचवीं शताब्दी में जब फाह्यान वहां गये तो उन्हें वह आश्रम बतलाया गया था। उन्होंने अशोक प्रासाद भी देखा था। पाटलिपुत्र में तीन वर्ष रहकर उन्होंने संस्कृत शास्त्र अध्ययन किया था।

तदुपरान्त शुङ्गवंशीयों के राज्यकाल में (१८५ ई० पू० से सन् २२५ ई० तक ?) काबुल और पञ्जाब के यूनानी राजा मिनान्डर ने भारत-विजय की कल्पना की। वे सौराष्ट्र, मथुरा, मध्यमिका (राजपूताना) और साकेतम (दक्षिण अयोध्या) को जीत कर पाटलिपुत्र की ओर बढ़े। उस समय शुङ्गराजा पुष्यमित्र[८] ने उन्हें परास्त किया था। "The Greek King was obliged to retire to his own country, but he may have retained his conquests in Western India for a few years longer." [९]उस समय भी पाटलिपुत्र मगध की राजधानी थी वह इसी घटना से सिद्ध होता है। मिनान्डर के आक्रमण को हम काल्पनिक कदापि नहीं कह सकते क्योंकि उसका प्रमाण उनकी मुद्राएँ हैं। पञ्जाब और उसके दक्षिण और पूर्व में भी उनकी कई मुद्राएं मिली हैं। ऐतिहासिक राखालदास की राय में यह आक्रमण १६३ ई० पू० का है। साधारणतः यह कहा जाता है कि, "The Yavanas and all other rivals having been disposed of in due course, Pushyamitra was justified in his claim to rank as the paramount power of Northern India, and

---

८ इन्होंने अन्तिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ की हत्या कर सिंहासन पर अपना अधिकार जमाया था।

९ उस समय यवन राजा मीनान्डर ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया था, इस विषय में भारतीय ग्रन्थ साक्षी हैं। (अ) पतञ्जलि का महाभाष्य ; (ब) गार्गी संहिता (ज्योतिष विषयक पुस्तक) ; इसकी युग-पुराण अध्याय में यह लिखा हुआ है—"That when the viciously valiant Greeks, after reducing Sāketa, the Pañchāla country, and Mathurā, will reach Kusumadhvaja, that is the royal residence of Pataliputra and that then all provinces will be in disorder" (MaxMullar) ; (स) तिब्बतीय बौद्ध इतिहास के लेखक तारानाथ के ग्रन्थ में पुष्यमित्र को बौद्ध-धर्म-विरोधी कहा गया है। उन्होंने बौद्ध मठों को जलवा दिया था ; (ड) कालिदास : 'मालविकाग्निमित्र' (५वां अङ्क)—यहां यह कहा गया है कि पुष्य मित्र के पौत्र वसुमित्र ने सिंधु तीर में यवनों को हराया था।

straightway proceeded to announce his success by a magnificent celebration of the sacrifice (राजसूय यज्ञ ?)[१०] at his capital". E. H. I. यह राय ठीक नहीं है क्योंकि १६१ ई० पू० में खारवेल ने पुष्यमित्र को सताया था और उन्होंने उनकी राजधानी पाटलिपुत्र को लूटा था। इस घटना के चार वर्ष पहले पुष्यमित्र पर आक्रमण कर खारवेल सफल नहीं हुए थे लेकिन दूसरे आक्रमण में उन्होंने अपने दिल की प्यास बुझाई। खारवेल कलिङ्ग के राजा थे इसलिये उनके ३०० वर्ष पहले राजा प्रथम नन्द, कलिङ्ग से जो 'प्रथम जिन रिषभदेव की मूर्त्ति' ले गये थे, पाटलिपुत्र को लूटकर खारवेल उसी मूर्त्ति को कलिङ्ग लौटाकर ले गये। नन्द के कार्य का परिणाम पुष्यमित्र को भोगना पड़ा। पाटलिपुत्र के यज्ञ को पतञ्जलि ने देखा था। इस यज्ञ से यह मालूम पड़ता है कि पुष्यमित्र के समय से पाटलिपुत्र में बौद्ध-प्रभाव घटने लगा—"Pushyamitra was not content with the peaceful revival of Hindu rites, but indulged in a savage persecution of Buddhism, burning monasteries and slaying monks from Magadha to Jālandhar, in the Punjab." E.H.I. पुष्यमित्र के बाद कई वर्षों तक शुङ्गवंशीय राजाओं[११] ने पाटलिपुत्र में राज्य किया था।

इसके बाद लगभग ४५ वर्षों तक काण्ववंशीय राजाओं ने पाटलिपुत्र में शासन किया। डा० भण्डारकर की राय में काण्व और शुङ्ग वंशीय समसामयिक थे। लेकिन आपकी राय बाण के 'हर्षचरित' से नहीं मिलती। कुछ भी हो काण्ववंश के अन्तिम राजा आन्ध्र को सातवाहन वंशीय एक राजा ने मार डाला था (२८ ई० पू० ?)। इसके फलस्वरूप यह कहा जा सकता है कि आन्ध्रवंशीय राजाओं ने कुछ वर्षों तक पाटलिपुत्र और मगध में राज्य किया था। आन्ध्र और कुशान वंशीय राजाओं के बाद (सन् २२० ई० या सन् २३० ई०) जिस युग का प्रारम्भ हुआ उसे स्मिथ की भाषा में 'The darkest in the whole range of Indian History' कह सकते हैं। गुप्त राजाओं के अभ्युदय तक यह अन्धकार जारी रहा लेकिन जायसवाल की दूसरी ही राय है। आपके History

---

१० किसी किसी की राय में उन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया था। राजसूय यज्ञ और अश्वमेध यज्ञ के अनुष्ठान भिन्न हैं। कालिदास के मालविकाग्निमित्र में इन दोनों यज्ञों में भेद नहीं दीख पड़ते—ऐसा न होने पर राजसूय यज्ञ में 'अश्व' कहां से आया ?

११ अग्निमित्र, वसुज्येष्ठ, वसुमित्र, ...भागवत, देवभूति। देवभूति के बाद "The dynasty came to an unhonoured end after having occupied the throne for a hundred and twelve years" E. H. I शुङ्ग वंश का दूसरा नाम मित्रवंश था। बाण के हर्ष चरित में यह दिया हुआ है कि देवभूति की क्रतदासीपत्नी के गर्भ से उत्पन्ना कन्या ने उनके मन्त्री वसुदेव के इशारे पर छिपकर उनकी हत्या की थी।

of India—150 A. D. to 350 A. D. में आपने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि वास्तव में यह युग अन्धकार युग नहीं था। उसमें भी पहले की नाईं आलोकरश्मि थी—इस विषय में पुराणों का सबूत है। आपने पुराणों की सहायता से इस समस्या का हल किया है। आन्ध्र और कुशान वंशीय राजाओं के समय नागवंशीयों का प्रादुर्भाव हुआ था और उनके पतन के बाद राजशक्ति नागों के हाथ रही। इन्होंने सन् २८४ ई० तक राज्य किया था। नाग वंश की कई शाखाएँ थीं जैसे पद्मावती और मथुरा शाखा। भारशिव नाग ने कुशानों के विरुद्ध अस्त्र उठाया था—"The Brarasivas attained the result where the Emperors of Dakshinapatha failed" Ibid. इस वंश के राजा शिवोपासक थे। चन्द्रगुप्त[१२] ने लिच्छवी जाति की सहायता से उन राजाओं को हराकर पाटलिपुत्र पर कब्जा किया था। जायसवाल का कहना है कि "The reigning dynasty of Magadha which must have been a member of the empire of the Bhāraśivas, coming into existence about 250 A.D. is dispossessed by Chandra Gupta I. Chandra Gupta I strikes his coins in the name of the Lichchhavis from 320 A.D., that is he defies the overlordship of the Bhāraśivas and their successor Pravarasena I." Ibid. इससे यह पता चलता है कि लिच्छवी जाति के लोग कमजोर नहीं थे। वे पाटलिपुत्र के 'over lord' (मालिक) थे और यह 'over lordsip' जायसवाल की राय में नागों के आधीन था। आपकी गवेषणा से यह सिद्ध हुआ है कि "The child of Sundaravarman had escaped with his nurse to the Vindhyas and was recalled at Pātaliputra by the city council of the capital and was crowned king." Ibid. समुद्रगुप्त की लिपि से यह सिद्ध होता है कि 'before the time of Samudra Gupta, the Gupta dynasty had been dis possessed of Pātaliputra.' Ibid. [१३] अर्थात् हुमायूँ के एक हिस्से की तरह (Counterpart) हम समुद्र गुप्त को सोच सकते हैं। इसका प्रमाण समुद्र गुप्त की मुद्राएँ हैं इसलिये संकोच की कोई बात ही नहीं रह जाती। प्रवरसेन की मृत्यु के पश्चात् समुद्र गुप्त ने मगध और पाटलिपुत्र को अपने कब्जे में कर लिया था। मगध और पाटलिपुत्र उनके मातृकुल के राज्य थे ऐसा

---

१२ गुप्तवंशीय

१३ निर्वासन काल ३४०-४४ई०। ऐसा मालूम पड़ता है कि समुद्रगुप्त का प्रथम य यत्न पाटलिपुत्र

जानकर उन्होंने उनपर अपना कब्जा नहीं छोड़ा। स्मिथ ने समुद्र गुप्त को भारतीय नेपोलियन (Indian Nepoleon) कहा है। ख़ैर, गुप्त काल में पाटलिपुत्र से राजधानी अयोध्या में हटा ली गई थी और वह (पाटलिपुत्र) पुरानी राजधानी के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

फाह्यान के बारे में पहले ही कहा जा चुका है। वे भारतवर्ष में लगभग सात वर्षों तक थे और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समसामयिक थे। उनके भ्रमण वृत्तान्त से उस समय के पाटलिपुत्र को अवस्था का पता चलता है। उनके समय में पाटलिपुत्र में दो मठ थे जो क्रमशः हीनयान और महायान बौद्धों के थे। उस समय पाटलिपुत्र ज्ञान-चर्चा का एक मुख्य केन्द्र था। वह इतना प्रसिद्ध था कि दूर दूर के विद्यार्थी वहां पढ़ने जाते थे१५। पाटलिपुत्र के धर्म-अस्पतालों (निःशुल्क) का वर्णन भी उन्होंने किया है१६।

६०० ई० में मध्य बङ्गाल (कर्ण-सुवर्ण) के राजा शशाङ्क ने पाटलिपुत्र के निवासियों को सताया था। वे शिवोपासक थे इसलिये बौद्धों को सताया करते थे और उन्होंने उन्हें मार भगाने की कोशिश भी की थी। पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर उन्होंने पत्थर पर खुदे हुए बुद्धदेव के पद-चिन्ह को तोड़ डाला और वहां से बौद्धों को नेपाल की ओर मार भगाया। इस घटना के लगभग ४० वर्ष के बाद हुएनसांग पाटलिपुत्र गये थे। वहां की ध्वंशावशेष अवस्था को देखकर उन्होंने कहा है, "The city had long been a wilderness." १६ सम्राट हर्ष ने भी पाटलिपुत्र की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया था और उन्होंने अपनी राजधानी कन्नौज में बनाई थी।

---

१४ "Pātaliputra, however, although necessarily considerably neglected by warrior kings like Samudra Gupta and Vikramāditya, continued to be a magnificent and populous city throughout the reign of the latter, and apparently was not ruined until the time of the Hūn invasion in the sixth century"E.— H. I.

१५ इंडियन रिसर्च इन्स्टिट्यूट की बङ्गभाषा में 'श्रीभारती' नामक मासिक पत्रिका, फाल्गुन १३४७ में लेखक का 'तक्षिला,' पर लेख देखिये।

१६ Fa-Hien's 'Travels'.

१७ vide. Watters. और, "When Hiuen Tsang visited the ancient imperial city in the seventh century he had found the buildings of Asoka in ruins, and the inhabitants limited to about a thousand persons occupying a small walled town on the bank of the Ganges in the northern portion of the site."—E. H. I. पाटलिपुत्र का अधिकांश भाग शोन नदी का किनारा टूट जाने पर उसी में लोप हो गया। जो कुछ शेष रहा चीनी यात्री ने उसी का वर्णन किया है।

तदनन्तर ९वीं शताब्दी में बङ्गाल के धर्मपाल ने पाटलिपुत्र के गौरव को लौटाना चाहा। उन्होंने अपने राज्यकाल के ३२वें वर्ष में (८११ ई०) पाटलिपुत्र में दरबार किया। पौन्ड्रवर्धन में उन्होंने जो चार गांव दान दिये थे वह दानपत्र पाटलिपुत्र में बनाया गया था।

इसके बाद सन् १५४१ ई० तक पाटलिपुत्र के बारे में कुछ पता नहीं चलता। उसी वर्ष शेरशाह ने ५ लाख रुपके खर्च कर पाटलिपुत्र में एक किला बनवाया।.........

प्राचीन पाटलिपुत्र का जन्म एक साधारण किले से हुआ था फिर आंखों से ओझल होने के पूर्व वहां एक किला बनवाया गया। इतिहास की विचित्र गति के कारण दो किलों ने ही उस प्रसिद्ध नगर का आविर्भाव और तिरोभाव ठीक किया है। पाटलिपुत्र के इतिहास ने 'वीरभोग्या वसुन्धरा' की सार्थकता सिद्ध किया है।—पाटलिपुत्र ने भारत के स्वप्न-सौध की सृष्टि और उसका लय देखा है। देहहीन होने पर भी पाटलिपुत्र अमर है।

परिशिष्ट

जो पाटलिपुत्र के शव-व्यवच्छेद की कथा से परिचित होना चाहते हैं वे :—

[अ] Waddell—'Report on the excavations at Pātaliputra' (Cal. 1903).

और [ब] Spooner—'Annual Report of the Archeological Survey of India', [1912-13] पढ़ने पर वहां की खुदाई का परिणाम जान सकते हैं।

बङ्गाल में हिन्दी*

डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, एम० ए०, डी० लिट० (लंदन)

इस सम्मेलन के अनुष्ठाताओं ने स्वागतकारिणी समिति का सभापति बना कर मुझे विशेष रूप से सम्मानित किया है। मैं इस सम्मान को शिरोभूषण कर लेता हूँ, और इसलिये आप लोगों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट कर रहा हूँ। ऐसे सम्मानित पद के लिये मेरी योग्यता कुछ भी नहीं है। मैं राष्ट्र-भाषा हिन्दी का विद्वान् नहीं हूँ—मुझे शुद्ध रूप से हिन्दी बोलना भी नहीं आता। जो हिन्दी मैं बोल लेता हूँ वह कलकत्ते की टूटी-फूटी बाजारू हिन्दी है, जिसे बिना हिन्दी की व्याकरण और पुस्तक पढ़े मैं ने बचपन में बिना श्रम से ही द्वितीय मातृभाषा के रूप में सीखी थी। मैं अपने को केवल "हिन्दी-प्रेमी" कह सकता हूँ। हिन्दी पर यह प्रेम, व्यवहार और विचार—इन दोनों कारणों से मेरे मन में उत्पन्न हुआ है। रोज़ाना जीवन में मैं ने देखा कि कलकत्ते में और कलकत्ते के बाहर भारत के प्रायः सब ही प्रांतों में यदि अंग्रेज़ी या बंगला जो नहीं जानता है, ऐसे आदमी के साथ बातचीत करने की आवश्यकता हो बग़ैर हिन्दी के काम नहीं चलता। व्यावहारिक जीवन में जो भाषा इतनी महत्त्वपूर्ण है, उस पर आकृष्ट होना, उसके सम्बन्ध में उच्च भाव पोषण करना, उसे अपनाने की कोशिश करना, उसे सचमुच एकमात्र आन्तःप्रादेशिक भाषा समझ कर निखिल भारत की एकता का निशान या प्रतीक समझ कर, आखिर उससे प्रेम और उस पर अभिमान करना स्वाभाविक होता है। फिर, हिन्दी साहित्य के गौरव, वैचित्र्य तथा सांस्कृतिक महत्त्व का विचार करने से, और भारतीय भाषाओं में हिन्दी का स्थान, भारत की आर्य भाषा के आन्तःप्रादेशिक रूपों के सिलसिले में हिन्दी कैसे आई, इन सब साहित्यिक, ऐतिहासिक और भाषातात्त्विक विचार और शोध से, यह प्रेम और अभिमान गहरे से गहरा होता आता है। ऐतिहासिक कारणों से और अपने विशिष्ट गुणों से हिन्दी ने भारत की राष्ट्रभाषा की पदवी प्राप्त की है। उत्तरी भारत के लिये हिन्दी की सार्वजनीनता के बारे में कुछ सन्देह भी नहीं। दक्षिणी भारत स्मरणातीत काल से उत्तरी भारत का अनुगामी है, अतः किसी न किसी उत्तरी भाषा को मान लेना दक्षिण के लिये स्वाभाविक होगा। आधुनिक उत्तरी भाषाओं में केवल हिन्दी ही को दक्षिण के लोगों ने मान लिया है ; अतएव हिन्दी न केवल उत्तर भारत की आन्तःप्रादेशिक भाषा बनी है, पर यह दक्षिण के लिये भी आन्तःप्रादेशिक बनने के योग्य है और बन रही है।

हमारा भारतवर्ष एक और अखण्ड राष्ट्र है, इस प्रतिज्ञा को हम सच्चे भारत-संतान कभी

---

* पूर्व-भारत राष्ट्र-भाषा प्रचार सभा में लेखक का भाषण।

भूल नहीं सकते। भारत के विभिन्न प्रदेशों के लोगों में पार्थक्य बहुत है—भाषा, रहन-सहन, बाह्य स्वरूप, आभ्यन्तर चिन्ताप्रणाली इत्यादि जीवन की प्रकाशक सब बातों में, यह हम मानते हैं। भौगोलिक तथा ऐतिहासिक वातावरण, आर्य और अनार्य जाति के लोगों की बहुलता अथवा अल्पता, विदेशी जाति और संस्कृति से अधिक अथवा अल्प मिश्रण—इन पार्थक्यों के कारण हैं। पर, सब प्रकार के पार्थक्यों के अन्तराल में एक बड़ा भारी ऐक्य विद्यमान है, जो कि भाषा, जाति और धर्म को अतिक्रम कर, नैपाल से कन्या-कुमारी तक और पेशावर से डिब्रूगढ़ तक समग्र भारतीय जनता में एक अभिन्न योग-सूत्र स्वरूप है। इस ऐक्य, इस योगसूत्र का नाम क्या दूं, इसके लक्षण कैसे बताऊँ ? संक्षेप में इसका नाम दिया जा सकता है—"भारत धर्म" अर्थात् "भारतीयत्व" अथवा "भारतीय प्रकृति"—अंग्रेजी में जिसे Indianness शब्द से, और उर्दू (अर्थात् मुसल्मानी हिन्दी) में अरबी शब्द "तहन्नुद" से हम अनुवाद कर सकते हैं—जो कि अपने कुछ स्वतन्त्र गुणों से विश्वमानव में एक अनोखी वस्तु है ; हमारे विचार में जिसके चार मुख्य लक्षण हैं [१] ज्ञान या सत्यानुसन्धित्सा, [२] समन्वय या परमत-सहिष्णुता, [३] अहिंसा या मैत्री और करुणा के साथ जीव-दया, और [४] त्याग अर्थात् परम सत्य की उपलब्धि के फल-स्वरूप विषय-वैराग्य या निस्पृहता। बाहर से आये हुए विदेशी मतवादियों ने कहीं कहीं भारत-धर्म के इन लक्षणों को हानि पहुँचाई है, पर इसकी जड़ भारत-सन्तान की मानसिक और आत्मिक प्रकृति के अन्दर इतनी दूर तक प्रविष्ट है कि यह कभी नहीं मरने का। भारत में आर्यों के आने के और अनार्य तथा आर्य जाति के लोगों के मिश्रण के बाद यह भारत-धर्म जगत् में प्रकाशित हुआ। पहले ही से भारत की आर्य भाषा इस भारत-धर्म का माध्यम या प्रकाश-भूमि बनी। वैदिक, लौकिक संस्कृत, पाली और अन्य प्रकार की प्राकृतें, अपभ्रंश, उनके बाद आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ —बङ्गला और असमिया, मैथिली, हिन्दी अर्थात् मध्यदेश की बोलियां जैसे अवधी, ब्रजभाषा इत्यादि, पञ्जाबी, गुजराती, मराठी, उड़िया—भारत-धर्म के वाहन होकर सदी-ब-सदी भारत-क्षेत्र में प्रकट हुई हैं। दक्षिण की कुछ द्राविड़ भाषाएँ भी, जैसे तामिल, मलयाली, कानाड़ी, तेलुगु, इस काम में उत्तर-भारत की संस्कृत और आधुनिक भाषाओं से शरीक हुईं। उत्तर भारत के जिस भूखण्ड में भारत-धर्म सब से पहले मूर्त और पुष्ट हुआ था, आर्यावर्त्त के हृदय और केन्द्र स्वरूप वह भूखण्ड जो कि प्राचीन काल में ब्रह्मावर्त्त, मध्यदेश, ब्रह्मर्षिदेश और अन्तर्वेद कहलाता था, उसी की शिष्ट भाषा अब हिन्दी के रूप में दिखाई देती है। यहां की भाषा केन्द्रीय भाषा होने के कारण महर्षि पाणिनी के समय के पूर्व से निखिल भारत के लिये शिष्ट भाषा बनी थी। इस धारणा के वश श्री दयानन्द जी ने हिन्दी को संस्कृत की नवीन प्रतिभू के रूप में मान लिया था, और हिन्दी का नाम दिया था—"आर्य भाषा"। उत्तर भारत के राजपूत-साम्राज्य के समय से मध्य-देश का राजनैतिक प्रभाव समग्र आर्यावर्त या उत्तर भारत पर पड़ा ; इस से यहाँ की भाषा शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश, जिन्हें हम वर्तमान हिन्दी के

प्राचीन रूप कह सकते हैं, उन शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश की प्रतिष्ठा निहायत बढ़ी। इसके बाद दिल्ली को मुसल्मान सल्तनत की शक्ति ने ब्रह्मावर्त अर्थात् पूर्व-पञ्जाब के और मध्यदेश अर्थात् पछांहे की भाषा "हिन्दवी", "हिन्दी" और "हिन्दोस्तानी" (या हिन्दुस्थानी) को नई तौर से सारे भारत में फैलाने में सहायता की। भारत की सांस्कृतिक और राष्ट्रीय एकता की बुनियाद को सुदृढ़ करने में ब्रह्मावर्त और मध्यदेश की भाषा ने जितना काम किया, उतना और किसी प्रान्त की भाषा ने नहीं। बङ्गला, असमिया, ओड़िया, मराठी, पञ्जाबी, सिंधी, गुजराती, पर्बतिया,—ये सब बहनें हैं ; तामिल, मालयाली, कानाडी, तेलुगु, ये भी संस्कृत की पालित-पुत्रियाँ होने के कारण आर्य-भाषाओं की बहनें बनी हैं। इनमें से किसी एक को औरों से छोटी या बड़ी समझना नहीं चाहिये ; उद्भव से और अपनी प्रकाशित अथवा अप्रकाशित शक्ति से, ये सब बराबरी रखती हैं, ये सब समान हैं—ऐसा मानना ठीक होगा। परन्तु, क्योंकि हिन्दी को सबसे अधिक संख्यक भारतीय समझ लेते हैं ; और चाहे इसके टूटे-फूटे बाजारू रूपों में, चाहे पछांहे के मुहावरे के मुताबिक इसके शुद्ध हिन्दी रूप में, या इसके मुसल्मानी रूप उर्दू में, क्योंकि सब से अधिक संख्यक लोग इसे बोल सकते हैं, और क्योंकि उत्तर भारत के विभिन्न प्रान्तों की भाषा और सहित्य की धाराएँ नदियों की तरह कई सदियों से हिन्दी के सागर में समाती हैं, इसलिये हिन्दी को आधुनिक भारत की भाषाओं में Primus inter Pares. अर्थात् "समानों में प्रथम" और Representative Speech of Modern India अर्थात् "आधुनिक भारत की प्रमुख बोली" मानना पड़ेगा। ऐसी बोली भारत के विभिन्न प्रान्तों के जनगण को एकता-सूत्र में गूँथने के लिये सब से कामवाली हो सकती है ; हमारा आदर्श तो यही है, कि अखण्ड भारतवर्ष में एक राष्ट्र, एक संस्कृति, एक बोली हो ; सब की मातृभाषा या घर की बोली एक ही बोली न हो सके, इस बात का खेद नहीं, पर सब की मिलने-जुलने की बोली एक हो जाय। समभाषित्व, समराष्ट्रीयत्व का सब से बड़ा निशान या निदर्शन और सब से शक्तिशाली बन्धन है। इसका प्रोत्साहन या इसकी वृद्धि भारत की भावी महाजाति के संगठन में एक मुख्य काम है।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने इस काम को हाथ में लिया है। परन्तु "श्रेयांसि बहुविघ्नानि" —इस नितान्त आवश्यक काम में अन्तराय बहुत से दिखाई देते हैं। जिन जिन प्रान्तों में पठन-पाठन, साहित्य-रचना, राजकार्य, व्यापार और धार्मिक और राजनैतिक कार्यों में—सब प्रकार के समवेत जीवन में, हिन्दी (अथवा उसका मुसल्मानी रूप उर्दू) चालू नहीं है, प्रान्तों के लोग साधारणतया बातचीत के सहारे कुछ टूटी-फूटी हिन्दी सीख लेते हैं ; परन्तु चेष्टा और परिश्रम कर पुस्तकों की सहायता से हिन्दी नहीं सीखते, सीखने की आवश्यकता पर ध्यान नहीं देते इनके लिये राष्ट्रभाषा प्रचार समिति कार्यसाधक हो सकती है। "एक राष्ट्र, एक भाषा"—इस नीति का प्रचार कर, कांग्रेस ने समग्र भारत के लोगों को हिन्दी (कहीं कहीं उर्दू) के लिये कुछ न कुछ कौतुहली बना दिया है। कांग्रेस के

पदाङ्क का अनुसरण करती आई है राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, जिसने गुजरात, महाराष्ट्र, आन्ध्र, कर्णाट, तामिल-नाडु, केरल और पूर्व-भारत, (अर्थात् उड़ीसा, बङ्गाल और आसाम) प्रान्तों में जहां कि हिन्दी (या उर्दू) चालू नहीं है, जहां लोग इसे सीखते भी नहीं और इसके सम्बन्ध में उदासीन हैं, हिन्दी से परिचय फैलाने का काम किया है। सुनते हैं, और प्रान्तों में यह काम अच्छी तरह से चल रहा है, जैसे गुजरात, महाराष्ट्र और आन्ध्र देश में। पूर्व-भारत के उड़ीसा और आसाम में हिन्दी-प्रचार का काम आशाप्रद अवस्था में है, ऐसा भी सुनते हैं। पर बङ्गाल में हिन्दी प्रचार कार्य अच्छी तरह से नहीं चलता। इसका कारण क्या है इस विषय पर कुछ खोज होनी चाहिये, ताकि इसका प्रतीकार होवे, और बङ्गाल के लोग भी हिन्दी की ओर आकर्षित हो जायँ, और इसीसे भारतीय ऐक्य को और भी सुदृढ़ करें। देशरत्न श्रीमान् राजेन्द्रप्रसाद जो स्वयम् इस सभा में पधारे हैं, और बड़े बड़े सच्चे राष्ट्र-भाषा-प्रेमी देश-भक्त इसमें शामिल हुए हैं। आशा है कि ये चिन्ताशील नेता अपनी समीक्षा और उपदेश से इस संगठनात्मक कार्य में पूरी सहायता देंगे।

कुछ वर्षों से मैं अपनी क्षुद्र शक्ति के अनुसार भाषातात्त्विक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी भाषा का अध्ययन और अध्यापन कर रहा हूँ। बङ्गाल प्रान्त में हिन्दी की अवस्था और हिन्दी प्रचार की सम्भावना पर विचार कर रहा हूँ। मैं इस सम्बन्ध में दो शब्द निवेदन करना चाहता हूँ। भारतीयत्व को प्रादेशिकता से ऊँचा समझ कर, प्रादेशिक अभिमान से भारतीय ऐक्य के आदर्श को श्रेष्ठतर सोच कर, निष्कपट भाव से अपना विचार प्रकट करना चाहता हूँ ; यदि इसमें स्पष्टवादिता के कारण कुछ अप्रियभाषिता आ जाय, देश-हितैषी भाव-ग्राही सज्जन, चाहे बङ्गाल के हों चाहे बङ्गाल के बाहर के, कृपा कर मुझे क्षमा करेंगे।

इस समय हम बङ्गालियों में हिन्दी के प्रति कुछ उदासीनता और अवहेलना दिखाई पड़ती है। केवल उदासीनता और अवहेलना ही नहीं, कुछ कुछ विरोध भी किसी किसी ओर से आत्मप्रकाश कर रहा है ; पर यह विरोध स्वल्प-संख्यक लोगों में नज़र आता है, और विचार के क्षेत्र को छोड़ कर कार्य-क्षेत्र में यह विरोध अवतरित नहीं होगा, यह मेरा विश्वास है। बङ्गाल में हिन्दी प्रचार के विपक्ष में विरोधिता से उदासीनता ज्यादा शक्तिशाली होती है। इस विरोधिता और उदासीनता के कारण क्या हैं ? हिन्दी एक पश्चिमी बोली है, इसकी जन्म-भूमि बङ्गाल के बाहर सुदूर पश्चिम प्रान्त पछाँहे में है ; दूसरे प्रान्त की भाषा होने के कारण हिन्दी या और पश्चिमी भाषाओं पर कुछ भी विद्वेष बङ्गभाषियों में कभी नहीं था। आज से लगभग एक हज़ार साल पहले जब पूरब की अपभ्रंश से बङ्गला भाषा ने अपने रूप को प्राप्त किया, तब बङ्गभाषी कवियों में न केवल अपनी नवजात मातृभाषा की चर्चा थी, साथ ही साथ इनमें पश्चिमी या शौरसेनी अपभ्रंश में (जो कि उस समय की एक प्रकार की राष्ट्र-भाषा थी और हिन्दी ही की एक पूर्व मूर्त्ति थी) पद-रचना करने का रिवाज बड़े जोश से चलता था।

अगर हम आधुनिक दृष्टि-कोण से ऐसा कहें कि एक हज़ार बरस पहले के बङ्गाली लेखक एक साथ बङ्गला और हिन्दी में लिखते थे, तो भाषातात्त्विक विचार के अनुसार भूल नहीं होगी। यह प्राचीन बङ्गाल की अवस्था थी। मध्यकालीन बङ्गाल में पश्चिमी भाषाएँ, जैसे अवधी और ब्रजभाषा, इनकी चर्चा होती थी। उस समय आधुनिक हिन्दी या खड़ी बोली का साहित्यिक प्रकाश बहुत ही कम हुआ था। बङ्गाल के कुछ कवि अवधी को "गोहारी" या "गोआरी" (अर्थात् "गवारी" या ग्राम्य अथवा देशवाली) भाषा बोलते थे, कारण यह राजधानी देहली की नहीं थी। बङ्गाल के सुदूर दक्षिण-पूर्व प्रान्त चटगांव और उससे लगे हुए बरमा के अराकन के बङ्गाली मुसलमान कवि जैसे दौलत काज़ी, अलाओल (अल्-अव्वल्) इत्यादि ने कुछ अवधी काव्य और कहानी के बङ्गला भाषान्तर किये थे; इन काव्यों में मलिक मुहम्मद जायसी के "पद्मावत" काव्य का अलाओल द्वारा किया बङ्गला अनुवाद, हमारी बङ्गभाषा का भी एक श्रेष्ठ ग्रन्थ बन गया है। यह अनुवाद सतरहवीं सदी में किया गया था। इसके बाद नाभादास के "भक्तमाल" का भी एक अनुवाद हुआ था। अठारहवीं सदी में बङ्गाल में फारसी का प्रचार बहुत था। साथ-साथ हिन्दी अर्थात् ब्रजभाषा को भी लोग चाव से पढ़ते थे। बङ्गाल में मिश्रित मैथिली और बङ्गला के आधार पर एक नई साहित्यिक भाषा बनी थी, जिसमें पन्द्रहवीं सदी के अन्त से बङ्गाली वैष्णव कवियों ने राधाकृष्ण-लीला-विषयक बड़े सुन्दर अनेक पद रचे हैं, ब्रज-लीला का वर्णन इस भाषा का मुख्य विषय होने के कारण इसका नाम "ब्रज-बुलि" या ब्रज-बोली दिया गया; "ब्रजबुलि" पर हिन्दी या ब्रजभाषा का काफ़ी प्रभाव पड़ा। अठारहवीं सदी के अन्यतम श्रेष्ठ बङ्गाली कवि राय गुणाकर भारतचन्द्र ने अपने "अन्नदा-मङ्गल" काव्य में कुछ ब्रजभाषा के कवित्त दिये हैं। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में कलकत्ते में विलायत से आये हुए अंग्रेज़ अफ़सरों के लिये "फ़ोर्ट विलियम कालेज" नाम का जो विद्यायतन बना, वह प्राचीन तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं के अनुशीलन के लिये एक बड़ा भारी केन्द्र हुआ। वहां संस्कृत, अरबी, फ़ारसी, बङ्गला, उर्दू और "भाषा" अर्थात् हिन्दी और ब्रजभाषा पढ़ाई जाती थी। फ़ोर्ट विलियम कालेज के कर्तृपक्ष की चेष्टा से इन भाषाओं में अच्छी अच्छी गद्य-पुस्तकें भी तैयार की गईं, और इस प्रकार आधुनिक बङ्गला, हिन्दी और उर्दू के गद्य-साहित्य के विकास में फ़ोर्ट विलियम कालेज के विद्वानों ने बहुत कुछ भाग लिया था। लल्लूजीलाल और सदल मिश्र—इनके साहित्य-सर्जन का इतिहास सब किसी को विदित है। उन्नीसवीं सदी के बङ्गाली चिन्तानेता और कर्मियों का हिन्दी से अच्छा परिचय था। राजा राममोहन राय ने एक हिन्दी पत्रिका भी प्रकाशित की थी; स्वयम् ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने "बैताल-पचीसी" से (जो कि बङ्गाली पण्डित तारिणीचरण मित्र द्वारा संशोधित होकर फ़ोर्ट विलियम कालेज की ओर से प्रकाशित हुई थी) बङ्गला अनुवाद ग्रन्थ "बेताल-पञ्चविंशति" बनाया, जो ईसवी १८४७ में प्रकाशित हुआ था। जब कलकत्ता विश्वविद्यालय स्थापित हुआ तब से महात्मा विद्यासागर उसके संस्कृत, बङ्गला और हिन्दी

के परीक्षक होते थे। फिर आहिस्ते आहिस्ते बङ्गाली विद्वान् और लेखकों का ध्यान पूरी तौर से अपनी मातृभाषा की ओर गया। अंग्रेज़ी और कुछ कुछ संस्कृत के सिवा और किसी भाषा की फ़िक्र करने का अवसर भी इन्हें नहीं मिला। इसका फल यह हुआ कि उन्नीसवीं सदी के दूसरे हिस्से में बङ्गला साहित्य ऐसा उन्नत हुआ कि भारत के एक प्रान्त की अपरिचित भाषा बङ्गला का स्थान प्रथम श्रेणी की भाषा में उन्नत हो गया। बङ्गाल ने बङ्किमचन्द्र, मधुसूदन, गिरिशचन्द्र, भूदेव, विवेकानन्द, विद्यासागर, अमृतलाल और, आखिर रवीन्द्रनाथ को देकर भारत के साहित्य की मर्यादा बढ़ाई, विश्व की संस्कृति में भारत का स्थान नये तौर से कायम करने में सहायता की। पर अपनी भाषा और उसके साहित्य में मस्त रहते हुए भी, बङ्गाली लोग हिन्दी को एकदम नहीं भूले। फ़ोर्ट विलियम कालेज की शैली अभी तक चली है; राय बहादुर श्रीयुत गोविन्दलाल बन्धोपाध्याय, जो कि गवर्नमेन्ट के भाषा-परीक्षा-विषयक दफ़्तर से संश्लिष्ट थे, हिन्दी के अच्छे विद्वान हैं। (आपने सरकारी ओर से लल्लूलाल की व्रजभाषा में लिखी हुई पुस्तक "राजनीति" का एक नया संस्करण निकाला था)। बङ्गाल के विख्यात चिन्ताशील निबन्धकार और शिक्षाव्रत नेता भूदेव मुखोपाध्याय ने हिन्दी की ओर नज़र डाली, और कोई पचास साल पहले आपने भारत के राष्ट्रीय काम में हिन्दी के महत्त्व पर बङ्गालियों की दृष्टि आकर्षित की थी। जब भूदेव बाबू बिहार-प्रान्त में सरकारी शिक्षा-विभाग के ओहदेदार या कर्मचारी थे, तब उन्होंने बिहार के दफ्तर और कचहरियों में उर्दू भाषा और लिपि के स्थान पर नागरी और कैथी लिपि और हिन्दी को चालू कराने के लिये सार्थक चेष्टा की थी; बिहार की जनता ने इस काम के लिये भूदेव बाबू की प्रशंसा में गीतें लीख कर, अपना हर्ष और अपनी कृतज्ञता प्रकट की थी—जिसे ग्रियर्सन साहब ने बिहार की देहाती बोली विषयक अपनी पुस्तक में उद्धृत कर दिया है। ईसवी १९०५ से बङ्ग-भङ्ग आन्दोलन मचा, जिसका प्रभाव समग्र भारतवर्ष पर पड़ा, और इससे भारत की राष्ट्रीय जागृति हुई। उस समय बङ्गाल ने अपनी मातृभाषा को अपनी एकता का मुख्य निशान समझ कर और भी गम्भीरता के साथ पकड़ लिया,—हिन्दी या दूसरी किसी भाषा पर चिन्ता करने का मौका उस समय उसे नहीं था। यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि उस समय बङ्गाल के बाहर राष्ट्रीय काम में हिन्दी या हिन्दुस्थानी के लिये किसी को कुछ फ़िक्र नहीं था। हिन्दी के झंडे को ऊँचा करना, यह तो विगत जर्मन-युद्ध के बाद मुख्यतः महात्मा गांधी जी की प्रेरणा से हुआ है। तो भी उन दिनों राष्ट्रीय काम में हिन्दी का आह्वान किया गया था कलकत्ते के एक बङ्गाली राजनैतिक नेता द्वारा। स्वर्गवासी पण्डित कालीप्रसन्न काव्यविशारद ने जो "हितवादी" के सम्पादक थे, हिन्दी में पैंतीस साल पहले एक जागृति का गीत बनाया था। उस समय मैं बचपन में था। वह गीत बङ्गाली लड़कों और युवकों द्वारा कलकत्ते की और तमाम बङ्गाल की सड़कों पर गाया जाता था; यहाँ के पुराने बाशिन्दों को और राजनैतिक क्षेत्र के पुराने कर्मियों को शायद वह गीत स्मरण हो; इसका आरम्भ इस प्रकार था :—

"भैया देश की यह क्या हाल।

खाक मिट्टी जौहर होती सब, जौहर है जंजाल॥"

और शेष यह था—"हो मतीमान् देश के सन्तान, करो स्वदेश के हित॥"

चालीस या पचास साल पहले कलकत्ते का "हिन्दी बङ्गवासी" श्रेष्ठ हिन्दी संवादपत्रों में था, और हिन्दी बङ्गवासी के छापेखाने से हिन्दी पुस्तकें निकलती थीं। आधुनिक हिन्दी गद्य-शैली के अन्यतम निर्माता स्वर्गवासी अमृतलाल चक्रवर्ती जी हिन्दी बङ्गवासी से संश्लिष्ट थे; हिन्दी-संसार इनका नाम कभी नहीं भूल सकता। चक्रवर्ती जी और उनके दो साथी स्वर्गवासी बालमुकुन्द गुप्त और प्रभुदयाल पांडे, इस त्रयी ने कलकत्ते में हिन्दी का एक केन्द्र बनाया था। यदि हम बङ्गाली लोग कर्मठ-वृत्ति अवलम्बन नहीं करते और अपने पूर्वजों की तरह कभी-कभी पश्चिम की ओर भी नजर करते, पश्चिम की भाषा हिन्दी को अपने मानसिक और सांस्कृतिक जीवन से जुदा नहीं बना देते, तो कलकत्ता भी बम्बई जैसा हिन्दी का एक प्रधान केन्द्र होता, उत्तर भारत से हमारा आत्मिक और सांस्कृतिक संयोग और भी दृढ़ होता, और इससे न केवल हमारा, पर सारे भारत का फायदा होता।

हिन्दी के लिये वातावरण बङ्गाल में इतना अनुकूल रहते हुए भी क्यों इसका नतीजा उलटी राह पर चला? रोग का निदान न जानने से चिकित्सा ठीक रीति से चल नहीं सकती। हमारे विचार में बङ्गाल में हिन्दी के प्रति उदासीनता के कारण ये हैं:—

[१] अंग्रेजी के अन्तरङ्ग परिचय तथा अपनी मातृभाषा पर अत्यधिक प्रेम और अभिमान के फल-स्वरूप हिन्दी और अन्य प्रान्त की बोलियों के सम्बन्ध में साधारण शिक्षित बङ्गालियों का अ-मनोयोग (परन्तु फिर भी मानना पड़ेगा कि स्वयम् श्री रवीन्द्रनाथ को लेकर सुशिक्षित बङ्गालियों में हिन्दी के श्रेष्ठ रत्नों से परिचय की कमी नहीं। शान्तिनिकेतन के अध्यापक श्रीयुक्त क्षितिमोहन सेन शास्त्री जी की पुस्तकों और निबन्धों के सहारे से कबीर, दादू और अन्य सन्तों के मूल हिन्दी लेखों का रस हम आस्वादित कर सकते हैं; गोस्वामी श्री तुलसीदास जी की रामायण के कम-से-कम दो बङ्गला अनुवाद मूल हिन्दी के साथ कई वर्षों पहले निकले हुए हैं—एक पुरुलिया से श्रीयुत मदनमोहन वर्मा जी का बनाया पद्यमय अनुवाद, दूसरा श्रीयुत सतीशचन्द्र दासगुप्त का गद्य अनुवाद। श्री रवीन्द्रनाथ जी के नोबल पारितोषिक पाने के बाद बङ्गालियों का अपनी मातृभाषा पर अभिमान और भी बढ़ गया है। ऐसा अभिमान यदि अपराध हो तो सहृदय सज्जनों के पास यह सर्वथा मार्जनीय गिना जायगा।)

[२] हिन्दी भारत की—विशेष करके उत्तर भारत की—Lingua Franca अर्थात् मामूली वार्तालाप की भाषा तो है ही, पर हिन्दी के खिलाफ इतना कहा जाता है कि अब तक हिन्दी अहिन्दी प्रान्तों के लिये Culture Language या संस्कृति-वाहिनी भाषा नहीं बनी। संक्षेप में, मानसिक उत्कर्ष-विधान में हिन्दी अंग्रेजी का स्थान ले नहीं सकती। हमारे सांस्कृतिक जीवन

में अब तक अंग्रेज़ी की सख्त ज़रूरत है—हम कुछ दिन तक अंग्रेज़ी या और किसी अव्वल दर्जे की यूरोपियन भाषा को छोड़ नहीं सकते। मराठी, गुजराती, तामिल, तेलुगु इत्यादि भाषा जो लोग बोलते हैं, उनकी राय यदि ली जाय, तो वे कभी अंग्रेज़ी के परिवर्तन में हिन्दी को नहीं मानेंगे। आधुनिक हिन्दी में उच्च कोटि के ग्रन्थों का आपेक्षिक अभाव हमें भूलना नहीं चाहिये।

[३] हिन्दी उर्दू का झगड़ा, और कार्यतः कांग्रेस द्वारा उर्दू का पक्ष-ग्रहण। समग्र भारत में हिन्दी का मनमाना स्वागत क्यों कर हुआ? बिना propaganda या प्रचार किये हुए, धीरे-धीरे हिन्दी का इतना फैलाव कैसे हुआ? इसमें सन्देह नहीं कि पंजाब, सिन्धु-प्रदेश, काश्मीर, और पछांहे के शहरों को छोड़ कर भारत में अन्यत्र अरबी और फ़ारसी शब्दों का इतना प्रचार नहीं मिलता। बङ्गाल के मुसल्मान लोग शुद्ध संस्कृत-भरी बङ्गला बोलते हैं, लिखते हैं; अब तक यह हाल विद्यमान है, पर कुछ मुसल्मान बङ्गाली लेखक ज़बरदस्ती से बङ्गला पर अरबी व फ़ारसी अलफ़ाज़ लाद कर बङ्गाल के लिये एक प्रकार की "बङ्गाली उर्दू" बनाने के काम में कमर बांध कर तैयार हो रहे हैं। भारत का कम-से-कम चार-बटे-पांच हिस्सा संस्कृत शब्द समझ लेगा। एक आन्ध्र, एक महाराष्ट्री, एक बङ्गाली की बात सोचिये; हिन्दी की ओर इनके आकर्षण के कारण दो हैं,—इसकी देवनागरी लिपि, और इसके संस्कृत शब्द। कांग्रेस ने राष्ट्रभाषा हिन्दी में अरबी लिपि और शब्दों को वही स्थान दिया है, जो नागरी अक्षर और संस्कृत शब्दों का है। मगर इसे ऐच्छिक न रख कर, कांग्रेस "हिन्दोस्तानी" के नाम पर एक नई "कौमी भाषा" या "राष्ट्र-ज़बान" बनाने की कोशिश कर रही है, जिसके द्वारा, और कुछ हो या न हो, डेढ़ सौ साल के पण्डितों के चिन्तन और परिश्रम के फलरूप आधुनिक हिन्दी गद्य की शैली का सत्यानाश हो जायगा। कांग्रेसी "कौमी भाषा" या 'राष्ट्र-ज़बान" के दृष्टान्त के बहाने से बङ्गला की रचना-शैली को बिगाड़ने की चेष्टा होगी, बहुत से बङ्गाली लोग ऐसा सोचते हैं, और इस कारण नई कांग्रेसी "राष्ट्र-भाषा" से भी डरते हैं। कितने बङ्गाली सज्जनों ने बार-बार मुझसे सवाल किया, कि "क्या तुम "हिन्दुस्तानी" के समर्थक हो? हमें फ़ारसी अरबी सीखनी पड़ेगी? नई राष्ट्र-भाषा की राह से नये-नये विदेशी शब्द आकर क्या हमारी बङ्गला को भी खराब कर देंगे, यह शङ्का सच्ची है या झूठी?"

आप जानते हैं कि कांग्रेसी हिन्दुस्तानी की आशंका हिंदी-लेखकों के लिये और सारे हिन्दी-संसार के लिये कैसे अस्वस्तिकर हुई है।

[४] कांग्रेस-शासित मद्रास-प्रांत के कुछ स्कूलों में राष्ट्र-भाषा (हिन्दी या उर्दू) को अवश्य-पाठ्य करना; और कलकत्ते की कांग्रेसी म्यूनिसिपेलिटी के स्कूलों के बङ्गाली शिक्षकों के लिये राष्ट्र-भाषा को अवश्य-पाठ्य करने की चेष्टा की अफ़वाह। ज़बरदस्ती के विपक्ष लड़ना कर्तव्य है, इस वीर-नीति का असर स्वाधीनता-कामी लोगों के मन पर पड़ना स्वाभाविक है। इसमें Linguistic

Imperialism या "भाषाश्रयी साम्राज्यवाद" की आशङ्का आती है। इस विषय पर भी कुछ नम्र निवेदन आगे चल कर करूंगा।

[५] बिहार और बङ्गाल की सीमा पर कुछ ऐसे स्थान हैं जो कि भाषा के विचार से बङ्गाल के ही अंश हैं, पर जिन्हें अंग्रेज़ सरकार ने बिहार में शामिल कर दिये हैं। उन स्थानों के बङ्गाली बाशिन्दों पर सरकारी ज़ुल्म व ज़बरदस्ती हो रही है; बङ्गला को दूर कर उसके स्थान हिन्दी को बिठा देने के काम में कुछ बिहारी ओहदेदार कमर-बन्द होकर लगे हैं; जैसा मानभूम में हो रहा है। इसका असर बङ्गाल में हिन्दी के लिये अनुकूल हो नहीं सकता। कलकत्ता विश्वविद्यालय भारत के सब ही प्रांतों की भाषाओं को प्रोत्साहन देता है, सब भाषाओं की मर्यादा का रक्षण करता है; परन्तु अफ़सोस की बात यह है कि दूसरे विश्वविद्यालय ऐसी उदार नीति का पालन नहीं करते, कहीं-कहीं इन्होंने स्थानीय भाषा सिखाने के बहाने से ऐसे नियमों का प्रवर्तन किया है जिनके द्वारा उन प्रान्तों में बसे हुए बङ्गाली लड़कों को अपनी मातृभाषा बिना चर्चा के भूलना पड़ेगा। इसका बदला लेने के लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय की तरफ़ से कुछ किया जाय, ऐसी इच्छा कभी कभी प्रकट की जाती है। उधर कांग्रेस-शासित हिन्दी-भाषी प्रान्त के लोगों ने बङ्गभाषियों को अनुचित रीति से तंग किया और भारत के ऐक्य का विरोधी व्यवहार किया, और इधर बङ्गालियों में हिन्दी पर प्रीति जनाने का या बढ़ाने का प्रयास चला, अब आप लोग सोच कर देखिये, बेचारे हिन्दी-प्रेमी बङ्गाली अपनी बङ्गाली बिरादरी में कहां ठहरें?

[६] बङ्गाल और कलकत्ते की बाजारू हिन्दी के सामने शुद्ध हिन्दी की कठिनाई। आप लोगों को विदित है कि कलकत्ते के हिन्दीवालों से बङ्गाल के लोग चालू बाजारू हिन्दी सीख लेते हैं। यह कलकतिया हिन्दी अशुद्ध है, पर फ़ायदेवर है, कार्यकर है। इसका व्याकरण निहायत सरल है, इसमें लिङ्गभेद नहीं, नाम और क्रिया पद के वचन की गड़बड़ी नहीं, भूतकालीन क्रिया की जटिलताएं (जैसे कर्त्तरि, कर्मणि और भावे प्रयोग) नहीं हैं। इस की शब्दावली आवश्यकता के अनुसार स्थानीय बङ्गला के आधार से बनती है। फिर कलकत्ते में जो हिन्दीभाषी मिलते हैं, उनमें शुद्ध हिन्दीवाले पछांहें के लोग बहुत कम हैं। वे पूरबी हिन्दीवाले या बिहारी होते हैं, जिनकी घरेलू बोली भोज-पुरिया, मगही या मैथिली है, या राजस्थानी और पंजाबी। छात्र और पढ़े-लिखे आदमियों के सिवा और कोई शौक़ से हिन्दी सीखना नहीं चाहता; साधारण और खास दोनों प्रकार के लोगों को गरज़ से जब हिन्दी सीखनी होती है, तब चालू कलकतिया हिन्दी काम के लिये काफी होती है।

मैं ने कई बार देश-नेताओं के सामने, जो कि राष्ट्र-भाषा हिन्दी को भारतव्यापी करना चाहते हैं, यह अरज़ पेश की है कि सरल व्याकरण की चालू बाजारू हिन्दी ही सचमुच भारत की राष्ट्र-भाषा बनी है, थोड़ा सा संस्कार करके इसी को राष्ट्रभाषा मान लिया जाय; अर्थात्, 'मैं ने भात

खाया, मैं ने दाल खाई, मैं आया, हम आये" के जगह जैसे आम तौर से बोला जाता है वैसे ही बोलना शुद्ध और सही माना जाय—"हम भात खाया, हम दाल खाया ; हम आया, हम-लोग आया।" जो कार्यतः चल रहा है, उसे निषिद्ध न रख कर विधिवद्ध किया जाय। बाजारू हिन्दी शुद्ध हिन्दी की सी ज़ोरदार और मानोदार बोली है, पर इसका यह गुण है कि इसका व्याकरण इतना कम है कि एक पोस्टकार्ड पर कुल शब्द और धातु-रूप लिखे जा सकते हैं। इस विषय पर दक्षिण भारत की हिन्दी-प्रचार समिति के कुछ कर्म्मी लोगों से मेरी बात हुई थी। उन्होंने स्वीकार किया है कि हिन्दी के तीन साल के कोर्स में पहले दो साल के पाठ्य में और परीक्षा में लिङ्गभेद और क्रिया के प्रयोग पर छात्रों के लिये सख्ती नहीं की जाती, इन विषयों में सरल हिन्दी अशुद्ध होते हुए भी मानी जाती है। ये मुझ से सहमत हुए कि सरल चालू हिन्दी को मानने से हिन्दी का प्रचार और भी बढ़ जायगा। खैर, इस विषय पर अब मैं ज़ोर नहीं देता।

इन छः कारणों से अब बङ्गाल में हिन्दी के बाजार में मन्दी आई है। इन कारणों को हटाने की कोशिश हमें करनी चाहिये। यह काम बङ्गाली और हिन्दीवालों के सम्मिलित होकर करने का है। धीरता से सोच-विचार कर कार्य-क्रम का निर्धारण होना चाहिये। मैं अपना अभिमत इन छः बातों पर यहां देता हू। आप लोग भी अपनी राय और अपना उपदेश दें। इससे उपयोगी कार्य-पद्धति का निश्चय करना सरल होगा।

[१] हिन्दी की ओर शिक्षित बङ्गालियों को और अधिक आकृष्ट करना। यह काम श्रीयुत क्षितिमोहन सेन ने जितना किया उतना आज तक और किसी ने नहीं। बङ्गला लिपि में मूल हिन्दी के साथ श्रेष्ठ हिन्दी पुस्तकों के (विशेष कर काव्य-ग्रंथों के) अनुवादों का प्रचार इस काम में बहुत सहायक हुआ है, और होगा भी। राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति से इसका अच्छा प्रबन्ध होना चाहिये। कबीर, तुलसीदास, सूरदास, बिहारी इत्यादि प्राचीन कवि, विशेष करके ऐसे कवि जिन की भाषा में खड़ी बोली का मिश्रण ज्यादातर मिलता है; भारतेन्दुजी और मैथिलीशरणजी प्रमुख आधुनिक कवि; और गद्य में प्रेमचद जो ऐसे आधुनिक कहानी-लेखकों की कुछ कहानियां, महात्मा गांधीजी के और पं० जवाहिरलालजी के कुछ भाषण—ये सब इस काम में लाने के लायक हैं। खास हिन्दी शब्दों की अधिकत्व से हिन्दी-बराबर उर्दू के पद्य या गद्य जहां तक मिले, का इस काम में उपयोग किया जा सकता है; इससे हिन्दी में जो अरबी फ़ारसी शब्द प्रविष्ट हुए हैं उन के समझने में और उन के प्रयोजन में सहाय्य होगा। हर्ष की बात है कि पूर्वभारत राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति के कुछ सदस्यों ने प्रचार के लिये एक ऐसी पत्रिका प्रकाशित करने की इच्छा प्रकट की है जिसके कुछ पन्नों में बङ्गाक्षर में हिन्दी छापी जायगी और कुछ में नागराक्षर में बाङ्ला। बङ्गला लिपि में मूल हिन्दी के साथ कुछ श्रेष्ठ हिन्दी ग्रंथों का अनुवाद नाम-मात्र मूल्य से, जैसे कि केवल वितरण के लिये, बङ्गाली छात्रों में और शिक्षित जनों में

प्रचारित हो सकते हैं। हमारे विचार में ऐसा करने से लोगों में हिन्दी की ओर कौतूहल पैदा होगा, हिन्दी के लिये फिर चाव आवेगा। हिन्दी पढ़ाने के लिये मुफ्ती स्कूल खोले गये हैं, पर इन में छात्र लोग नहीं आते। वृत्ति के आकर्षण से छात्रों को हिन्दी की तरफ खींचने का इन्तज़ाम हो रहा है। यह प्रबन्ध अच्छा होगा। पर इसमें एक मन्तव्य है। स्कूल और कालेज के वृत्ति-भोगी बङ्गाली छात्रों को अपनी मातृभाषा के बदले में हिन्दी लेना पड़ेगा; विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में (जैसे मैट्रिक्युलेशन और इंटरमिडियट में) मातृभाषा बङ्गला के स्थान में हिन्दी रखना होगा—ऐसी व्यवस्था मुझे मुनासिब नहीं लगती। लोग कहेंगे—यह तो selling one's birthright for a mess of pottage, अर्थात् दाल-भात के बदले जन्मगत अधिकार को बेच डालना सा है। "पहले कुछ हिन्दी सीख लो—हिन्दी सीखने के वास्ते हम प्रबन्ध कर देते हैं; इस के बाद इम्तिहान में अपनी काबिल्यित् ज़ाहिर करो; तो फिर तुम्हें स्कालर्‌शिप मिलेगा—छः महीना या एक साल के लिये; फिर दूसरी परीक्षा में अपनी योग्यता दिखानी पड़ेगी, ताकि स्कालर्‌शिप मिलता रहे"—ऐसा करने से योग्य और अच्छे छात्र आ सकते हैं। पर प्रस्तावित नियम की परीक्षा होनी चाहिये, बङ्गाली छात्रों में से यह नियम कैसे कार्यकर होगा।

हिन्दी के लिये—संस्कृतमय शुद्ध हिन्दी के लिये—क्षेत्र तैयार हैं। हिन्दी से जो प्रेम अन्तःसलिला फल्गुनदी की धार सी बङ्गाल के हृदय के अन्तस्तल में बहती है, क्षिति बाबू ने और सतीश बाबू ने उसे पुष्ट किया है; श्री रवीन्द्रनाथजी की A Hundred Verses from Kabir पुस्तक ने भारत के बाहर के अनुभवी जनों के चित्त को रससिक्त किया है (बीस साल से ज्यादा हुआ, मैं ने छात्रावस्था में लंदन में एक रूसी सज्जन को—जो कि एक नामी चित्रकार हैं—बड़े प्रेम से रवीन्द्रनाथ जी की कबीरवाली पुस्तक का रूसी अनुवाद पढ़ते देखा था, उन्होंने बड़े आग्रह के साथ कबीर तथा हिन्दी साहित्य और मध्य-युग के भारत के रहस्यवाद के विषय में मुझसे प्रश्न किये थे; रूसी अनुवाद में, जैसे रवीन्द्रनाथ जी की अंग्रेजी पुस्तक में, कबीरजी के मूल हिन्दी पदों के प्रथम छत्र के पहले चरण रोमन प्रत्यक्षर में दिये गये थे); इस पुस्तक ने भारतवर्ष में भी बहुत से भारतीय जनों के मन में पुरानी हिन्दी के साहित्य के लिये अनुराग उत्पन्न करा दिया। बङ्गाली साहित्यानुरागी होते हैं; यद्यपि यह बात सच्ची है कि केवल अपने साहित्य के कारण किसी भाषा का प्रसार नहीं होता, भाषा के फैलाव में और कारण अधिकतर कार्यकर होते हैं, तो भी साहित्य की राह से हिन्दी बङ्गालियों के हृदय में समाई है, इस राह को छोड़ देना ठीक नहीं होगा।

[२] हिन्दी अब तक निखिल भारत की उपयोगी संस्कृति-वाहिनी भाषा नहीं बनी, यह बात हर हिन्दी वाले को अधोमुख होकर मानना चाहिये। अंग्रेज़ी, फ़रांससी, जर्मन इत्यादि भाषाओं के सामने, कहां हिन्दी और कहां बाङ्ला, कहां मराठी, और कहां तामिल! भारत में अब तक एक भी आर्या

ऐसी नहीं है जिसमें अंग्रेज़ी का सा पुस्तकमय ज्ञान-भण्डार खुला हो। हम बङ्गालियों में हमारी मातृभाषा के लिये गर्व है, परन्तु हमारी भाषा और हमारे साहित्य की असम्पूर्णतायें हम अच्छी तरह से जानते हैं। अंग्रेज़ी वाङ्मय की खिड़की के बग़ैर हमारे मानसिक और सांस्कृतिक जीवन के रुद्ध कक्ष में हवा और रोशनी नहीं आ सकती।

आर्यावर्त की पुरानी सांस्कृतिक प्रतिष्ठा से गौरव-बोध लेकर "मनुसंहिता" में दो-ढाई हज़ार बरस पूर्व जो पुकारा गया था :—

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशाद् अग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥"

—यह बात बीत गई है। संस्कृति में अब भारत के प्रान्त बराबरी रखते हैं, कोई किसी से अपने को छोटा नहीं मानता। लोग अंग्रेज़ी सीखते हैं, अपनी ग़रज़ से ; न सीखे, हानि उसी की जो नहीं सीखता ; वह अंग्रेज़ी-फ़ारिग़ होकर अपनी इल्मी ज़िन्दगी में ख़ुद नुक़सान पहुँचायेगा। पर हिन्दी सीखना—यह तो sentiment अर्थात् भाव से होता है ; जो "एक राष्ट्र, एक भाषा" इस भाव के भावुक हैं, जो भारत को एक और अखण्ड राष्ट्र मानते हैं, और इस कारण भारतीय होकर अन्य प्रान्त के भारतीयों के साथ विदेशी भाषा में वार्त्तालाप करने में लजाते हैं, वे चाहेंगे कि किसी उपाय से हिन्दी सीख लें। मैं भी ऐसे भाव का भावुक हूँ, यह कहते मुझे लज्जा नहीं आती। इसलिये, जब युवावस्था में गुरुकुल-वास करने के समय, और उसके बाद प्रौढ़ावस्था में भ्रमण के लिये मैं यूरोप में प्रवास करने को गया, तो किसी भारतीय से मिलते वक्त मैं हिन्दी ही में बातचीत शुरू करता था ; अपने भारतीयत्व या हिन्दीपन की निशानी के लिये कोट के बटन-होल या काजघर में भारत के तिरंगे झण्डे की मीनाकारी का बटन लगाता था ; और भारतवर्ष द्वारा रोमन लिपि के ग्रहण का पूर्ण रूप से मेरा समर्थन होते हुए भी मैं देवनागरी लिपि को भारतीयत्व का एक निशान और उसका decorative value अर्थात् सजावटी गुण को मान कर, उस लिपि में तथा रोमन में छपाया कार्ड व्यवहार करता था। मगर मैं यह देखता हूँ कि भारत में केवल बङ्गाली ही नहीं, बल्कि दूसरे प्रान्त के ऐसे बहुत शिक्षित लोग हैं, जो ऐसे भावुक नहीं हैं, जो वहम या भाव से ग़रज़ या आवश्यकता को ज्यादातर मानते हैं। शुष्क युक्ति और विचार का शुभ्र आलोक, जो कि भाव या अनुराग के रङ्ग से रञ्जित नहीं हुआ, इससे देखने में इस मनोभाव के विरुद्ध मुझ से कुछ कहा नहीं जाता। इस भाव से ऐसा अभिमत भी प्रकट किया जाता है कि, तमाम दुनिया के लिये एक-ही भाषा हो जाय—जैसे अंग्रेज़ी—तो उससे सब जातियों के लिये भला होगा। पर यह दूर भविष्य की बात है। जब तक हिन्दी अंग्रेज़ी के बराबर नहीं होगी, तब तक हिन्दी की चर्चा की प्रेरणा मात्र National Sentiment या जातीय भाव और Pan-Indian National Sentiment अर्थात् निखिल भारताश्रयी जातीय भाव ही रहेगा। और

इस बात पर राष्ट्र-भाषा के सब प्रेमियों को पूरा ध्यान देना चाहिये ; Decentralisation अर्थात् केन्द्रापसरण, Provincial Autonomy अर्थात् प्रादेशिक स्वतन्त्रता, और Federation अर्थात् राष्ट्र-समवाय—ये तीन, समग्र भारत के एक-भाषित्व के सबसे प्रबल शत्रु बनेंगे।

[३] हिन्दी उर्दू का झगड़ा—इसमें जो भाव-सूत्र विद्यमान है, वह है स्वजात्य के साथ वैजात्य का द्वन्द्व। परमेश्वर हमें हमारे अज्ञान से मुक्त करें ; हमारे मुसलमान भाइयों को भी मुक्त करें। मुसलमान जब तक अपना कट्टरपन नहीं छोड़ेंगे, तब तक जातीयता का बोध उन्हें नहीं होगा। वे जातीयता से मुसलमानीपन को बढ़कर मानते हैं ; बहुत से मुसलमानों के मन में संस्कृत से नफ़रत है। पर यह सोचना चाहिये कि कम-से-कम तीन हज़ार वर्ष से संस्कृत भाषा भारतीय सभ्यता का प्रतीक बन रही है। संस्कृत का प्रभाव हमारे शिरा-उपशिराओं में प्रविष्ट हुआ है। यदि हमारी सभ्यता पर हमारी कुछ भी श्रद्धा रहे, कुछ भी अभिमान रहे, तो हम संस्कृत को छोड़ नहीं सकते। संस्कृत की ज्योति ने एक समय समग्र पूर्व-एशियाखण्ड को उद्भासित किया था। पृथ्वी में तीन मौलिक और स्वतन्त्र सभ्यताएँ अति प्राचीन काल में उत्पन्न होकर आज तक किसी-न-किसी रूप में चालू हैं। एक—ग्रीक या यूनानी सभ्यता, जिसका परिवर्तित रूप आधुनिक यूरोपीय सभ्यता है। दो—चीनी सभ्यता, जिसके आधार पर जापान की सभ्यता बनी ; और तीन—भारतीय सभ्यता। अरबी और मुसलमानी सभ्यता दर-असल यूनानी सभ्यता ही की एक अर्वाचीन शाखा है। पुरानी ग्रीक, चीनी और संस्कृत—ये तीन भाषाएँ जगत के श्रेष्ठ चिन्तन के चिरन्तन भण्डार बनी हैं, मनुष्य के मनुष्यत्व का विकास और अनुभूति का श्रेष्ठ प्रकाश इन तीन भाषाओं में निहित है ; अब तक इन तीन भाषाओं की पुस्तकें सर्व-जातीय मनुष्यों में पुरुषार्थ ला देती हैं। क्या हम अपनी राष्ट्र-भाषा में संस्कृत को नीचा स्थान दे सकते हैं ? हमारे मुसलमान भाई लोग चाहे जितनी खुशी अरबी अलफ़ाज़ से दिली लुत्फ़ और रूहानी बलन्दी या मस्सर्रत मनायँ, अरबी अपने स्थान पर विराजती रहे ; पर हम यह नहीं मानेंगे कि उत्तर भारत की आर्यभाषा के तीन हज़ार बरस के इतिहास का परिणाम यह है :—

"कभी, अय मुन्तज़रे हक़ीक़त, नज़र आ लिबासे मजाज़ में ॥"

अथवा—

"अदम से जानिबे हस्ती तलाशे यार में आये।
हवाए गुल में हम किस वादिये पुरखार में आये ॥"

भाषाएँ दो प्रकार की होती हैं ; एक—जिसे अंग्रेज़ी में कहते हैं Building Languages अर्थात् बनानेवाली भाषाएँ, जिनमें अपने धातु प्रत्ययादि के सहारे से नये शब्द बनाये जाते हैं, जैसे जर्मन भाषा ; दो—Borrowing Languages या उधार करनेवाली भाषाएँ हैं, जो कि आवश्यक शब्द दूसरी किसी भाषा से ले लेती हैं, जैसे अंग्रेज़ी, जो लेटिन और फ्रांस से बहुत शब्द

लेती है। हिन्दी की बनावट-शक्ति नितान्त कम नहीं ; तो भी हिन्दी उधार करनेवाली भाषाओं के पर्याय में आ गई है। यह हिन्दी तथा और आधुनिक भारतीय भाषाओं के लिये कुछ नई बात नहीं। पहले जब संस्कृत बिगड़ कर प्राकृत हो गई, तब से शुद्ध संस्कृत शब्दों को प्राकृत में ला देने की रीति चली आई। अपभ्रंश में काफ़ी संस्कृत शब्द मिलते हैं पुरानी हिन्दी में भी मिलते हैं। हिन्दीवाले मुसल्मान पहले पहल संस्कृत भरी हिन्दी व्यवहार करते थे, पर सोलहवीं सदी के अन्त से दक्षिण उत्तर-भारत से आये हुए हिन्दीवाले मुसल्मानों में संस्कृत को छोड़ कर फ़ारसी से शब्द (आवश्यक हो या न हो) उधार लेना शुरू हुआ। ऐसे, मुसल्मानों में "दकनी" पैदा हुई, जो कि उत्तरी उर्दू की रहनुमा बनी। मुसल्मानों के हाथ में हिन्दी सतरहवीं सदी से इस नई राह पर चली, शुद्ध हिन्दी से पृथक होकर उर्दू बनी। पर हिन्दी "मूई" भाषा नहीं है। अंग्रेज़ सरकार और सम्प्रति कांग्रेस से सहारा पाकर उर्दू वाले हिन्दी के ऊपर घोर अत्याचार करने लगे हैं। इसमें सन्देह हो तो रेडियो की विभिन्न स्टेशन की "हिन्दुस्तानी" में बातचीत सुनिये। उर्दू वालों में कुछ लोग ऐसा बर्ताव करते हैं कि इनके ख़याल में भारतवर्ष में हिन्दी और संस्कृत का नामो निशान मिट गया है।

भारत के चार-पञ्चमांश के अधिवासियों की ओर से—न केवल हिन्दुस्थान या उत्तर भारत के हिन्दी वालों की तरफ़ से, बल्कि जिनमें हिन्दी प्रचार करना मुनासिब समझा जाता है उन गुजरात, महाराष्ट्र, आन्ध्र, कर्णाट, केरल, तामिल-नाडु, उड़िसा, बङ्गाल, आसाम और नेपाल की तरफ़ से हमें साफ़ कह देना चाहिये—संस्कृत को छोड़ कर हिन्दी राष्ट्र-भाषा नहीं हो सकती। जहां तक हो सके, अपने प्राकृतज धातु और प्रत्ययों से, अपने प्राकृतज शब्दों से चाहे अपने आत्मसात्-कृत कुछ विदेशी शब्दों से अपनी building या बनावटी शक्ति से, हिन्दी नये शब्द बना ले ; पर जहां borrowing या उधार करने की ज़रूरत होगी, वहां हिन्दी साधारणतया संस्कृत ही की शरण ले,—अपनी उत्पत्ति के समय से हिन्दी जैसा करती आई है। इसके बाद हिन्दी में जितने अरबी, फ़ारसी, अंग्रेज़ी इत्यादि के शब्द naturalised या चालू हो गये हैं, वे रखे जायँ। ऐसे शब्द गिनती में कई हज़ार होंगे ; मगर पांच हज़ार से ज्यादा नहीं। हिन्दी के बहुत से सामान्य शब्द ऐसे विदेशी शब्द हैं ; इनके संस्कृत या शुद्ध प्राकृतज हिन्दी प्रतिशब्द रहते हुए भी, वे अब के समय में जैसे—तैसे इस्तेमाल किये जायँगे ; जैसे—"आदमी (=मानुस, मनुष्य), औरत (=स्त्री, नारी), हवा (=बयार, बतास, वायु), जगह (=ठौर, स्थान), मालूम (=विदित, ज्ञात), मुल्क (=देश), अरज़ (=निवेदन), हुकम (=आज्ञा), नौकर (=दास), किताब (=पुस्तक), ख़रच (=व्यय), नक़्शा (=ख़ैडा), काम (=काज), हद (=सीमा)", इत्यादि। ऐसे बहुत से शब्दों का शुद्ध हिन्दी प्रतिशब्द मिलना मुश्किल है। इन शब्दों के अलावा, हम मुसल्मानी मज़हब के लिये, इस्लामी तसद्दुक, इस्लामी अदब की ख़ास बातों के लिये, कुछ—कई सौ—अरबी से

एक हजार—ज़रूरी अरबी और फ़ारसी शब्दों के वास्ते हिन्दी में स्थान रख देंगे। मगर Trigonometry या "त्रिकोणमिति विद्या" के लिये "इल्मुल् मुसल्लस्", Electricity "ताडित विद्या" या "बिजली" के लिये "इल्मुल्-बर्क़", Physics अर्थात् "पदार्थ विद्या" के बदले "इल्मुत्तबाई" बोलने से जी घबराता है। संस्कृत के अनन्त ज्ञान-भण्डार को छोड़ कर अरब के शरणापन्न होना—यह हमारे पूर्वजों की गौरवमय स्मृति का अपमान करना होगा, आत्महत्या होगी। संस्कृत-शब्द-विहीन हिन्दी की अपेक्षा शुद्ध और सरल संस्कृत भारत की राष्ट्रभाषा होने के लिये अधिक योग्य होगी।

हिन्दी और उर्दू का फ़ैसला इन दोनों की साधारण सम्पत्ति हिन्दी के प्राकृतज शब्दों के आधार पर होना कठिन या असंभव है। एक तरफ रहा "विद्यामन्दिर", दूसरे तर्फ़ से आया "बैतुल्-इल्म्" बेचारे "पढ़ाई-घर" की दौड़ बड़ी दूर तक नहीं हो सकती। जब तक तुर्की और ईरानी मुसल्मानों की तरह सुबुद्धि हमारे भारतीय मुसल्मानों में नहीं आवेगी, जब तक भारत के सरकारी सालिस या तृतीय पक्ष का मनोभाव नहीं बदलेगा, तब तक इस फ़ैसले की चेष्टा व्यर्थ होती रहेगी। तुर्क मुसल्मान, अरबी "अल्लाह" शब्द का बहिष्कार कर अपनी तुर्की भाषा के प्राचीन शब्द "तेङ्गरि" का पुनरजीवन और पुनः प्रयोग कर रहा है; ईरानी मुसल्मान ने अपने शुद्ध आर्य शब्द "ख़ुदा" को कभी नहीं छोड़ा ("ख़ु-दा" अर्थात् "ह-दा" का संस्कृत प्रतिरूप है "स्व-धा", अर्थात् "स्वयम् करनेवाला"); आजकल ये पुराने आर्य शब्दों को फिर पुनरुद्धार करके व्यवहार में लाते हैं। तहरान के विश्वविद्यालय का नाम अब "दारुल्-उलूम्" नहीं है, इसे बदल कर "दानिश्‌गाह" रखा गया (जिसका वैदिक संस्कृत का प्रतिरूप है "ज्ञान-गातु")। आशा है कि आख़िर भारत के मुसल्मानों को भी ऐसा ध्यान आ जायगा, और ये संस्कृत को नये दृष्टिकोण से देखेंगे। ऐसा शुभ दिन जब आवेगा, तब भारत के सब दुःखों का अवसान होगा। परन्तु जब तक वह नहीं हो, तब तक हिन्दी हिन्दी ही रहे, उर्दू में लीन न हो जाय; क्योंकि उर्दू की तरफ से अपने दावे को कम करने का कोई भी लक्षण नहीं दिखाई देता। उर्दू में समा कर, हिन्दी "आम-फ़हम" नहीं बनेगी, पर हिन्दी के अन्तर्गत हिन्दू संस्कृति गायब हो जायगी, और बङ्गला मराठी गुजराती आदि के लिये यह उर्दू-हिन्दी आशङ्का का कारण बनेगी।

[४] मद्रास के स्कूलों में हिन्दी को compulsory या आवश्यक बनाना किसी हिन्दी-वाले प्रदेश की कार्रवाई नहीं थी, पर इससे अत्युत्साही मद्रासी हिन्दी प्रेमी ने हिन्दी का नुकसान पहुंचाया। रातोंरात ये द्राविड़ी भारत को हिन्दी-दां बनाना चाहते हैं; पर "जल्दी का काम शैतान का है", यह मसल हमें भूलना नहीं चाहिये। हिन्दी-विरोधी आन्दोलन मद्रास में मचने के बाद मैं सुदूर कन्या-कुमारी गया था (१९३९ साल के जुलाई महीने में); वहां स्वामी विवेकानन्दजी के नाम से एक छोटा पाठागार बना है, जिसमें एक हिन्दी पाठशाला भी खुली थी; पर मैं ने देखा, वहां हिन्दी-विद्वेष इतना प्रबल हुआ था, कि हिन्दी पाठशाला के नाम को भी पाठागार के दीवाल से मिटाने की चेष्टा हुई थी।

laissez faire—अपनी खुशी से चलो—इस नीति के सिवाय ऐसे मामले में अच्छी नीति और कोई नहीं है। यदि कांग्रेसी राज में जहां हिन्दी चालू नहीं है ऐसे किसी प्रदेश में हिन्दी आवश्यक की जाय, साथ साथ हिन्दी वाले प्रदेशों में और किसी आधुनिक भारतीय भाषा को (छात्रों की रुचि या सुभीते के अनुसार बङ्गला, मराठी, गुजराती, तामिल, तेलुगु जो कुछ हो) वैसी आवश्यक करना उचित और न्याय्य होगा। इससे किसी प्रदेश के लोगों को रुष्ट होने का कारण नहीं रहेगा। मैं ने इसके पहले एक बार इस विषय पर अपने मन्तव्य का प्रकाश किया था, जब मैं कुमिल्ला के बङ्गीय-साहित्य-सम्मेलन का सभापति बना और मैं ने अपना भाषण पढ़ा। काशी के निखिल-भारतीय-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति श्रद्धास्पद पण्डित श्रीयुक्त अम्बिकाप्रसादजी बाजपेयी ने भी मेरी इस विषय की उक्ति का उल्लेख किया था, कि ज़बरदस्ती से हिन्दी पढ़ाने की चेष्टा से लोग हिन्दी भाषियों पर दुरभिसन्धि का अपवाद देते हैं। अब उचित है कि ऐसे मामले में हिन्दी-प्रेमी और हिन्दी-भाषी निरपेक्ष रहें; जिसकी इच्छा हो वह हिन्दी पढ़े, किसी पर ज़ोर न किया जाय।

[५] बिहार के पूर्व प्रान्त में कुछ अंशों में हिन्दी और बङ्गला का झगड़ा—यह प्रादेशिक स्वातन्त्र्य के कुफलों में है। हर प्रदेश totalitarian अर्थात् सर्वग्रासी बनना चाहता है; इस का नतीजा—minorities या संख्याल्पिष्ठ सम्प्रदाय या जातियों पर निर्बोध और निर्विचार निष्ठुरता। अखिल-भारत को एक राष्ट्र बनाना इससे सम्भव नहीं होगा। मानभूम इत्यादि कुछ प्रान्तों में बङ्गला स्मरणातीत काल से लोक भाषा के रूप में चालू है; वहां के लोग जो बङ्गला पढ़ना चाहते हैं, उनके लिये निष्कपट भाव से बङ्गला पढ़ाने का प्रबन्ध कायम रखा जाय। मातृभाषा के कारण किसी प्रदेश में संख्याल्पिष्ठ सम्प्रदाय पर अत्याचार या अविचार नहीं किया जाय। पर हाय, हमारे यहां जातिगत या भाषागत सङ्कीर्णता से मुक्त दूरदर्शी नेता बहुत ही कम हैं। ऐसे बर्ताव से निखिल भारतीय एकराष्ट्रीयता पर कितना नुक़सान पहुँचता है, इसे कौन देखे? पूर्व-भारत राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति के इस अधिवेशन के सभापति राजेन्द्र बाबू से एक बङ्गाली हिन्दी-प्रेमी का नम्र निवेदन यह है कि आप अपने खास प्रदेश में, जो कि बङ्गाल का घनिष्ठ पड़ोसी है, totalitarian policy अर्थात् सर्वभुक् नीति के प्रयोग से ऐसा अविचार न होने दें कि जिससे बड़ी बहन हिन्दी छोटी बहन स्वरूप बङ्गला के सामने दुशमन बने, और जिससे भारत की भावी एकता के एक प्रधान साधन हिन्दी के मारफ़त बनने वाले एकभाषित्व को हानि पहुँचे।

[६] सिर्फ भाषा की दृष्टि से हिन्दी की कठिनाई। अब इस विषय पर इतना ज़ोर देना मैं नहीं चाहता। हिन्दी की कठिनाइयों की निवृत्ति के लिये "चालू हिन्दी", "बाजारू या बाजारी हिन्दी", Basic Hindi या "लघुशैली की हिन्दी" का प्रस्ताव मैं कर चुका हूँ। मेरा विश्वास है, देश में अर्थनैतिक साम्यवाद जितना फैल जायगा, देश के जनगण की जागृति जितनी ही बढ़ेगी,

भाषा का सरलीकरण उतना ही होगा। यूरोप में कहीं कहीं Capitalism के साथ रोमन लिपि से अतिरिक्त और अनावश्यक Capital Letters को भी निकाल देने का प्रयास नज़र में आता है। भारत की भावी राष्ट्र-भाषा के लिये अपना प्रस्ताव मैं और एक बार पेश कर रहा हूँ—अलग छपने योग्य कुछ विशेष निर्देशक चिह्न के साथ प्रचलित चौबीस रोमन वर्णों में लिखी, बाजारू हिन्दी के आधार पर बनी, लिङ्ग-भेद, बहुवचन के प्रत्यय, और अतीत की क्रिया में प्रयोग-भेद से वर्जित सरल-व्याकरण-वाली लघुशैली की हिन्दी, जिसमें हज़ारों चालू अरबी-फ़ारसी शब्द रहेंगे पर जो साधारणतया संस्कृत से अपने culture words अर्थात् उच्च भाव के शब्द लेगी—मेरे विचार में यही भावी राष्ट्र-भाषा का रूप है। अपने आदर्श को खुलासा करके समझाने का अवसर मेरे लिये यह नहीं है; मैं फिर कभी करूंगा। पर मैं die-hard fanatic अर्थात् आप्राण लड़ने वाला अन्धविश्वासी नहीं हूँ। मेरे विचार में कुछ सत्य हो, तो वह नहीं मरने का। लिपि, भाषा और संस्कृत,—ये ऐसे विषय नहीं हैं कि जहां विचार और सिद्धान्त हो गये तहां फ़ौरन परिवर्तन किया जाय। लिपि बदलने में दो एक पीढ़ी लग जायगी; तुर्की ने दस बरस के बीच अरबी लिपि छोड़ रोमन लिपि ले ली है, मगर कहां अवैज्ञानिक और कठिनाई से भरी हुई अरबी लिपि, और कहां हमारी वैज्ञानिक पद्धति के आधार से वर्णों की सजावट की हुई देवनागरी प्रभृति भारतीय वर्णमालाएँ। Experimental Stage या परीक्षा का काल कुछ तो लगेगा ही। मेरा विश्वास यह है कि जैसे समय-निर्देशक घड़ी जैसे बहुत से यन्त्र बाहर से आये, वैसे ध्वनि-निर्देशक रोमन लिपि आयगी। मैं इसे काल के ऊपर छोड़ देता हूँ। पर जब तक रोमन लिपि न ली जाय, तब तक देवनागरी के सिवा दूसरी किसी लिपि में भारत की राष्ट्र-भाषा लिखने की बात उठ भी नहीं सकती।

हिन्दी का भावी रूप जो हो सो हो, इस की लिपि रोमन हो या देवनागरी रहे, इस में संदेह नहीं कि हिन्दी एक बड़ी भारी बोली, एक महत्त्वपूर्ण भाषा है, पृथ्वी की श्रेष्ठ भाषाओं में है। भारत की यह मुख्य भाषा है, राष्ट्र-भाषा का पद इसी का है। कुछ बङ्गाली सज्जन, जिन में ऐसे मनस्वी हैं जो कि न केवल बङ्गाल के परतु समग्र भारत के श्रेष्ठ नेता गिने जाते हैं, राष्ट्र-भाषा बनाने के लिये बङ्गला का दावा पेश कर रहे हैं। इन की चेष्टा मेरे विचार से निरर्थक है; यह केवल विहार और दूसरे प्रांतों में बङ्गला को दबाने के प्रयास की प्रतिक्रिया है। हिन्दी का स्थान आकस्मिक नहीं—केवल Propaganda या प्रचार का फल नहीं है। वैदिक, लौकिक संस्कृत, शौरसेनी अपभ्रंश, व्रजभाषा, खड़ी-बोली हिन्दी—आन्तःप्रादेशिक भाषाओं की इस परंपरा से हिन्दी आई है। केवल साहित्य के कारण किसी भाषा का फैलाव नहीं होता, यह मैं ने कहा है। बङ्गला का आधुनिक साहित्य बहुत श्रेष्ठ है, यह ठीक है; पर हिन्दी के प्राचीन साहित्य का महत्व कुछ कम नहीं। किसी भाषा बोलनेवालों की प्रचार-शक्ति, कर्मशक्ति और प्रभुत्व-शक्ति के कारण उस का प्रसार होता है। हज़ारों

आदमी, जो कि अपने घर में हिन्दी नहीं बोलते जिनकी घरेलू बोली अवधी, भोजपुरिया, मगही, मैथिली, मारवाड़ी या पञ्जाबी है—ज्यों त्यों उन्होंने हिन्दी को अपनाया है; और इस के कारण हिन्दी से इनका संयोग और संयोग से प्रेम Impersonal निर्वैयक्तिक अथवा भावमय है। हिन्दी इनके सामने न केवल एक भाषा, पर एक Idea, एक भाव की मूर्त्ति या प्रतीक बनी है; उत्तर भारत की अखंड एकता का भाव हिन्दी को आश्रय कर के पुष्टि लाभ करता जाता है। बङ्गला या और किसी भाषा में यह भाव कहां? फिर बङ्गला अपने उच्चारण और व्याकरण विषयक कुछ गुणों के कारण उत्तर भारत की और आर्य भाषाओं से अलग बन गई है। बङ्गला के मुताबिक संस्कृत शब्दों के उच्चारण भारत के दूसरे प्रान्त कभी ग्रहण नहीं करेंगे; संस्कृत शब्दों से समृद्ध होते हुए भी, इसमें आन्तःप्रादेशिक समझौते में बोल-चाल की बङ्गला कुछ लाभ नहीं उठा सकती। "साधु भाषा" और "चलित भाषा" बङ्गला में इन दोनों शैली के अवस्थान और बराबरी ने बङ्गला को और भी कठिन बना दिया है।

बिना किसी की चेष्टा से, बिना प्रचार से, गये तीन चार सौ साल में, पछांहे की भाषा हिन्दी, या हिन्दुस्थानी अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, पंजाबी, लहंदी, राजस्थानी, भोजपुरिया, मगही, मैथिली, गढ़वाली, कुमाऊनी, इन पृथक् पृथक् भाषा के क्षेत्रों में साहित्यिक भाषा बनी है। पुरानी धारा—मध्यदेश की भाषा की प्रतिष्ठा और प्रभाव—इसका अन्यतम ऐतिहासिक कारण है; पर आर्यभाषी उत्तर भारत का ऐक्य-बोध इसका एक अमूर्त भावमय कारण है। बङ्गाल पहले से इस ऐक्य-बोध का अनुभव करता था, और अभी करता है; बङ्गाल के सब नेताओं ने एक अखण्ड भारत की बात कही है—कभी इन्होंने समग्र भारत से विच्छिन्न बङ्गभूमि की कल्पना नहीं की। प्राचीन हिन्दू युग की बात छोड़ दीजिये, उस समय न प्रादेशिक भाषाओं का उद्भव हुआ था, न प्रादेशिक भाषाश्रयी जातित्व का बोध था; मध्य-युग के बङ्गाल में बङ्गला भाषा का जन्म हुआ, पर उत्तर भारत से इसका योग नहीं टूटा; काशी, वृन्दावन, जयपुर तक बङ्गालियों की प्रतिष्ठा हुई, वहां के सांस्कृतिक जीवन में बङ्गालियों ने भाग लिया था। बङ्गाली संत और साधक लोगों का प्रभाव दूर गुजरात, राजपूताना, पञ्जाब तक पहुंचा था; विक्रत बङ्गला के पद इतने दूर दूर स्थान के नाथपन्थी और वैष्णव अखाड़ों में मिले हैं। ऐसा सांस्कृतिक लेन-देन अभी तक चल रहा है; आधुनिक काल में जैसे बङ्गला में हिन्दी के काफ़ी शब्द आये हैं, वैसे ही हिन्दी में भी बङ्गला शब्द आये हैं, हिन्दी गद्य शैली की बनावट में बङ्गला का भी प्रभाव बहुत मिलता है। अपनी मातृभाषा बङ्गला को न छोड़ कर, बल्कि अब जैसे ही इसकी चर्चा और इस पर प्रेम रखते हुए, हम में हिन्दी की चर्चा, हिन्दी से गहरा परिचय हो सकता है। पूर्व-भारत राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति इस काम में बङ्गाल को सहायता दे।

अमेरिका, फ्रांस, अरब-देश प्रभृति स्थानों में "हिन्दू" का अर्थ "भारतीय" केवल अ-मुसलमान भारतीय नहीं है। "हिन्द" के लोग "हिन्दू" हैं; हिन्द की एकमात्र भाषा न हो, पर हिन्द की मुख्य

भाषा "हिन्दी" है ; हिन्दुस्थान* हिन्द, और हिन्द की राष्ट्र भाषा "हिन्दी"—ये दोनों प्रयुक्त हों।

जय भारत ॥ बन्दे मातरम् ॥

---

* फ़ारसी शब्द हिन्दोस्तान, हिन्द्स्तान या हिन्द्स्तान उर्दू में चालू है। हिन्दी में भी यह फ़ारसी रूप शुद्ध समझा जाता है। पर बहुत से हिन्दीभाषी इस शब्द का भारतीय रूप हिन्दुस्थान बोलते हैं, और अपने को हिन्दुस्थानी कहते हैं। बङ्गला, उड़िया, आसामी, मराठी, गुजराती, नेपाली, तेलुगु, कानाड़ी प्रभृति भाषाओं में हिन्दस्थानी या हिन्द्स्थानी रूप ही चालू हैं। हिन्दी में इस भारतीय रूप का व्यवहार होना चाहिये, हिन्दी, या हिन्दुस्थानी। हिन्दुस्तानी कहने से बहुत लोगों का विचार होता है कि उर्दू की बात है : अंग्रेजी में Hindustani और Urdu समार्थक हैं, और हाल के कांग्रेसी रिवाज में हिन्दुस्तानी और उर्दू कार्यतः बराबर होती जाती हैं। परन्तु भारतीय रूप हिन्दुस्थानी कहने से भारतीयत्व की छूट की सम्भावना नहीं होती। राजस्थान, राजस्थानी शब्द हिन्दी में हैं। इन शब्दों के साथ हिन्दुस्थान, हिन्दुस्थानी ये दो शब्द होना चाहिये। यह भारतीय हिज्जे या वर्णविन्यास हिन्दी में गृहीत होना चाहिये।

विविध-विषय

(१)

रामकीर्त्ति

रामायण ही हिन्दू धर्म का एक ऐसा ग्रन्थ है जिसे छोटे से छोटे और बड़े से बड़े सब जानते हैं। यहां तक कि श्याम में भी—जिसे अब थाई कहते हैं—रामचन्द्र की कीर्त्ति श्रद्धा और भक्ति से गाई जाती है। यों तो थाई वासी बुद्ध के अनुयायी हैं लेकिन हिन्दू संस्कृति के साथ साथ रामायण भी वहां जा पहुँचा और आज भी वहां बड़े चाव से रामलीला होती है। थाई वाले रामायण को "रामकीन" (रामकीर्ति) के नाम से जानते हैं और इसकी कविता उनके हृदय में गुञ्जन करती है।

थाई में रामायण का प्रवेश १३वीं शताब्दी में हो चुका था लेकिन कविता का रूप उसने १८वीं शताब्दी में, जिसे थाई वाले "रामकोषिन्द्र-काल" कहते हैं, ग्रहण किया। आज भी रामकीर्त्ति सर्वश्रेष्ठ काव्यों की गिनती में है।

रामायण का थाई की कला पर भी बहुत असर पड़ा है और उनकी चित्रकला रामायण के दृश्यों से परिपूर्ण है। मन्दिरों की दीवारों, मकानों में यहां तक कि पर्दों और तकियों के गिलाफों पर भी राम और रावण के चित्र कसीदे से काढ़े जाते हैं। बंगकोक के प्रसिद्ध 'एमरल्ड बुद्ध' के मन्दिर में दो सौ सुन्दर चित्रों में रामायण की कथा चित्रित की गई है।

राम कीर्त्ति मोटे तरीके से तो रामायण ही की रूपरेखा है लेकिन कहीं कहीं कथा का रूप इतना बदल गया है कि यह समझना मुश्किल हो जाता है कि यह वही बाल्मीकि-कृत रामायण है या दूसरी कोई।

रामकीर्त्ति की कथा विष्णु के तीसरे अवतार से शुरू होती है और दशम अवतार राम को मान कर राम की गाथा गाती है। इसके अनुसार दश अवतार यों थे—(१) वराह (२) कच्छप (३) मत्स्य (४) महिषावतार (महिषासुर को मृत्यु दण्ड देने के लिये) (५) योगी (त्रिपुरम से शिवलिङ्ग उड़ाने के लिये) (६) सिंह (नरसिंह) हिरण्याक्ष सुर (हिरण्यकश्यप) संहार करने के लिये (७) कुबड़ा (वामन) बलि को ठगने के लिये (८) कृष्णावतार (९) मोहिनी (१०) रामावतार। दूसरा अन्तर यह है कि जहां हिन्दू धर्म में 'ईश्वर' नाम का कोई विशिष्ट और विभिन्न

देवता नहीं है वहां रामकीर्ति ने नारायण (विष्णु) से ऊँचे स्थान में ईश्वर को रखा है। ईश्वर इसलिये शायद शिव ही हों।

रामायण में आने वाले नामों में भी कई जगह हेरफेर है। जैसे मन्थरा को 'कुस्सी' के नाम से पुकारा है—शायद यह 'कुब्जी' का अपभ्रंश हो। 'शत्रुघ्न' को 'शत्रुद', कुवेर को 'कुपेरा' गरुड़ को 'ख्रुत' और लक्ष्मण को केवल 'लख' के नाम से पुकारा है। थाई भाषा में वर्ग के तृतीय तथा चतुर्थ अक्षर एक ही तरह से उच्चारित होते हैं और शायद इसीलिये बहुत से नाम बदल गये हैं। जैसे भरत को बरत और कहीं कहीं 'फ्रुन' कहा है। इसके अलावा बहुत से नाम तो इस तरह से बदल गये हैं कि उनमें उच्चारण का दोष नहीं मालूम पड़ता, बल्कि यह ज्ञात होता है कि उन पर तामिल भाषा का असर पड़ा है। कई जगह बड़े नाम छोटे भी कर दिये गये हैं जैसे लक्ष्मण का 'लख' विभीषण का 'पिभेख', महिरावण का 'मायारब' तथा ब्रह्मास्त्र का 'ब्रह्माश'। ऐतिहासिक छान-बीन करने वालों को खास करके उनको जो कि हिन्दू संस्कृति के इतिहास में दिलचस्पी रखते हैं रामकीर्ति में काफ़ी खोज का मसाला मिल सकता है।

—श्री लक्ष्मीनिवास बिड़ला।

---

(२)

कामरूप (आसाम)

प्राचीन काल में कामरूप का विस्तार आधुनिक आसाम से अधिक ही था। पश्चिम में इसका विस्तार करतोआ नदी तक होने के कारण आजकल का कुचविहार राज्य और रङ्गपुर उसी के अन्तर्गत थे। यह कामरूप राज्य अतिप्राचीन है; वैदिक काल में वह 'पणियों' के आधीन था। वे वैदिक सभ्यता के विरोधी थे। वैदिक सभ्यता की विस्तृति के साथ ही साथ ये पणि भारतवर्ष से भाग खड़े हुए और उन्होंने फिनिशिया (Phoenicia) में जाकर अपना उपनिवेश स्थापित किया। पणियों को दबाना खूब कठिन था इसलिये वेद के कई मन्त्रों में उन्हें दबाने के लिये इन्द्र की आराधना की गई है। नगेन्द्र बाबू की यह राय है कि आधुनिक आसाम के पहाड़ी जातियों की शाखा में से कुछ उन्हीं पणियों की संतान हैं। ये पणि ही भारतवर्ष में लिङ्ग और योनि पूजा के प्रवर्त्तक हैं। कई

विद्वानों की यह राय है कि मोहनजोदारो और हरप्पा में प्राचीन सभ्यता के जो चिन्ह विद्यमान हैं वे पणि-सभ्यता के ही रूप हैं। वैदिक आर्यों ने पणियों को भगाकर सम्पूर्ण भारतवर्ष में अपना आधिपत्य स्थापित किया था। ये पणि जादू टोना के आदि गुरु कहे जाते हैं और परवर्त्ती काल में उनकी सभ्यता भी आर्यों की सभ्यता में मिल गई जिससे शक्ति-पूजा की नींव पड़ी१। इसलिये, "The history of Assam offers many examples of the process by which Brahman priests have established their influence over the non-Aryan chiefs step by step, and drawn them within the roomy fold of Hinduism.

महाभारत में भी इस देश का उल्लेख मिलता है। उस समय भगदत्त वहां के राजा थे। उनकी राजधानी प्रागज्योतिषपुर में थी जिसे आजकल गौहाटी कहते हैं। 'योगिनी तन्त्र" में भगदत्त की वंशावली के बारे में बहुत कुछ दिया हुआ है। ३६० ई० में समुद्रगुप्त लिखित इलाहाबाद के स्तम्भ से यह मालूम पड़ता है कि कामरूप गुप्त साम्राज्य की सीमा में था। सन् ६४० ई० में जब हुएन्तसांग ने उस स्थान को देखा था उस समय वह कुमार या भास्करवर्म नामक हिन्दू राजा के आधीन था। उसने उन्हें ब्राह्मण जातीय कहा है, लेकिन, "He belonged to a very ancient dynasty,........and almost certainly he must have been a Hinduised kutch aborigine."

इसके बाद वह पाल राजाओं के आधीन रहा। १२०० ई० (?) में पालवंशीय कुमार पाल ने अपने मन्त्री वैद्यदेव को वहां का शासक बनाया था। १३वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में (१२२८ ई०) आहम् जाति के लोगों ने कामरूप पर अपना अधिकार जमाया और उसी समय से कामरूप का नाम आसाम पड़ा। लेकिन दूसरों की यह राय है कि पार्वत्य श्रेणियों के कारण वहां की भूमि 'असम' या असमतल होने के कारण उस देश का नाम आसाम पड़ा है। लेकिन इसमें कोई ऐतिहासिक सत्य नहीं है।

कुछ भी हो आहम् जाति के लोग उत्तरी ब्रह्मा (ब्रह्मदेश) और चीन-सीमान्त-वासी 'सान' वंश के थे। उस जाति के राजा 'सुहुम्-फा' ने सर्वप्रथम हिन्दू धर्म को अपनाया था। उनका राज्य काल सन् १४९७ ई० से आरम्भ होता है। परवर्ती काल के राजा 'सुसेंग-फा' के समय (१६११-१६४९ ई०) शिवसागर के शिवमन्दिर की स्थापना हुई थी और उस समय हिन्दू धर्म ही राज्य-धर्म था।

---

१ Gait—History of Assam
Lyall—Asiatic Studies
Risley—Census of India (1901)
N. N. Vasu—Social study of Kamrupa आदि पुस्तकें।

इसके बाद 'चुटूला' राजा ने हिन्दू नाम 'जयध्वज' ग्रहण किया था। उनके समय में आसाम पर मीरजुमला[२] ने चढ़ाई की थी।

आहम् राज रुद्रसिंह विशेष प्रसिद्ध हुए थे। उनके समय गोवालपारा तक राज्य-विस्तार हुआ था। तत्पश्चात् अन्तरविद्रोह के कारण आहम् राजा इतने निर्बल हो गये थे कि सन् १७९२ ई० में जब राजा गौरीनाथ सिंह दारांगकोच के राजा और मोयामारिया-धर्मसम्प्रदाय के नेताओं के षड्यन्त्र से सिंहासन से उतार दिये गये उस समय उन्हें ब्रह्मदेश के राजा की सहायता लेनी पड़ी थी। इसका फल यह हुआ कि आसाम राज्य ब्रह्म-राज्य में मिला लिया गया और वहां कठोर शासन स्थापित किया गया। सन् १८२६ ई० में ब्रह्मदेश के राजा को अंग्रेजों ने परास्त किया और सन्धि के अनुसार आसाम का दक्षिणी भाग भारत-साम्राज्य में मिला लिया गया। सन् १८३२ ई० में उत्तरी आसाम भी अंग्रेजों के हाथ लगा और बाद में पूरा आसाम ही अंग्रेजों के आधीन हो गया।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से आसाम का महत्व बहुत है, क्योंकि, "It is a gate through which successive hordes of immigrants from the great hive of the Mongolian race in Western China have poured into the plains of India." तथा "The religion supplies the clue to the strange Tantric developments of both Buddhism and Hinduism which are so characteristic of Mediaeval and modern Bengal."[१]।

आजकल कामाख्या-मन्दिर शाक्त हिन्दुओं का एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। इस मन्दिर में प्रति वर्ष तीन उत्सव हुआ करते हैं—(अ) पुरयावन (विवाहोत्सव) (ब) मनसा पूजा (सर्प देवी की पूजा) और (स) शारदीया पूजा। महामुनि का मन्दिर भी एक दूसरा प्रसिद्ध तर्थ-केन्द्र है।

—विभूति भूषण चटर्जी एम० ए०।

---

२ औरङ्गजेब का सेनापति। इसके पहले (१२०४-५ ई०) बख्तियार मुहम्मद के पुत्र ने एक बार आसाम पर चढ़ाई की थी लेकिन उसकी चेष्टा व्यर्थ हुई।

१ Smith : E. H. I.

(३)

राजा भूताल-पाण्ड्य का एक विचित्र कानून

राजा भूतालपाण्ड्य जैनधर्मावलम्बी थे और उनकी राजधानी वर्त्तमान दक्षिणकन्नड़ (South Kanara) जिलान्तर्गत बारकूरु थी। बारकूरु इस समय एक उजड़ा हुआ गांव है। परन्तु लगभग दो हजार वर्ष पूर्व वह एक समृद्धशाली नगरी थी। आज भी वहां पर अपने गतवैभव को प्रमाणित करने वाले अनेक उज्वल चिन्ह मौजूद हैं*। दक्षिण-कन्नड़ जिला में आज 'अलियसन्तानद् कट्टु' के नाम से जो विचित्र कानून प्रचलित है उस कानून का बनाने वाला उक्त राजा भूतालपाण्ड्य ही था। उसकी कहानी इस प्रकार है—उस ज़माने में पाण्ड्य-राज्य में देवपाण्ड्य नामक एक प्रसिद्ध व्यापारी रहता था। यों तो वर्ण में वह युद्धक्षत्री था फिर भी व्यापार की ओर उसकी रुचि बलवती रही, इसलिये उसने सहर्ष वैश्यवृत्ति को ही अपना लिया था। उसका व्यापार सम्बन्ध ईजिप्ट आदि सुदूरवर्ती राष्ट्रों के साथ था और इस कार्य के लिये उसके पास सुदृढ़, सुन्दर एवं बहुमूल्य बहुत से जहाज मौजूद थे। देवपाण्ड्य पीछे पाण्ड्यराज्य को त्यागकर बारकूरु में आकर बस गया था क्योंकि उस समय वहां का बन्दरगाह प्राचीन भारत के विख्यात बन्दरगाहों में से अन्यतम था।

एकदा जब वह देवपाण्ड्य एक बहुमूल्य नूतन जहाज बनवाकर उसे बाहर भेजने के लिये तैयारी करने लगा तब उसमें कुण्डोदर नामक एक भयङ्कर भूत प्रत्यक्ष हुआ और कहने लगा कि जब तक तुम मुझे एक नरबलि प्रदान नहीं करोगे तब तक इस नवीन जहाज को मैं नहीं छोड़ूंगा। फलतः देवपाण्ड्य गहरी चिन्ता में अविश्रान्त गोता लगाने लगा। वह दूसरे की बलि कैसे दे सकता था? अन्त में उसने यही तय किया कि अपने सात लड़कों में से किसी एक की बलि दे दूं। परन्तु उसकी स्त्री इस घृणित कार्य के लिये तैयार नहीं हुई। बल्कि इस जटिल समस्या को लेकर पति-पत्नी के बीच मनोमालिन्य उत्पन्न हुआ और देवपाण्ड्य की स्त्री अपने सातों लड़कों को लेकर सदा के लिये मातृगृह चली गई। अब देवपाण्ड्य को कोई दूसरा उपाय नहीं सूझा। वह बहुव्ययनिर्मित उस नवीन जहाज को यों ही छोड़ देने के लिये भी तैयार नहीं था। अन्त में उसने अनशन के द्वारा शरीर त्याग करना ही उचित समझा।

यह दुःखद समाचार देवपाण्ड्य की एकमात्र भगिनी सत्यवती को मालूम हुआ। भाई की इस

---

* इस संबन्ध में विशेष जानकारी के लिये जैन-सिद्धान्त-भास्कर भाग ४ पृष्ठ २११ में प्रकाशित 'बारकूरु' शीर्षक मेरा लेख देखें।

दुर्दशा को देखकर सत्यवती का हृदय पिघल गया और उसने नानाप्रकार से भाई को समझाया। जब देवपाण्ड्य अपने कदाग्रह को छोड़ने के लिये तैयार नहीं हुआ तब सत्यवती भाई को प्राण-रक्षा के लिये अपने एकमात्र पुत्र जयपाण्ड्य को बलि देने के लिये तैयार हुई।

यथा समय भूतराज कुण्डोदर को बलि चढ़ाने के लिये निर्दोषी अनाथ जयपाण्ड्य निर्दयता-पूर्वक समुद्रतीर पर उस नवनिर्मित जहाज के निकट लिवा ले जाकर बलिवेदी पर खड़ा कर दिया गया। उसके मस्तक पर खड्ग का प्रहार होने ही वाला था इसी बीच में अचानक कुण्डोदर प्रत्यक्ष हुआ और खड्ग को रोककर उसने कहा कि अब मुझे बलि की जरूरत नहीं रही। भूतराज ने तत्क्षण ही जहाज छोड़ दिया और जहाज भी अन्य जहाजों के साथ व्यापार-निमित्त अपने अभीष्ट स्थान की ओर चल पड़ा।

कुण्डोदर जयपाण्ड्य पर प्रसन्न हुआ और उसने उसे यह आदेश दिया कि आज से तुम अपना नाम जयपाण्ड्य के बदले भूतालपाण्ड्य घोषित कर देना। साथ ही साथ भूतराज ने जयपाण्ड्य से यह भी कह दिया कि बारकूरु की राजगद्दी अतिशीघ्र तुम्हें ही मिलेगी। इस घटना के कुछ ही पूर्व जयन्ती अर्थात् बारकूरु के शासक सिद्धवीर का स्वर्गवास हो चुका था। सिद्धवीर की कोई सन्तान नहीं थी, इसलिये राज्य के उत्तराधिकारी को चुनने का पूर्ण अधिकार बारकूरु की प्रजा के हाथ में था। प्रमुख-प्रजाओं ने एक शुभ मुहूर्त में अपनी निर्विवाद पुरानी प्रथा के अनुकूल भरी सभा में राज्य के प्रधान हाथी को पुष्पमाला देकर उसे अभीष्ट किसी सुयोग्य व्यक्ति के गले में पहनाने का आदेश दिया। हाथी ने उस मङ्गलमयी पुष्पमाला को भाग्यशाली भूताल पाण्ड्य के ही गले में पहना दिया। प्रजा ने भी सर्वगुणसम्पन्न भूतालपाण्ड्य को अपना राजा मानकर उसे सहर्ष विधिवत् राज-गद्दी सौंप दी। राजा भूतालपाण्ड्य भी न्याय पूर्वक प्रजानुरागी बनकर सुख से राज्य करने लगा।

कुछ समय के बाद भूतालपाण्ड्य के मामा देवपाण्ड्य के जहाज जो व्यापार-निमित्त बाहर गये थे बहुमूल्य चीजों को लेकर बारकूरु लौटे। अब देवपाण्ड्य सोचने लगा कि यह बहुमूल्य निधि किसको दूं क्योंकि उसकी स्त्री और उसके लड़के पहले ही उसे एकाकी छोड़कर मातृगृह चले गये थे। अन्त में भूतराज कुण्डोदर की आज्ञा से देवपाण्ड्य ने यही निश्चय किया कि अपनी सारी सम्पत्ती का अधिकारी एकमात्र भूतालपाण्ड्य है और सारी सम्पत्ति उसी को देना सर्वथा न्यायसंगत है। तदनुसार देवपाण्ड्य की कुल सम्पत्ति भूतालपाण्ड्य को ही दी गई। इसी अवसर पर राजा भूतालपाण्ड्य को भूतराज कुण्डोदर ने यह आदेश दिया कि तुम अपने राज्य में यह आज्ञा घोषित कर दो कि आज से मेरे राज्य में पिता की कुल सम्पत्ति का अधिकारी पुत्र न होकर बहिन और उसकी सन्तान ही होगी। इसका कारण जनता को यह समझाया गया कि बहिन और उसकी सन्तान को अपने भाई या मामा पर जैसा प्रेम होता है वैसा अमित प्रेम भाई या मामा की स्त्री और पुत्रों को नहीं होता। अन्यथा देवपाण्ड्य की स्त्री उस दयनीय

दशा में उसे एकाकी छोड़ कर अपने लड़कों को लेकर संबन्धविच्छेदपूर्वक मातृगृह नहीं चली आती। उस विकट परिस्थिति में बहिन सत्यवती और भांजा भूतालपाण्ड्य ने ही देवपाण्ड्य की प्राण रक्षा की थी।

तभी से यह विचित्र कानून वहां पर प्रचलित हुआ जो कि आज भी जारी है। गवर्नमेण्ट भी इस पर अपना हस्तक्षेप नहीं करती क्योंकि इस कानून से उसको कोई हानि नहीं, बल्कि लाभ ही है। अब रही वहां की जनता की बात। इसमें दो पक्ष हैं। एक तो इसके पक्ष में है, दूसरी विपक्ष में। दुनियां अपना ही हानि-लाभ देखती है, दूसरे का नहीं। इसका मतलब यह है कि पिता की अपेक्षा मामा से अधिक संपत्ति पाने की आशा रखने वाले तो इस कानून के समर्थक हैं एवं मामा की अपेक्षा पिता से अधिक संपत्ति पाने की आशा रखने वाले इसके विरोधी बन जाते हैं। इसीसे इस कानून को जड़ से मिटाने के लिये देश-हितैषियों ने कौंसिल में कई बार प्रस्ताव भी रखा, पर वे सदैव इस कार्य में असफल ही रहे। बल्कि भूतालपाण्ड्य की ही कृपा से मलाबार में भी उसी समय से यह कानून प्रचलित हो गया परन्तु अब इधर अनेक देशहितैषियों के सफल प्रयत्न से यह कानून सदा के लिये वहां से उठ गया।

यह कैसी नीति है? जीवन का अधिक भाग सुख से हो या दुःख से पिता के यहां बिताओ और पिता की मृत्यु के दस बीस रोज के बाद ही सर्वस्व छोड़कर रोते रुलाते सदा के लिये वहां से चल दो। वास्तव में इस घृणित प्रथा को कोई भी पुत्र-वत्सल पिता नहीं चाहेगा। राजा भूतालपाण्ड्य को मरे लगभग दो हजार वर्ष बीत गये फिर भी उसका अयशोरूपी कलङ्क कानून के रूप में आज भी मौजूद है। देखें इसका अन्त कब होता है।

—पं० के० भुजबली शास्त्री विद्याभूषण।

श्री निम्बार्क सम्प्रदाय

संसार में धर्म, आध्यात्मिकता और दार्शनिकता में भारतवर्ष का स्थान श्रेष्ठ है। भारत की देनगी ने आजकल संसार के बड़े बड़े महापुरुषों का ध्यान आकर्षित किया है। हिन्दू दर्शन, बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन आदि पर यहां और विदेश में अच्छी गवेषणा चल रही है और उन पर कई पुस्तकें मूल और अनुदित छप चुकी हैं। सर जान उडरफ साहब ने तन्त्र सम्बन्धीय कुछ पुस्तकें प्रकाशित कर इसके प्रचार में सहायता की है। लेकिन खेद है कि धर्म के गूढ़ रहस्य-मूलक वैष्णव ग्रन्थों का उतना प्रचार न हो पाया है और उन पर अच्छी गवेषणा भी नहीं हुई है। इन वैष्णव ग्रन्थों पर गवेषणा करने के लिये और उनके प्रचार के लिये अभी हाल ही में श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के कुछ उत्साही व्यक्तियों की सहयोगिता से इन्डियन रिसर्च इन्स्टिट्यूट में एक निम्बार्क विभाग खोला गया है। इसकी कार्य-पद्धति नीचे दी जा रही है :—

१। श्री निम्बार्क सम्प्रदाय तथा अन्यान्य वैष्णव सम्प्रदायों की प्रकाशित पुस्तकें और अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियों और वैष्णव धर्म-विषयक दूसरे पुस्तकों की एक लाइब्रेरी बनाना।

२। श्री निम्बार्क सम्प्रदाय और दूसरे वैष्णव सम्प्रदायों की अप्रकाशित, दुष्प्राप्य और विशिष्ठ ग्रन्थों को मूल और अनुवाद सहित प्रकाशित करने की व्यवस्था करना।

३। वैष्णव धर्म और दर्शन पर आलोचना करना और समय समय पर लेखादि पढ़ने के लिये सम्मिलित होना।

४। "प्राचीन भारत" के कुछ पृष्ठों में वैष्णव शास्त्र और दर्शन पर लेख प्रकाशित करना।

५। भारती महाविद्यालय के अन्तर्गत धर्म-तत्व शिक्षा कालेज में निम्बार्क दर्शन और धर्म-सिद्धान्त पर शिक्षा देना।

६। इसकी चेष्टा करना कि निम्बार्क सम्प्रदाय के मठ इस कार्य में सहायता करें।

यही है संक्षेप में इस विभाग का उद्देश्य और यही है इसकी कार्य सूची। इसमें शामिल होने के लिये वैष्णवधर्मानुरागियों से प्रार्थना की जाती है। आजीवन सभ्यों का चन्दा ७५) और वात्सरिक चन्दा ६) है। जो महाशय किसी चीज़ का खर्च देंगे (जैसे पुस्तक छपाई या लाइब्रेरी की) उस विषय के साथ उनका नाम संश्लिष्ट रहेगा। इसके सभ्यों को प्राचीन भारत की प्रतियां हर माह मुफ्त मिलेगी।

—कालिदास मुकरजी।

सम्पादकीय मन्तव्य

कलकत्ते में बाबू राजेन्द्रप्रसाद के सभापतित्व में "पूर्व-भारत राष्ट्रभाषा प्रचार समिति" का अधिवेशन बड़े जोर शोर से हुआ। विभिन्न प्रादेशिक सज्जनों ने वहां हिन्दी प्रचार कार्य के सुभीतों और असुविधाओं पर अपना मन्तव्य प्रकट किया। उनके भाषण से यह मालूम हुआ कि राष्ट्रभाषा हिन्दी प्रचारणार्थ उक्त समिति की ओर से विशेष प्रचेष्टाएँ चल रही हैं। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का भाषण वास्तव में हृदयग्राही और सची परिस्थिति का नकशा था—वह इसी अङ्क में प्रकाशित किया गया है।

*　　*　　*　　*

नालन्दा विद्यापीठ की स्थापना से हमें अत्यन्त हर्ष हुआ। वास्तव में ऐसी विद्यापीठ की नितान्त आवश्यकता थी। श्रीयुत घवले ने नालन्दा का परिचय अपनी भूमिका में दिया है—उस पुस्तक की अन्यत्र समालोचना की गई है। यद्यपि नालन्दा का विश्वविद्यालय आक्सफोर्ड और केम्ब्रिज से प्राचीन है तथापि आज नालन्दा में खण्डहर ही शेष हैं। किसी दिन आक्सफोर्ड और केम्ब्रिज का भी पुनर्निर्माण हुआ था, और उस पुनर्निर्माण से अंग्रेज जाति का गौरव बढ़ा था। देश के इस नव-जागृति-काल में हमारा ध्यान क्यों नालन्दा की ओर नहीं जाता?

*　　*　　*　　*

अगले जन्माष्टमी के दिन भारती महाविद्यालय के धर्मतत्वविद्यालय, समाज सेवा शिक्षा विद्यालय, व्यवसाय शिक्षा विद्यालय और महिला शिल्पविद्यालय की स्थापना होगी। डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, माननीय लार्ड सिनहा, डा० विनयकुमार सरकार और मयूर भञ्ज की महारानी सुचारु देवी क्रमशः उनका उद्बोधन करेंगे। उनकी कार्यपद्धति दूसरे अङ्क में प्रकाशित होगी।

पुस्तक-समालोचना

नालन्दा—नालन्दा विद्यापीठ का संक्षिप्त परिचय, उद्देश्य और द्वितीय वर्ष का कार्य विवरण, प्रकाशक श्रीयुत सत्यपाल धवले, मन्त्री, नालन्दा विद्यापीठ, पो० नालन्दा, पटना।

यह बड़े हर्ष की बात है कि धवले जी और उनके सहकर्मियों ने मिलकर नालन्दा विद्यापीठ की स्थापना की है। नालन्दा के विषय में हर एक शिक्षित भारतीय को ही नहीं बल्कि विदेशियों को भी कुछ न कुछ मालूम है, अतः उस पर कुछ लिखना निरर्थक है।

इस छोटी सी पुस्तक में श्रीयुत धवले ने नालन्दा का महत्त्व दर्शाया है। साथ ही आपने नालन्दा विद्यापीठ की पुनर्निर्माण-समिति, प्रस्तावित योजना और उद्देश्य आदि दिखलाया है।

ऐसी विद्यापीठ की विशेष आवश्यकता थी। जिस तरह बड़ के एक छोटे से बीज से ही एक भारी वृक्ष पैदा होता है, आशा है उसी तरह इस विद्यापीठ से ही एक विश्वविद्यालय की सृष्टि होगी जिसमें विश्व के विभिन्न प्रान्त-धर्मावलम्बियों को शीतलाश्रय मिल सकेगा।

—कालिदास मुकर्जी।

नवयुग की शिक्षा और साधना, प्रथम खण्ड—श्री सतीशचन्द्र राय, एम० ए०, आइ, ई० एस०, पृष्ठ ९८, मूल्य ।≶) श्रीहट्ट।

आजकल की शिक्षापद्धति में कई त्रुटियां हैं इसे विद्वान् स्वीकार करते हैं। एक त्रुटि यह है कि आजकल की शिक्षापद्धति में धर्माधार तो बिलकुल ही नहीं दीख पड़ता। शिक्षक भी अपने कार्यों को आदर्श-स्वरूप नहीं मानते, उनका नाता धनोपार्जन से ही रहता है। आलोच्य पुस्तक में शिक्षक के आदर्श, शिक्षा का उद्देश्य, चरित्रगठन आदि पर अच्छी आलोचना की गई है। प्रश्नोत्तर अध्याय उपदेशमूलक है। भाषा भी हृदयग्राही है। हर एक शिक्षक को यह पुस्तक पढ़ना चाहिये।

—विरजाकान्त घोष।

केनोपनिषत्—महन्त श्री १०८ स्वामी धनञ्जयदास महाराज, पृष्ठ २+२९, मूल्य ≶) कलकत्ता।

मूल, अन्वय, बङ्गानुवाद और मन्तव्य सहित यह पुस्तक प्रकाशित हुई है। इसकी भाषा बिलकुल सरल बोलचाल की भाषा होने के सबब यह सर्वसाधारण के लिये बोधगम्य है। सावधानी से

पढ़ने पर यह मालूम होता है कि लेखक सफल हुए हैं। आशा की जाती है कि भविष्य में लेखक श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के बहुमूल्य संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद कर अपने सम्प्रदाय के लिये एक महत्त्वपूर्ण कार्य करेंगे।

—विरजाकान्त घोष।

पौराणिक वीरतत्त्व—आदि खण्ड, श्री मन्मथ नाथ भट्टाचार्य, काव्यतीर्थ, वेदरत्न, पुरातत्त्वभूषण, मूल्य प्रथम खण्ड ।=) पृष्ठ ७०।

यह 'कालिदास समिति' की एक अपूर्व पुस्तक है। उस समिति का कार्य महाकवि कालिदास की रचनाओं का संग्रह और उनका प्रकाशन है। कालिदास के ग्रन्थों की अच्छी समालोचनाएँ यहां से निकल रही हैं।

आलोच्य पुस्तक में पौराणिक तत्त्वों की आलोचना की गई है। आलोचना विद्वतापूर्वक है इसमें संदेह नहीं। इस पुस्तक के प्रकाशन से बहुत कुछ अभाव मिट सका है। आशा है विद्वान् इसको अपनावेंगे।

—तारापद भट्टाचार्य।

नई पुस्तकें

The Gṛhyasutras of Gobhila—By Banamali Vedantatirtha,
Metropolitan Ptg. House, Calcutta.

Women in Rigveda—By B. S. Upadhya—Benares City

English Translation of Sāmānya Vedanta Upanishads—
Adyar Library, Madras.

A Historical Review of Hindu India (300 B. C. to 1200 A. D.)
—By Panchanan Raya—Jaipur.

A brief History of the Chauhans of Ajmeer—
By Panchanan Raya—Jaipur.

Some India office letters of the reign of Tipu Sultan—
By Dr. H. C. Ray M. A., Ph. D., D. Litt.

Archæological Survey of Mysore—1938

Do Do Do —1939

महाभारत—पं० पी० एस० शास्त्री।

बिहार दर्पण—गदाधर प्रसाद अम्बष्ठ।

विनोद नाटिकलु (तेलुगु)—विश्वनाथ कविराजु।

भारत नो टन्कार (गुजराती)—अरदेशिर फ्रामजी खबरदार।

कल्यानिका (गुजराती)— „ „

हिन्दुस्थान तुं कुठे ?—भास्कर महादेव तंबे।

छेलेदेर रवीन्द्रनाथ (बंगला)—जामिनीकान्त सोम।

पुरानी-पत्रिकाएं

कालिदास मुकरजी द्वारा संकलित

The Indian Antiquary Vols. II and III 1873 74

On the authorship of the Ratnavali—G. Buhler Ph. D.

डा० फ्लीट (Dr. Fleet) और डा० एडवर्ड हाल (Edward Hall) ने वासवदत्ता की भूमिका में यह लिखा है कि वासवदत्ता के रचयिता काश्मीर के हर्षदेव नहीं बल्कि कन्नौज के श्रीहर्ष या हर्षवर्धन हैं। इस लेख में उस पर विस्तृत आलोचना की गई है।

Nagamangala Copper-plate Inscription—Lewis Rice

यह ताम्रपत्र नागमङ्गल-मन्दिर में मिला था। उसकी लिपि का एक पाठ इस लेख में दिया हुआ है।

Notes on the Saiva-Siddhanta—The Rev. C. Egbert Kennet Vepery, Madras.

तामिलों की एक धर्म-पद्धति शैवसिद्धान्त है। उसका आधार २८वां शैवग्रन्थ या आगम है। इस पद्धति के अनुसरण करने वालों को आगमपन्थी कहते हैं।

Allusions to Krishna in Patanjali's Mahabhashya—

Prof. R. G. Bhandarkar, Bombay.

इस लेख में डा० भण्डारकर ने पतञ्जलि के महाभाष्य में श्रीकृष्ण के विषय में जो कुछ लिखा हुआ है उस पर आलोचना की है।

An investigation into the Origin of the Festival of Krishnajanmastami—Translated from the German, Prof. A. Weber.

१७ जून सन् १८६७ में Berlin Akademie der Wissenschaften में प्रो० वेबर ने कृष्णजन्माष्टमी-विषयक एक लेख पढ़ा था। उपर्युक्त लेख उसी का अंशतः अनुवाद है। प्रो० वेबर के लेख में जन्माष्टमी उत्सव का मूल कारण, उत्सव की कार्यप्रणाली आदि पर विचार किया गया है। जन्माष्टमी उत्सव में श्रीकृष्ण का जो चित्र खिंचा हुआ है उसका भी वर्णन इस लेख में है।

सामयिक-साहित्य

विशाल सुधा—स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल (जीवन परिचय)—श्री श्यामसुन्दर दास ।

पुरुषार्थ —हमारी दान प्रणाली के दोष—श्री अगरचन्द नाहटा ।

„ —शास्त्रों की बातें—श्री बच्छराज सिंघी ।

मधुकर —टीकमगढ़ का स्त्री समाज—सौ० श्री ज्योत्स्ना गोस्वामी ।

भारती —एक संस्कृत समस्या—श्री प्रभाकर माचवे ।

कल्याण —देह-देही का विभाग—पूज्यपाद स्वामी जी श्री भोलेबाबा जी महाराज ।

„ —गीता के अनुसार कर्म का उच्चस्थान—श्री अक्षयकुमार बन्द्योपाध्याय ।

„ —श्री शबरी जी की भक्ति—श्री जयरामदास जी 'दीन' रामायणी ।

„ —भक्त और भगवान्—स्वामी श्री शुद्धानन्द जी भारती ।

„ —द्वैतवाद और अद्वैतवाद—श्री रामचन्द्र जी बी० ए० ।

„ —श्री गङ्गा जी का दुरुपयोग—श्री दयाशङ्कर जी दुबे एम० ए० ।

सामयिक संवाद

पूर्वभारत राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मेलन—इसमें "बंगाल में हिन्दी प्रचार कार्य को तीव्र गति से चलाने के लिये आवश्यक योजना बनाने के लिये नीचे लिखे व्यक्तियों की एक समिति बनायी गई" :—

श्री सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या (अध्यक्ष)।
प्रो॰ प्रियरञ्जन सेन (सदस्य)।
श्री काका साहब कालेलकर (सदस्य)।
श्री बसन्तलाल जी मुरारका (सदस्य)।
श्री अम्बिका प्रसाद जी वाजपेयी (सदस्य)।
श्री भँवरमल जी सिंघी (संयोजक)।

मैसूर में प्राथमिक शिक्षा विस्तार—प्राथमिक शिक्षा की उन्नति के लिये मैसूर में जिस सभा की स्थापना की गई थी उसके रिपोर्ट के अनुसार वहां की सरकार ने १ली जुलाई सन् १९४१ से उस देश की प्राथमिक शिक्षा के काम को अपने हाथों में ले लिया है।

रामकृष्ण मिशन विद्यामन्दिर—रामकृष्ण मिशन विद्यामन्दिर का काम ४थी जुलाई सन् १९४१ से शुरू हुआ। फ़िलहाल इस विद्यामन्दिर में इन्टरमीडियेट (आइ-ए॰) तक शिक्षा दी जावेगी। स्वामी विवेकानन्द ने जगत के कल्याणार्थ एक आदर्श शिक्षायतन बनाने की कल्पना की थी, वह कल्पना वास्तविक क्षेत्र में परिणत हुई।

आधानस्य तु चत्वार उक्ताः काला पृथक् पृथक्।
अन्त्या समिद्विवाहस्य विभागः परमेष्ठिनः ॥७६॥

सान्वय-शब्दार्थ—आचार्य ने (आधानस्य) अन्याधान के लिये (चत्वारः) चार (पृथक्+पृथक्) अलग अलग (कालाः) कालों का (उक्ताः) निरूपण किया है, वे इस प्रकार हैं—(अन्त्याः+समित्) अन्त्या समित् काल, (च) और (विवाह) विवाह काल (विभागः) विभाग काल, तथा (परमेष्ठिनः) परमेष्ठिन काल ॥७६॥

भावार्थ—अन्याधान करने के चार काल हैं (१) गुरुकुल में वेदाध्ययन समाप्त कर जो अन्याधान किया जाता है उसे 'अन्त्या' कहते हैं, विवाह समय जो अन्याधान किया जाता है उसे 'विवाह काल' कहते हैं। पति के मरने पर जो अन्याधान किया जाता है उसे परमेष्ठिन काल कहते हैं, तथा दाय विभाग काल में जो अन्याधान किया जाता है उसे विभाग काल कहते हैं ॥७६॥

परमेष्ठी विभक्तश्च जुहुयादक्षतान् सकृत्।
प्रातस्तूष्णीं घृतं वापि प्रातराहुत्युपक्रमः ॥७७॥

सान्वय-शब्दार्थः—(परमेष्ठी) परमेष्ठिन काल में अन्याधान करने वाला (च) और (विभक्तः) विभाग काल में अन्याधान करने वाला (अक्षतान्) यवों को (वा) अथवा (घृतम्+अपि) घृत को भी (सकृत्) एकही बार (तूष्णीम्) चुपचाप अर्थात् बिना मन्त्रोच्चारण किये हुये (प्रातः) प्रातः काल (जुहुयात्) अग्नि में निक्षेप करे, यह (प्रातः) प्रातः काल (आहुतिः) आहुति का (उपक्रमः) आरम्भ है ॥७७॥

भावार्थ—परमेष्ठी तथा विभक्त प्रातः काल बिना मन्त्रोच्चारण किये हुये यव वा घृत द्वारा एक ही बार हवन करे। परमेष्ठिन काल में अन्याधान करने वाले को परमेष्ठि तथा विभाग काल में अन्याधान करने वाले को विभक्त कहते हैं ॥७७॥

अब अरणि के स्वरूपादिकों का निरूपण करते हैं :—

आश्वत्थीन्तु शमीगर्भामरणिं कुर्वीत सोत्तराम्।
उरोदीर्घां रत्निदीर्घां चतुर्विंशाङ्गुलां तथा।
चतुरङ्गुलोच्छ्रितां कुर्य्यात् पृथुत्वेन षडङ्गुलाम् ॥७८॥

सान्वय-शब्दार्थ—(सौत्तराम्) उत्तर अरणि के साथ (आश्वत्थीम्) अश्वत्थ की लकड़ी की (तु) ही (शमी-गर्भाम्) शमी लकड़ी जो मूल से संसक्त हो उसके साथ (अरणिम) अरणि को बनावे, उसकी लम्बाई, (उरोः+दीर्घाम्) जंघा जितनी लम्बी, या (रत्नि+दीर्घाम्) एक हाथ लम्बी (तथा) अथवा (चतुर्विंशाङ्गुलाम्) चौबीस अंगुल की हो। (चतुराङ्गुल+उच्छ्रिताम्) और वह अरणि चार अङ्गुल ऊंची हो तथा (पृथुत्वेन) चौड़ाई में (षडङ्गुलाम्) छः अङ्गुली की (कुर्यात्) करे ॥७८॥

भावार्थ—अरणि शमी वृक्ष की लकड़ी की होती है। यज्ञों में दो अरणियों को रगड़ कर अग्नि प्रकट की जाती है, एक अरणि अश्वत्थ वृक्ष की तथा दूसरी अरणि जिसे उत्तर अरणि कहते हैं शमी वृक्ष की होनी चाहिये। अरणियों की लम्बाई २४ अङ्गुल, उंचाई ४ अङ्गुल तथा चौड़ाई ६ अङ्गुल की होनी चाहिये ॥७८॥

अब मन्थन मन्त्र अर्थात् प्रमन्थ, चात्र, ओविली आदिकों का परिमाण निरूपण करते हैं :—

अष्टाङ्गुलः प्रमन्थः स्याच्चात्रं स्यात् द्वादशाङ्गुलम् ।
ओविली द्वादशैव स्यादेतन्मन्थन यन्त्रकम् ॥७९॥

सान्वय-शब्दार्थ—(अष्ट+अंगुल) आठ अंगुल का (प्रमन्थः) प्रमन्थ (स्यात्) होना चाहिये। (चात्रम्) चात्र (द्वादश+अंगुलम्) बारह अंगुल का होना चाहिये और (ओविली) ओविली भी (द्वादश+एव) बारह अंगुल की ही (स्यात्) होनी चाहिये (एतत्) यही (मन्थन) मन्थन नामक (यन्त्रकम्) मन्त्र है ॥७९॥

मूलादष्टाङ्गुलमुत्सृज्य त्रीणि त्रीणि च पार्श्वयोः ।
देवयोनिः स विज्ञेयस्तत्र मथ्यो हुताशनः ॥८०॥

सान्वय-शब्दार्थ :—(मूलात्) अरणि के मूल से (अष्ट+अंगुलम्) आठ अंगुल (उत्+सृज्य) छोड़ करके (च) और (पार्श्वयो) दोनों ओर से (त्रीणि+त्रीणि) तीन तीन अंगुल छोड़ कर जो स्थल निर्दिष्ट हो (स) उसे (देव+योनिः) (देवयोनि) देवयोनि स्थल (विज्ञेयः) जानना चाहिये (तत्र) वहीं पर (हुताशनः) अग्नि का (मथ्यः) मथन करना चाहिये ॥८०॥

भावार्थ—अरणि के मूल से आठ अंगुल की दूरी पर तथा दोनों किनारों से तीन तीन अंगुल की दूरी पर जो स्थल है उसका नाम देवयोनि है। इसी देवयोनि स्थल पर अग्नि मथन करके निकालना चाहिये ॥८०॥

मूलादष्टाङ्गुलं त्यक्त्वा अग्रात्तु द्वादशाङ्गुलम् ।
देवयोनिः स विज्ञेयस्तत्र मथ्यो हुताशनः ॥८१॥

सान्वय-शब्दार्थ—अथवा (मूलात्) अरणि के मूल से (अष्ट) आठ (अंगुलम्) अंगुल (तु) और (अग्रात्) आगे से (द्वादश+अंगुलम्) बारह अंगुल (त्यक्त्वा) छोड़ करके जो दोनों ओर का सन्धि स्थल हो (सः) उसे (देवयोनिः) देवयोनि (विज्ञेयः) जानना चाहिये (तत्र) वहीं पर (हुताशनः) अग्नि का (मथ्यः) मथन करना चाहिये ॥८१॥

भावार्थ—देवयोनि पर दूसरा मत यह भी है कि अरणि के मूल से आठ अंगुल तथा अग्नि से बारह अंगुल की दूरी पर जो सन्धि स्थल है वही देवयोनि है वहीं पर अग्नि मथन कर निकालना चाहिये ॥८१॥

खादिरोऽरत्निदीर्घः स्यात् स्रुवोऽङ्गुष्ठपर्ववृत्तः ।
पार्णीं स्रुचं बाहुमात्रीं पाणितलाकार पुष्कराम् ॥८२॥

सान्वय-शब्दार्थ—(अंगुष्ठ+पर्व+वृत्तः) अंगूठे के जोड़ बराबर आगे वृत्ताकार बिल युक्त (स्रुवः) स्रुवा (खादिरः) खदिर की लकड़ी की बनी हुई (अरत्नि+दीर्घः) दो बित्ते लम्बी (स्यात्) हो और (पार्णीम्) पलाश की लकड़ी का बना हुआ (बाहुमात्रीम्) बाहु जितने परिमाण में लम्बा (स्रुचम्) स्रुच हो जिसके अग्रभाग में (पाणि+तल+आकार+प्रस्फलाम्) हाथ के तल के आकार के सदृश् विस्तार हो ॥८२॥

भावार्थ—स्रुवा खदिर की लकड़ी दो बित्ते लम्बी होनी चाहिये और उसके अग्रभाग में अंगुठे के जड़ बराबर गोल गर्त्त हो, और स्रुच पलाश की लकड़ी का हो उसकी लम्बाई बाहु जितनी हो तथा उसके अग्रभाग में हाथ के तल के आकार-सदृश् फैलाव होना चाहिये ॥८२॥

सत्विलां सग्रे कुर्वीत मेक्षणं स्रुक्स्रुवादिवत् ।
अङ्गुष्ठैवोपवेषश्च द्वादशाङ्गुल इष्यते ॥८३॥

सान्वय-शब्दार्थ—(मेक्षणम्) मेक्षण नामक पात्र भी (स्रुक्+स्रुवादि+वत्) स्रुच तथा स्रुवादि ही के सदृश् होता है, (तु) और इसके (अग्रे) अगले भाग में (त्वक्+बिलाम्) लकड़ी का छिलका छील दिया (कुर्व्वीत) जाना चाहिये । अर्थात् छिलके में सुराख कर दिया जावे । इससे रेखा

हिन्दी-सभा

सभापति—श्रीयुत घनश्यामदास जी बिड़ला ।

सह० सभापति—(२) श्रीयुत बंशीधर जालान ।

(३) „ भागीरथ कानोड़िया ।

अन्यान्य सदस्य

(४) काका कालेलकर ।
(५) डा० डी० आर० भंडारकर ।
(६) महामहोपाध्याय सकलनारायण शर्मा ।
(७) डा० सुनीति कुमार चटर्जी ।
(८) श्रीयुत बहादुर सिंह सिंघी
(९) श्रीयुत मूलचन्द अगरवाल ।
(१०) डा० बेनीमाधव बड़ुआ ।
(११) श्रीयुत शिवप्रसाद गुप्त ।
(१२) पं० अम्बिका प्रसाद बाजपेयी ।
(१३) श्रीयुत देवीप्रसाद खेतान ।
(१४) „ लक्ष्मीनिवास बिड़ला ।
(१५) „ पारस नाथ सिंह
(१६) „ पद्मराज जैन ।
(१७) „ बाबूलाल राजगड़िया ।
(१८) डाः बटकृष्ण घोष
(१९) पं० श्री रामसुरति मिश्र ।
(२०) श्रीयुत सतीश चन्द्र शील । (परिचालक)
(२१) „ कालिदास मुकरजी (सह-सम्पादक)
(२२) कुमारी पद्मा मिश्रा (सह-सम्पादिका)

प्राचीन भारत का उद्देश्य

हिन्दी में मासिक एवं त्रैमासिक कई पत्रिकायें हैं लेकिन भारतीय संस्कृति एवं शास्त्र सम्बन्धीय कोई पत्रिका नहीं दिखलाई पड़ती । प्राचीन भारत की ज्ञान-गरिमा को हम क्रमशः भूलते ही जा रहे हैं कि इसी भारतवर्ष ने चीन, जापान के अतिरिक्त सुदूर अमेरिका में भी हिन्दुत्व का प्रभाव कैसे डाला था ? कैसे यूनानियों ने यहां से चिकित्सा पद्धति सीखी ? सम्राट सिकन्दर तो यहां की शिक्षा, एवं संस्कृति को देखकर दंग हो गया था । इस पत्रिका का उद्देश्य उस प्राचीन संस्कृति आदि पर प्रकाश डालना ही है । इस पत्रिका में नीचे लिखे विषयों पर लेख रहेंगे :—

(१) वैदिक शास्त्र (२) दर्शन-शास्त्र (३) धर्म-शास्त्र (४) बौद्ध तथा जैन शास्त्र (५) आयुर्वेद-शास्त्र (६) शिल्प एवं कला (७) प्राचीन विज्ञान-शास्त्र (गणित, ज्योतिष, रसायन, पदार्थ-विद्या आदि) (८) हिन्दी-साहित्य (९) समाज तथा नीति-शास्त्र (१०) प्राचीन तथा आधुनिक भारतवर्ष और दूसरे देशों की शिक्षापद्धति तथा उनका प्रचार कार्य (११) पुस्तक समालोचना तथा अन्यान्य विषयों में प्रकाशित लेखों पर मन्तव्य (१२) सम्पादकीय मन्तव्य । इसके अतिरिक्त अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियों का प्रकाशन एवं प्रकाशित दुष्प्राप्य पुस्तकों की समालोचना। संस्कृत, पाली एवं प्राकृत अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियों का हिन्दी अनुवाद।

हिन्दी-सभा

सभापति—श्रीयुत [illegible] ।

सह० सभापति—(१) श्रीयुत बंशीधर जालान ।

(२) „ भागीरथ कानोड़िया ।

अन्यान्य सदस्य

(४) काका कालेलकर ।

(५) डा० डी० आर० भंडारकर ।

(६) महामहोपाध्याय सकलनारायण शर्मा ।

(७) डा० सुनीति कुमार चटर्जी ।

(८) श्रीयुत बहादुर सिंह सिंघी

(९) श्रीयुत मूलचन्द अगरवाल ।

(१०) डा० वेनीमाधव बड़ुआ ।

(११) श्रीयुत शिवप्रसाद गुप्त ।

(१२) पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ।

(१३) श्रीयुत देवीप्रसाद खेतान ।

(१४) „ लक्ष्मीनिवास बिड़ला ।

(१५) „ पारस नाथ सिंह

(१६) „ पदमराज जैन ।

(१७) „ बाबूलाल राजगढ़िया ।

(१८) डा० बटकृष्ण घोष

(१९) पं० श्री रामसुरति मिश्र ।

(२०) श्रीयुत सतीश चन्द्र शील । (परिचालक)

(२१) „ कालिदास मुकरजी (सह-सम्पादक)

(२२) कुमारी पद्मा मिश्रा (सह-सम्पादिका)

प्राचीन भारत का उद्देश्य

हिन्दी में मासिक एवं त्रैमासिक कई पत्रिकायें हैं लेकिन भारतीय संस्कृति एवं कला सम्बन्धीय कोई पत्रिका नहीं दिखलाई पड़ती। प्राचीन भारत की ज्ञान-गरिमा को हम क्रमशः भूलते ही जा रहे हैं कि इसी भारतवर्ष ने चीन, जापान के अतिरिक्त सुदूर अमेरिका में भी हिन्दुत्व का प्रभाव कैसे डाला था! कैसे यूनानियों ने यहां से चिकित्सा पद्धति सीखी! सम्राट सिकन्दर तो यहां की शिक्षा, एवं संस्कृति को देखकर दंग हो गया था। इस पत्रिका का उद्देश्य उस प्राचीन संस्कृति आदि पर प्रकाश डालना ही है। इस पत्रिका में नीचे लिखे विषयों पर लेख रहेंगे :—

(१) वैदिक शास्त्र (२) दर्शन-शास्त्र (३) धर्म-शास्त्र (४) बौद्ध तथा जैन शास्त्र (५) आयुर्वेद-शास्त्र (६) शिल्प एवं कला (७) प्राचीन विज्ञान-शास्त्र (गणित, ज्योतिष, रसायन, पदार्थ-विद्या आदि) (८) हिन्दी-साहित्य (९) समाज तथा नीति-शास्त्र (१०) प्राचीन तथा आधुनिक भारतवर्ष और दूसरे देशों की शिक्षापद्धति तथा उनका प्रचार कार्य (११) पुस्तक समालोचना तथा अन्यान्य विषयों में प्रकाशित लेखों पर मन्तव्य (१२) सम्पादकीय मन्तव्य। इसके अतिरिक्त अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियों का प्रकाशन एवं प्रकाशित दुष्प्राप्य पुस्तकों की समालोचना। संस्कृत, पाली एवं प्राकृत अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियों का हिन्दी अनुवाद।

प्रथम वर्ष

सातवीं संख्या

प्राचीन भारत

[भारतीय शास्त्र एवं संस्कृति सम्बन्धीय मुख्य मासिक पत्रिका]

श्रावण

संवत् १९९८

सम्पादक—महामहोपाध्याय सकलनारायण शर्मा

सह० सम्पादक—श्री कालिदास मुकरजी, एम. ए., एम. आर. ए. एस.

सह० सम्पादिका—कुमारी पद्मा मिश्रा, एम. ए.

प्रोप्राइटर—श्री सतीश चन्द्र शील, एम. ए., बी. एल.

दि इन्डियन रिसर्च इन्स्टिट्यूट

१७०, मानिकतला स्ट्रीट, कलकत्ता।

नियमावली

(१) माघ माह से प्राचीन भारत का वर्ष आरम्भ होता है। हर माह के पहले हफ्ते में यह पत्रिका प्रकाशित होती है। हर संख्या में लगभग ७२ पृष्ठ रहते हैं।

(२) इस पत्रिका का वार्षिक मूल्य ४) तथा छमाही मूल्य २।) रुपये (डाक सहित) है। प्रति संख्या की कीमत ।≠), डाक अलग।

(३) वार्षिक या छमाही मूल्य पहले देना पड़ता है।

(४) किसी विशेष-संख्या के प्रकाशित होनेपर वार्षिक-ग्राहकों को उसकी कीमत नहीं देनी पड़ती है।

(५) वर्ष-समाप्ति के एक माह पूर्व वसूली के लिये पत्र दिया जाता है नहीं तो वर्ष-समाप्ति के बाद पहली संख्या वी० पी० द्वारा भेजी जाती है। जो महोदय पत्रिका बन्द करना चाहते हैं उन्हें पहले ही सूचित करना आवश्यक है।

(६) ग्राहक का पता यदि बदल जाय तो जितनी जल्दी हो सके सूचित करना चाहिये।

(७) ठीक समय में यदि पत्रिका न मिले तो ग्राहक १५ दिन के भीतर सह० सम्पादक को सूचित करें।

(८) लेखक कृपया पृष्ठ की एक ओर अपना लेख भेजें। प्रूफ केवल एक ही बार लेखक के पास भेजा जा सकता है।

(९) जो महाशय १००) देने की कृपा करेंगे वे इस संस्था के आजीवन—सदस्य बनेंगे। उन्हें पत्रिका एवं इस संस्था से प्रकाशित हिंदी पुस्तकें मुफ्त में दी जायेंगी।

Printed and Published by Mr. Gour Chandra Sen, B.Com. from the Indian Research Institute, 170, Maniktala Street, Calcutta, at the Sree Bharatee Press of the same address.

सूचीपत्र

विविध-विषय

प्राचीन भारत

(भारतीय शास्त्र एवं संस्कृति सम्बन्धीय मुख्य मासिक पत्रिका

प्रथम वर्ष } श्रावण (संवत् १९९८) { सातवीं संख्या

अश्वघोष और उसकी कृतियां

श्री सूर्यनारायण चौधरी, एम० ए०

संस्कृत के अधिकांश कवियों की जीवनी के बारे में हम बहुत कम जानते हैं। उन्हीं में से अश्वघोष भी एक हैं। इस कवि का समय निरूपण करने में निम्न-लिखित बातें विचारणीय हैं :—

१। बुद्धचरित का चीनी अनुवाद पांचवीं सदी के आरम्भ में हुआ था ; अतः इसके पहले अश्वघोष ने बुद्धचरित लिखा होगा।

२। अश्वघोष और कालिदास की शैली से प्रमाणित होता है कि अश्वघोष कालिदास से शताब्दियों पूर्व हुआ था। साधारणतः कालिदास गुप्त-काल का बताया जाता है।

३। चीनी परम्परागत कथाओं के अनुसार अश्वघोष कनिष्क का समकालीन और अभिधर्म की व्याख्या 'विभाषा' का लेखक बताया जाता है। कनिष्क के राज्य-काल में विभाषा की रचना हुई थी, ऐसा कहा जाता है।

४। अश्वघोष-कृत शारिपुत्रप्रकरण की पाण्डुलिपि के हस्त-लेख या लिपि को देखने से पता चलता है कि यह कनिष्क या हुविष्क के समय की है—प्रो० ल्युडर्स (Luders)।

५। "व्यवसाय द्वितीयोऽथ........सोऽश्वत्थमूल प्रययौ"—बु० च० १२, ११५। नामसङ्गीति की व्याख्या में मातृचेट् का यह वाक्य सुरक्षित है—व्यवसाय-द्वितीयेन प्राप्तं पदमनुत्तरम्।" मातृचेट् द्वारा किया गया 'व्यवसाय द्वितीय' पद का प्रयोग अच्छा नहीं है, क्योंकि उत्तम पद (=बुद्धत्व)

प्राप्त करने में साथी की जरूरत नहीं है। सम्भवतः मातृचेट् ने अश्वघोष का अनुकरण किया है। मातृचेट्-कृत 'शतपञ्चाशतिक' की शैली को देखते हुए भी यह कहा जाता है कि वह अश्वघोष की शैली से पीछे की है। मातृचेट् ने कनिष्क को एक पत्र लिखा था। अतः मातृचेट् कनिष्क का समकालीन था और अश्वघोष कनिष्क से पहले हुआ था—डा० जौन्सटन।

उपर्युक्त बातों पर विचार कर हम कह सकते हैं कि अश्वघोष कनिष्क का समकालीन था या उससे कुछ ही पूर्व हुआ था। कठिनाई तो यह है कि कनिष्क का समय भी निश्चित नहीं। बहुत से लोग उसका समय प्रथम शताब्दी का अन्तिम चरण बताते हैं और द्वितीय शताब्दी के दूसरे चरण के बाद उसका समय कोई नहीं बताता। डा० जौन्सटन का कहना है कि ५० ई० पू० और १०० ई० के बीच उस कवि का प्रादुर्भाव हुआ था। आज १९४१ ई० में हम कह सकते हैं कि अश्वघोष आज से प्रायः दो सहस्र वर्ष पूर्व हुआ था।

अश्वघोष सुवर्णाक्षी का पुत्र और साकेत-निवासी था*। उसका जन्म ब्राह्मण-कुल में हुआ था और ब्राह्मण-धर्म की ही शिक्षा-दीक्षा उसे मिली थी। उसके ग्रन्थों को पढ़कर हम कह सकते हैं कि उसने हिन्दू धर्म-ग्रन्थों और शास्त्रों का अवश्य अध्ययन किया होगा। बौद्ध-धर्म के गुणों से आकृष्ट होकर वह बौद्ध हो गया। स्वयं बौद्ध होकर वह संतुष्ट नहीं हुआ बल्कि वह उसका उपदेशक और प्रचारक भी हुआ। इस काम के लिए उसने काव्य और सङ्गीत का सहारा लिया था। उसके ग्रन्थ बौद्ध-धर्म के सुन्दर उपदेशों से भरे हैं और उनमें से कई का मुख्य विषय तो धर्म-परिवर्त्तन ही है। कहा जाता है कि गायकों और गायिकाओं की टोली बनाकर बाजे के साथ जीवन की अनित्यता के मनोहर गीत गा गा कर वह लोगों को अपने धर्म को ओर आकृष्ट किया करता था। चीनी तीर्थ-यात्री इत्सिङ्ग, जिसने ६७१ ई० से ६९५ ई० तक भारत-भ्रमण किया था, बतलाता है कि वह बौद्ध धर्म का प्रबल समर्थक था और उस समय के बौद्ध मठों में उसकी रचनाओं का गान हुआ करता था। नागार्जुन, अश्वघोष और देव को एक श्रेणी में रखते हुए उसने यह भी कहा है कि ऐसे पुरुष प्रत्येक पीढ़ी में एक या दो ही होते हैं। हुएनसाङ्ग के अनुसार अश्वघोष, देव, नागार्जुन और कुमारलब्ध (=कुमारलात) चार सूर्य हैं, जिन्होंने विश्व को प्रकाशित किया था।

बौद्ध भिक्षु होने के सिवा वह वाल्मीकि और कालिदास की कोटि का महाकवि था। काव्य-विकाश के क्रम में वह वाल्मीकि के बाद और कालिदास के पहले आता है। काव्य में जिस तरह वह वाल्मीकि का ऋणी और उत्तराधिकारी था वैसे ही कालिदास भी उसका ऋणी था। बौद्ध कवि

---

१ "आर्य सुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्यस्य भदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्महावादिनः कृतिरियम्" —कवि-कृत सौन्दरनन्द का अन्तिम वाक्य।

होने के ही कारण वह भारत में सदियों तक अज्ञात-सा रहा। गत कई दशकों में ही उसकी अधिकांश कृतियां खोज निकाली गई हैं, जिनमें से बहुत-सी, हमारे दुर्भाग्य-वश, खण्डित ही मिलीं।

सूत्रालङ्कार :—

इसका मूल संस्कृत आज उपलब्ध नहीं है। ४०५ ई० में कुमारजीव ने इसका चीनी भाषा में अनुवाद किया था। यह ग्रन्थ तत्कालीन पाली-जातकों से ली गई सुन्दर कथाओं का संग्रह है और बौद्ध धर्म के प्रचार का साधन है। इत्सिंग ने भी सातवीं सदी के उत्तरार्ध में लिखे गये अपने यात्रा-विवरण में अश्वघोष-प्रणीत सूत्रालङ्कार का उल्लेख किया है। आगे चल कर न मालूम कब मूल-ग्रन्थ का लोप हो गया। हुबर ने इसके चीनी भाषान्तर का फारसी अनुवाद (पेरिस १९०८) किया है।

मध्य एशिया में ल्युडर्स-द्वारा प्राप्त कुमारलात की खण्डित कल्पनामण्डितिका दृष्टान्तपंक्ति १९२६ ई० में प्रकाशित हुई। तब से उस पुस्तक और सूत्रालङ्कार के प्रणेतृत्व और तादात्म्य के बारे में भिन्न भिन्न मत प्रतिपादित हुए हैं। मतान्तरों का प्रधान कारण है इन दोनों ग्रन्थों की कथाओं का एक-सा होना। यहां इन सभी मतान्तरों का उल्लेख और विवेचन न कर मैं केवल निम्न-लिखित मत उद्धृत करता हूँ—"कुमारलात की कल्पनामण्डितिका दृष्टान्तपंक्ति और सूत्रालङ्कार एक नहीं हैं। पहली दूसरे का अनुकरण है, जो सौत्रान्तिकों के उपयोग के लिए किया गया था। कुमारजीव-द्वारा अनूदित सूत्रालङ्कार का प्रणेता अश्वघोष है और क० द० का प्रणेता कुमारलात है।"

महायानश्रद्धोत्पाद :—

महायान सम्प्रदाय का एक दार्शनिक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ केवल दो चीनी संस्करणों में उपलब्ध है; इस ग्रन्थ का प्रणेतृत्व विवादास्पद है। हुएनसाङ्ग की जीवनी में इसका प्रणेता प्रसिद्ध अश्वघोष बताया गया है। किसी का कहना है कि कवि अश्वघोष दार्शनिक अश्वघोष से भिन्न है या वह किसी तीसरे का ही बनाया हुआ है और अश्वघोष की प्रसिद्धि के ही कारण उस पर इसका प्रणेतृत्व आरोपित किया गया है। कुछ जापानी विद्वानों के अनुसार यह संस्कृत-ग्रन्थ नहीं, वरन् चीनी ग्रन्थ है। जापान के स्कूलों और मठों में इसका खूब प्रचार है।

वज्र-सूची :—

यह पुस्तक वज्र की सुई की तरह वर्ण-व्यवस्था के समर्थकों को चुभती है। इसमें श्रुति स्मृति और महाभारत के उद्धरणों से ही वर्ण-व्यवस्था की कठोर आलोचना की गई है। "दुःख-सुख, जीवन-प्रज्ञा, व्यवसाय-व्यापार, जन्म-मरण, भय-काम में सब श्रेणी के लोग बराबर हैं।" इस तरह इस पुस्तक में सभी मानव-श्रेणियों की जो समानता प्रतिपादित की गई है, इससे इस पुस्तक के यूरोपीय अनुवादक और सम्पादक मुग्ध हैं। इसके चीनी अनुवादक के अनुसार मूल-ग्रन्थ का लेखक धर्मकीर्त्ति है। भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने इसका हिन्दी-अनुवाद किया था।

गण्डीस्तोत्र गाथा :—

यह एक सुन्दर गेय कविता है ; बुद्ध और सङ्घ की स्तुति है। इसमें केवल २९ पद्य हैं। अधिकांश स्रग्धरा छन्द में हैं। एक यूरोपीय विद्वान् ने इसकी चीनी प्रतिलिपि के आधार पर फिर से इसे मूल संस्कृत में लिखा है।

राष्ट्रपाल :—

स्वर्गीय सिल्वाँ लेवी के अनुसार अश्वघोष शायद एक गेय नाटक का भी लेखक है। इसमें राष्ट्रपाल की कथा कही गई है।

शारिपुत्र प्रकरण आदि तीन नाटक :—

अत्यन्त प्राचीन समय में ताल-पत्र पर लिखित तीन नाटकों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। एक के अन्तिम वाक्य से इसका नाम, प्रणेता का नाम और अङ्क-संख्या स्पष्ट है। ग्रन्थ का नाम शारिपुत्रप्रकरण या शारद्वतीपुत्रप्रकरण है, प्रणेता है सुवर्णाक्षी का पुत्र अश्वघोष और अङ्कों की संख्या नौ है। शा० प्र० में उन घटनाओं का वर्णन है, जिनके परिणामस्वरूप मौद्गल्यायन और शारिपुत्र बुद्ध द्वारा बौद्ध बनाये जाते हैं। अश्वजित् से मिलने के बाद शारिपुत्र अपने मित्र विदूषक से बुद्ध के उपदेशक होने के अधिकार के बारे में बहस करता है। विदूषक कहता है कि शारिपुत्र सरीखे ब्राह्मण को क्षत्रिय का उपदेश ग्रहण नहीं करना चाहिये। किन्तु जिस तरह जल से ताप शान्त होता है उसी तरह नीच जाति के भी वैद्य द्वारा दी गई दवा बीमारी के लिए हितकर ही होती है, यह कह कर शारिपुत्र अपने मित्र की बात काट देता है। मौद्गल्यायन शारिपुत्र से मिलता है और उससे उसकी प्रसन्नता का कारण जानता है। दोनों बुद्ध के पास जाते हैं। वह उनका सत्कार करता है और उनसे भावी ज्ञान-आदि के बारे में भविष्यद्वाणी करता है। प्रकरण के अन्त में शारिपुत्र और बुद्ध में दार्शनिक वार्तालाप होता है। दोनों शिष्यों की प्रशंसा कर बुद्ध भरत-वाक्य उच्चारण करता है।

रूपक अर्थात् ड्रामा के दस भेद हैं, उनमें से एक प्रकरण है। शारिपुत्रप्रकरण अधिकांश बातों में नाट्य-शास्त्र के और कुछों में व्यवहार के अनुकूल है। इस प्रकरण में नौ अङ्क हैं ; नायक धीर और प्रशान्त विप्र है ; नायिका कुलजा स्त्री या वेश्या है, पता नहीं ; कवि-कल्पना-द्वारा सच्ची घटना में परिवर्त्तन किया गया है ;—ये बातें शास्त्र-सम्मत हैं। अङ्कों के नाम नहीं हैं, भरत-वाक्य के पहले 'अतः परमपि प्रियमस्ति' नहीं है और नायक के मुख से भरत-वाक्य का उच्चारण नहीं हुआ—ये बातें व्यवहार-सम्मत हैं। सर्वज्ञ बुद्ध के रहते हुए किसी और के मुख से भरत-वाक्य का उच्चारण उचित भी नहीं होता। अन्तिम अङ्क से विदूषक का निकल जाना प्रकरण-कार की सुरुचि का परिचायक है, क्योंकि बुद्ध के उपदेश ग्रहण कर लेने के बाद शारिपुत्र को विदूषक-जैसे मनोरञ्जक पात्र की जरूरत

नहीं रह जाती। दोनों नायक, बुद्ध और उसके शिष्य संस्कृत गद्य-पद्य में बोलते हैं। इन शिष्यों में कौण्डिन्य और एक श्रमणक भी हैं। विदूषक प्राकृत में बोलता है।

जिस ग्रन्थ में शारिपुत्रप्रकरण है उसी में दो और रूपकों के अवशेष हैं। अन्दाज किया जाता है कि इनका भी प्रणेता अश्वघोष ही होगा। इसके लिये कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। दूसरे रूपक के अवशेष और अश्वघोष की अन्य कृतियों में सादृश्य पाया जाता है। यह सादृश्य केवल शैली ही में नहीं, प्रत्युत उपमा तक में पाया जाता है:—

"रवे वर्षत्यम्बुधारं ज्वलति च युगपत् संध्याम्बुद इव"—रूपक।

युगपज्ज्वलन् ज्वलनवच्च जलमवसृजंश्च मेघवत्।

तप्तकनकसदृशप्रभया स बभौ प्रदीप्त इव सन्ध्यया घनः॥

—सौन्दरनन्द, ३,२४॥

यह नाटक एक खास तरह का है। बुद्धि कीर्त्ति और धृति इसके पात्रों में से हैं। ये रंगमंच पर आकर बातचीत करती हैं और पीछे बुद्ध भी पधारता है। सभी पात्र संस्कृत में ही बोलते हैं। बुद्धि कीर्त्ति से कहती है—'नित्य स गुप्त इव यस्य न बुद्धिरस्ति"। इस नाटक का अवशेष अति अल्प है, अतः इसके बारे में अधिक नहीं कहा जा सकता। ऐसा नाटक दशवीं शताब्दी तक और कोई दूसरा नहीं मिलता। ग्यारहवीं शताब्दी में कृष्णमिश्र ने इस तरह का प्रबोधचन्द्रोदय नामक एक नाटक लिखा था। बाद में ऐसे बहुत से नाटक लिखे गये।

दूसरे नाटक की तरह तीसरे के नाम का भी पता नहीं है। इसके पात्रों में मगधवती नाम की एक वेश्या, कौमुदगन्ध नामक एक विदूषक, शायद सोमदत्त नामक नायक, एक दुष्ट, धनंजय नामक शायद एक राजकुमार, एक दासी, शारिपुत्र और मौद्गल्यायन हैं। वेश्या, दासी और दुष्ट प्राकृत में बोलते हैं और शेष संस्कृत में। एक जीर्ण उद्यान और वेश्या का घर नाटक के स्थान हैं, और पात्र-गण प्रवहण (=गाड़ी) में चढ़ते हुए बताये जाते हैं—इन बातों में यह नाटक मृच्छकटिक से मिलता-जुलता है। दूसरे नाटक की भांति इसका भी अवशेष बहुत कम है, इसलिए इसके बारे में भी अधिक नहीं कहा जा सकता; किन्तु यह नाटक भी बौद्ध धर्म विषयक है, इसमें सन्देह नहीं।

बुद्धचरित:—

यह एक महाकाव्य है, जिसमें बुद्ध के सिद्धान्त और जीवन-वृत्तान्त दिये गये हैं। संस्कृत-ग्रन्थ में केवल १७ सर्ग हैं जिनमें अन्तिम चार १९वीं शताब्दी के आरम्भ में अमृतानन्द-द्वारा जोड़े गये हैं। पूरा ग्रन्थ नहीं मिलने के कारण ही उसने ऐसा किया, यह वह स्वयं स्वीकार करता है। धर्मरक्ष धर्मक्षेम या धर्माक्षर नामक एक भारतीय विद्वान ने (४१४-२१ ई०) इस काव्य का चीनी अनुवाद किया था, जिसमें २८ सर्ग हैं और कथा बुद्ध के निर्वाण तक चली गई है। इत्सिंग के बयान से भी पता चलता

है कि उसे इस काव्य का यह बड़ा आकार मालूम था। सातवें या आठवीं शताब्दी में किये गये तिब्बती अनुवाद में भी २८ सर्ग हैं। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री-द्वारा प्राप्त ग्रन्थ भी चौदहवें सर्ग के मध्य तक ही जाता है। निस्सन्देह संस्कृत-बुद्धचरित अधूरा है। कहा जाता है कि तिब्बती-अनुवाद इतना अविकल है कि उसके आधार पर संस्कृत में बुद्धचरित के अप्राप्त अंशों का उद्धार हो सकता है।

बुद्धचरित की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करता हुआ इत्सिंग कहता है—"भारत के पांचों प्रान्तों और दक्षिण सागर के देशों (=द्वीपों) में सर्वत्र इसका गान होता है। कवि ने कुछ ही शब्दों में अनेक अर्थ और भाव भर दिये हैं, जिससे पाठक का हृदय इतना आनन्दित हो जाता है कि वह इस काव्य को पढ़ने से थकता ही नहीं।" निस्सन्देह यह एक कलाकार की कृति है। विषय का प्रतिपादन सुन्दर और सुव्यवस्थित ढङ्ग से हुआ है। दृश्यवर्णन सजीव और प्रभावोत्पादक हैं। पाणिनि के व्याकरण से कहीं कहीं फर्क पड़ता है। कविता अनावश्यक अलङ्कारों से लदी नहीं है। चमत्कारपूर्ण या आश्चर्यजनक घटनाओं के वर्णन में कवि नियन्त्रित जान पड़ता है।

प्रणय-दृश्य का चित्रण महाकाव्य का एक आवश्यक अङ्ग माना जाता है। राजकुमार को लुभाने की कोशिश करने वाली सुन्दरियों के निष्फल प्रयत्न दिखा कर ही कवि इस आवश्यकता की पूर्ति करता। महल से निकलते राजकुमार को देखने के लिए इकट्ठी हुई स्त्रियों का सजीव चित्रण और महाभिनिष्क्रमण के समय सुप्त सुन्दरियों का दृश्य कवि के कामशास्त्र-विषयक ज्ञान का परिचायक है। चौथे सर्ग में कुल-पुरोहित ने राजकुमार को नीतिशास्त्र का जो उपदेश दिया है उससे कवि के तत्सम्बन्धी ज्ञान का पता लगता है। युद्ध-वर्णन भी महाकाव्य का एक जरूरी अंग है। कवि ने मार और बुद्ध का युद्ध दिखा कर काव्य-कौशल का परिचय दिया है।

अन्तिम पद्य में ग्रन्थ का प्रयोजन बताते हुए कवि ने कहा है कि काव्य-कौशल या पाण्डित्य बताने के लिए नहीं किन्तु जगत् के सुख और उपकार के लिए यह ग्रन्थ रचा गया है। निस्सन्देह इस ग्रन्थ में धन के पीछे उन्मत्त जगत् के लिए औषधि है, विषय-सेवन के चिन्तन से आकुल लोगों के लिए सदुपदेश है—और तृष्णा से दग्ध संसार के लिए संतोष-जल का झरना है।

ऐसे उत्तम ग्रन्थ का एक भी हिन्दी-अनुवाद नहीं है। पता नहीं बङ्गला और मराठी-जैसे सम्पन्न आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी इसका कोई अनुवाद है या नहीं। इङ्गलिश-जर्मन-आदि यूरोपीय भाषाओं में इसके अनेकों सुन्दर अनुवाद वर्तमान हैं। अक्तूबर १९४० से मैं इसका हिन्दी-अनुवाद कर रहा हूँ। प्रथम चौदह सर्गों का अनुवाद शीघ्र ही पूरा होगा किन्तु यह बुद्ध की अपूर्ण जीवनी ही होगी। इसमें तो बुद्धत्व प्राप्ति तक की ही बातें रहेंगी। बुद्धचरित के अविकल तिब्बती-अनुवाद के उत्तरार्ध का हिन्दी में रूपान्तर कर के ही बु० च० का हिन्दी-अनुवाद पूरा किया

जाना चाहिए। बु० च० के अनुवाद के सम्बन्ध में अभी (प्रातःकाल अगस्त २, १९४१) आक्सफोर्ड के अध्यापक डा० जौन्स्टन का एक पत्र मिला है इसका अन्तिम वाक्य यह है :—

"I am glad that a great Indian poet is at last receiving his proper share of attention from his fellowcountrymen"

सौन्दरनन्द :—

यह एक अठारह सर्गों का काव्य है। इसके दो ही प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ मिले हैं। दोनों दूषित तथा बुरी दशा में हैं और दोनों नेपाल महाराज के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। इनके आधार पर शुद्ध और कहीं कहीं पूरा पाठ निश्चित करना असम्भव-सा है। सौन्दरनन्द बौद्ध धर्म के बहुमूल्य उपदेशों से भरा है। यह हीनयान सम्प्रदाय का ग्रन्थ है, किन्तु कहीं कहीं इसमें महायान-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का भी उल्लेख है। बुद्ध के जीवन-सम्बन्धीय जो कई दृश्य और घटनायें बुद्धचरित में संक्षिप्त हैं या बिलकुल नहीं हैं इस दृष्टिकोण से इसे बु० च० का पूरक कहना बुरा न होगा।

सौन्दरनन्द का एक हिन्दी भावानुवाद है जो गङ्गा-पुस्तक-माला लखनऊ से प्रकाशित हुआ था। इसका बङ्गला-अनुवाद करने वाले प्रसिद्ध विद्वान् डा० बी० सी० ला हैं।

सौन्दरनन्द में सुन्दरी और नन्द की ही कथा प्रधान है। सुन्दरी नन्द की स्त्री थी और नन्द बुद्ध का भाई था। नन्द सुन्दरी पर बड़ा आसक्त था। बुद्ध ने अनिच्छुक नन्द को अपने धर्म में दीक्षित किया। पत्नी से वियुक्त होकर नन्द बड़ा दुःखी हुआ, बहुत रोया और सुन्दरी के पास घर लौट जाना चाहा। भिक्षुओं ने उपदेश-भरे शब्दों में उसे समझाने की खूब कोशिश की, किन्तु सब व्यर्थ था। तब बुद्ध उसे लेकर हिमालय की ओर गया। वहां एक कानी शाखामृगी दिखाते हुए उसने पूछा—'हे नन्द, इस कानी बनरी और अपनी प्रियतमा में से तुम किसे अधिक रूपवती और विलासवती समझते हो?" मुसकुराते हुए नन्द ने कहा—'हे भगवन्, कहां वह उत्तम स्त्री आप की वधू और कहां यह पेड़ को पीड़ा पहुँचाने वाली मृगी!" फिर इन्द्रलोक में अप्सराओं को दिखा कर बुद्ध ने नन्द से अप्सराओं और उसकी प्रियतमा के बीच का अन्तर पूछा। उसने उत्तर दिया—"हे नाथ, उस कानी मृगी और आप की वधू में जो अन्तर है वही है इन अप्सराओं और आप की बेचारी वधू में।" अब अप्सराओं पर मुग्ध होकर नन्द उन्हें पाना चाहा। बुद्ध ने बताया कि रूप, सेवा, बल या दान से वे नहीं पाई जा सकतीं; उन्हें पाने का एकमात्र शुल्क या सफल साधन उत्तम तप है। तब वह तपस्वी हो गया और वीतराग की भांति आनन्द और विषाद से मुक्त हो गया। बुद्ध के शिष्य आनन्द ने नन्द को बताया कि स्वर्ग के आनन्दों का उपभोग क्षणिक है और स्वर्ग-निवास प्रवास-मात्र है, क्योंकि पुण्य क्षीण होने से लोग वहां से लौट आते हैं। आनन्द के वचन की यथार्थता समझ कर नन्द अप्सराओं से विमुख हो गया। बुद्ध के पास जा कर अपनी अवस्था बताते हुए उसने कहा—"(अब) मैं सभी

दुःखों के नाशक आपके परम धर्म में ही आनन्द पाता हूँ। अतः संक्षेप और विस्तार से इसकी व्याख्या कीजिए, जिसे सुन कर मैं परम-पद पाऊँ।" उसने बुद्ध के उपदेश सुने, तदनुसार प्रयत्न किया और वह अर्हत् हो गया। कृतार्थ हो नन्द ने बुद्ध के दर्शन किये। गुरु और शिष्य एक दूसरे को देख कर प्रसन्न हुए। दोनों ने एक दूसरे की हृदय से तारीफ की। कृतज्ञ शिष्य ने गुरु से प्रतीकार का कुछ उपाय पूछा। गुरु ने परोपकार करने का आदेश दिया। शिष्य को सम्बोधित करते हुए उसने कहा—"वही जन उत्तम से उत्तम माना जाता है जो उत्तम नैष्ठिक धर्म पाकर अपने परिश्रम का खयाल न करता हुआ दूसरों को भी शम (=शान्ति) का उपदेश देता है। अतः, हे स्थिरात्मन्, रात्रिकाल में भटकते हुए तमोवृत जीवों के बीच इस धर्म-प्रदीप को धारण करो। घर में वधू भी तुम्हारा ही अनुकरण करती हुई स्त्रियों को विराग का उपदेश देगी।"

अन्त में इस काव्य का प्रयोजन बताते हुए कवि ने कहा है—"प्रायः लोगों को विषय-रत और मोक्ष-विमुख देख कर मैं-ने काव्य के बहाने सत्य का उपदेश दिया है। मोक्ष ही सब से ऊपर है। इस (ग्रन्थ) में मोक्ष के अतिरिक्त जो कुछ कहा गया है वह इसे काव्य-धर्म के अनुसार सरस बनाने ही के लिए (कहा गया है), जैसे कड़वी दवा को पीने लायक बनाने के लिए उसमें मधु मिलाया जाता है।"

संसार के इतिहास में सम्राट् अशोक का स्थान

डा॰ हरिश्चन्द्र सेठ, एम॰ ए॰, पी-एच॰ डी॰ (लन्दन), साहित्य-भूषण

मानव इतिहास में किसी भी महापुरुष का क्या स्थान है, यह तीन बातों से निश्चित किया जा सकता है :—

१ । उसके जीवन के उद्देश्य ।

२ । उनको कार्य रूप में परिणत करने में उसकी सफलता ।

३ । संसार पर उसके कार्यों का प्रभाव ।

अशोक के सम्बन्ध में उक्त प्रश्नों के उत्तर देने से पूर्व हमें संक्षेप में उस समय की ऐतिहासिक स्थिति का निरूपण करना होगा । अशोक के पितामह महान् विजेता और शासक सम्राट् चन्द्रगुप्त ने यवन आक्रमणकारियों को भारतवर्ष से भगाकर एक विशाल भारतीय साम्राज्य का निर्माण किया था । इस साम्राज्य में दक्षिण और पूर्व के कुछ थोड़े से भागों को छोड़कर समस्त भारतवर्ष सम्मिलित था । इसके अतिरिक्त सारा अफ़ग़ानिस्तान और मध्य-एशिया का भी एक बड़ा भाग इस साम्राज्य के अन्तर्गत था । मध्य-एशिया वाले पार्वतीय प्रदेशों के इसके अन्तर्गत होने से इस साम्राज्य की स्वतन्त्रता की नींव बहुत दृढ़ हो गई थी । चन्द्रगुप्त और उसके महान् मन्त्री चाणक्य के विज्ञ कौशल से इस विशाल साम्राज्य का पर्याप्त रूप से सगठन भी हो गया था* । चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार ने भी इस साम्राज्य की शक्ति को और बढ़ाया । अशोक ने भी अपने शासन के प्रारम्भिक काल में बड़े उत्साह से साम्राज्य को सगठित किया और उसने उसके विस्तार बढ़ाने की नीति को जारी रखा । इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि यदि वह कलिङ्ग युद्ध में सफलता प्राप्त करने के पश्चात् अपने उसी विजयी जीवन को जारी रखता तो अवश्य ही वह दक्षिण के चोड़, पाण्ड्य आदि छोटे छोटे राज्यों पर विजय प्राप्त कर लेता, इतना ही नहीं वरन् यह भी अनुमान किया जा सकता है कि वह सुदूरवर्ती सीरिया, इजिप्ट, मेसेडन और ग्रीस आदि देशों पर भी विजय प्राप्त कर सकता था । इस प्रकार वह भारतीय साम्राज्य को एक संसार-साम्राज्य में परिणत कर देता । एक विशाल संसार साम्राज्य की स्थापना करना उस समय के इतिहास की एक मुख्य परिकल्पना थी । फारस के विशाल

---

* चन्द्रगुप्त मौर्य्य के समय के इतिहास के लिये देखिये हमारी पुस्तक "चन्द्रगुप्त मौर्य्य" (राज पब्लिशिंग हाउस, मुजफ्फरनगर)

साम्राज्य के, जिसका क्षेत्र सिन्धु नदी से लेकर ग्रीस की रियासतों तक फैला था, निर्माताओं, महान् सम्राटों—कुरूष (Cyrus) और दारयवुश (Darius I), का यही लक्ष्य था। बाद में इन्हीं सम्राटों का अनुकरण करते हुए एलेक्ज़ेन्डर ने भी इसी ओर असफल प्रयत्न किया था। मौर्य्य काल और विशेष कर अशोक का ही एक ऐसा समय था जब कि सरलता-पूर्वक भारत राजनैतिक क्षेत्र में संसार का प्रभुत्व प्राप्त कर सकता था। अशोक के पास चन्द्रगुप्त की सगठित अजेय सेना थी, चन्द्रगुप्त द्वारा स्थापित एक विशाल और सुसंगठित साम्राज्य की समस्त शक्ति और साधन उसके हाथ में थे, और एक महान् विजेता के समान उसमें अनोखी संलग्नता, साहस और उत्साह था। इस प्रकार अशोक के समय भारत में संसार-विजय के समस्त साधन इकट्ठे थे। परन्तु भारत के इतिहास का अशोक ने सहसा रूप ही बदल दिया।

कलिङ्ग की विजय के बाद अशोक ने अपने शस्त्र फेंक दिये और नये देशों को विजय कर अपने साम्राज्य में मिलाने का कार्य केवल उसने स्वयं ही नहीं त्यागा, प्रत्युत अपने पुत्र और पौत्रों तक को उसने आदेश दिया कि वे नये देश विजय करने का प्रयत्न सदा के लिये छोड़ दें। राजनैतिक संसार में एक बिलकुल नये आदर्श को ही अशोक ने अपने सम्मुख रखा। उसने सारे ससार में दया और प्रेम का ही साम्राज्य स्थापित करना निश्चय कर लिया। उसका यह दया-भाव अपने देश की प्रजा पर ही सीमित न था, वरन् वह मनुष्य मात्र की भलाई चाहने लगा। अशोक के एक शिलालेख के निम्न-लिखित विवरण से उसके विशाल हृदय की उदारता स्पष्ट प्रकट होती है और इससे उसके जीवन के मुख्य आदर्श का भी पता चलता है। "सब मनुष्य मेरे लिये मेरी ही सन्तान के समान हैं। जिस प्रकार मैं अपनी सन्तान के लिये इस लोक और परलोक में उनका भला चाहता हूँ, वैसे ही दोनों लोकों में मैं मनुष्य मात्र की भलाई चाहता हूँ"।

कलिङ्ग युद्ध के बाद प्राणी-मात्र की भलाई, सुख और शान्ति अशोक के जीवन का मुख्य उद्देश्य हो गया और मानव जाति की नैतिक उन्नति को अशोक ने अपना मुख्य कर्त्तव्य बनाया। अशोक की धार्मिक शिक्षा में शिष्टता-सौजन्य और सेवा-भाव कूट-कूट कर भरे थे। उसने सर्वोत्कृष्ट नैतिक सत्य को संसार के सामने रखा। उसने लोगों को बताया कि कठोरता, क्रोध, निर्दयता, अभिमान और द्वेष पाप का मूल है: उसका कहना था कि कोई मनुष्य कितना ही बड़ा क्यों न हो, परन्तु जब तक उसमें संयम, विचार सम्बन्धीय पवित्रता, कृतज्ञता, दृढ़ भक्ति आदि गुण न हों, तब तक वह नीच है। वह निरन्तर लोगों को इस बात का ध्यान दिलाया करता था कि अच्छे काम करने की प्रवृत्ति सदा ही उनके हृदय में बलवती रहनी चाहिये।

अब हम यह विचार करते हैं कि अशोक ने इस महान् आदर्श को पूरा करने के लिये क्या क्या प्रयत्न किये, और उसको इनमें कहां तक सफलता प्राप्त हुई। अपनी नैतिक शिक्षाओं को अम-

साधारण में फैलाने के लिये अशोक ने अपनी आमोद-प्रमोद-मयी यात्राओं को नैतिक यात्राओं में परिणत कर दिया, महामात्रों को दौरा करते समय इन नैतिक शिक्षाओं के प्रचार करने का उसने आदेश दिया और बाद में उसने धर्ममाहामात्रों की नियुक्ति भी इसी विशेष काम के लिये की। अपने दूतों द्वारा उसने अपनी नवीन नैतिक शिक्षाओं का दूर-दूर के देशों में प्रचार कराया, उनको स्थायी बनाने के लिये उसने उनको चट्टानों और स्तम्भों पर खुदवाया। अपनी इन नैतिक शिक्षाओं को फैलाने में अशोक ने बल से काम नहीं लिया, वरन् प्रेम-पूर्वक समझा कर ही उसने मानव हृदय पर यह नवीन विजय प्राप्त की।

अशोक संसार में अपने समय का सबसे शक्तिशाली सम्राट् था। जैसा कि हमको प्राचीन यूरोपीय इतिहासकारों के लेखों से मालूम होता है कि मौर्य्य सम्राटों का दूर-दूर के देशों तक में मान था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि उस समय के सभ्य संसार में अशोक के शब्दों का कितना मूल्य होगा। अपने जीवन काल ही में अशोक को कहां तक सफलता मिली इसका उसके शिलालेखों से पता चलता है, जिनसे मालूम होता है कि यह नैतिक विजय उसको बार बार अपने देश की समस्त जनता तथा दूर-दूर के देशों में, जिनमें सीरिया, इजिप्ट, ग्रीस आदि भी शामिल थे, प्राप्त हुई और जिन देशों में उसके दूत न पहुँच सके वहां भी उसकी नैतिक शिक्षाओं की प्रसिद्धि सुन कर लोग उनका अनुसरण करने लगे।

अशोक के इस महान् प्रयत्न का उसके परवर्त्ती संसार के इतिहास पर क्या असर पड़ा इसका पता अशोक के बौद्ध धर्म के प्रचार सम्बन्धीय सफल परिश्रम से लगता है। अशोक के पहले अन्य भारतीय धार्मिक सम्प्रदायों के समान बौद्ध धर्म भी एक छोटी सी धार्मिक संस्था थी, जिसके अनुयायी थोड़े बहुत केवल पूर्वी भारतवर्ष में ही थे और इनमें भी आपस में बहुत से मतभेद उठ खड़े हुए थे, जिससे बुद्ध भगवान् का स्थापित किया हुआ सङ्घ कितने ही मतमतान्तरों में विभाजित हो गया था। अपने स्वतः नैतिक विचारों से इतना मिलता-जुलता होने पर अशोक ने जब इस धर्म को ग्रहण किया तो उसने कठिन परिश्रम के बाद यह निश्चय किया कि बुद्ध भगवान् का बताया हुआ सत्य धर्म क्या था। तत्पश्चात् उसके आधार पर सङ्घों में एकता स्थापित कर समस्त संसार में इस नवीन धर्म को फैलाने का उसने पूरा प्रयत्न किया। इस शुभ कार्य के लिये उसने अपने प्रिय पुत्र और कन्या को भी अर्पण कर दिया। अशोक के ही परिश्रम के फलस्वरूप, बौद्ध धर्म एक उज्ज्वल विश्वधर्म बन गया। शनैः शनैः यह धर्म केवल समस्त भारतवर्ष में ही नहीं, प्रत्युत समस्त मध्य-एशिया, चीन, तिब्बत, जापान, स्याम, बर्मा, सीलोन (लङ्का) आदि सुदूर देशों में भी फैल गया। अपनी जन्मभूमि भारतवर्ष को छोड़ कर उक्त अन्य देशों में आज तक अधिकांश जनता बौद्ध धर्म की ही अनुयायी है। भारत में भी बङ्गाल और कुछ अन्य स्थानों में थोड़े बहुत बौद्ध धर्म के मानने वाले अब भी मिलते हैं, और इस देश से भी कहने मात्र को बौद्ध धर्म उठ गया है। इस देश में सदा से ही बुद्ध भगवान् को उच्च सम्मान दिया गया

है। हिन्दू धर्म में उनको परमेश्वर का एक अवतार तक माना गया है और भारत की सभ्यता और जनसाधारण के जीवन पर बुद्ध भगवान् की शिक्षाओं का अमिट प्रभाव पड़ा है।

पश्चिम की ओर सीरिया और उसके आस-पास के देशों में अशोक के समय में जो बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ था उसके फलस्वरूप ही दो शताब्दियों के बाद वहां ईसाई धर्म की उत्पत्ति हुई। विद्वानों ने ठीक ही अनुमान किया है कि ईसाई धर्म पर बौद्ध धर्म की पूरी छाप लगी है। इसमें सन्देह नहीं कि ईसाई धर्म में दया, प्रेम और सेवा भाव बुद्ध भगवान् की शिक्षाओं का ही एक स्वरूप है। ईसाई धर्म ने बौद्ध धर्म से केवल उसकी नैतिक शिक्षाओं को ही नहीं ग्रहण किया, वरन् उसने सङ्घ-व्यवस्था, सामूहिक उपासना तथा पापों की स्वीकृति आदि प्रथाओं को भी उसी से लिया है। ईसाइयों में मांक और नन बनने की प्रथा बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणी संस्था का ही रूपान्तर है। बौद्ध चैत्यों के आधार पर ही प्राचीन ईसाई गिर्जे बनाये जाते थे, और बौद्धों की जातक कथाओं के आधार पर इन गिर्जों में प्रवचन दिये जाते थे। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो बौद्ध धर्म से ही ईसाई धर्म की उत्पत्ति हुई है और यह धर्म बौद्ध धर्म की ही एक शाखा है। इस प्रकार किसी न किसी रूप से समस्त सभ्य संसार पर अशोक द्वारा प्रचालित नैतिक और धार्मिक शिक्षाओं का अमिट प्रभाव पड़ा है जो किसी न किसी रूप में आज तक मौजूद है।

यदि हम समस्त मानव इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो हमे ज्ञात होता है कि संसार के इतिहास में अशोक का एक बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। कतिपय विद्वानों ने अशोक की तुलना संसार के इतिहास के बड़े बड़े सम्राटों से की है। कुछ उसको एलेक्ज़ेण्डर, सीज़र और नेपोलियन की श्रेणी में रखते हैं परन्तु इनसे अशोक की तुलना करना भूल है। इनमें से किसी ने भी समस्त मानव समाज के दुःख-सुख के बारे में न कुछ सोचा हो और न कुछ किया हो, और न वे कभी मनुष्य मात्र की नैतिक उन्नति के मधुर स्वप्न से प्रेरित ही हुए थे। संसार के महान् सम्राटों में केवल अशोक ने ही उदारतापूर्वक समस्त मानव समाज को एक मान कर उसकी नैतिक उन्नति का भरसक प्रयत्न किया था। कभी उसकी तुलना कान्सटेन्टाइन और चारलेमन से की जाती है। परन्तु इनमें से कोई भी अशोक के समान उदार हृदय वाला नहीं था और न कभी अशोक के समान उनके जीवन का मुख्य ध्येय प्रेम, शान्ति और भ्रातृत्व को संसार भर में फैलाना ही रहा। संसार के सामाजिक, धार्मिक और नैतिक व्यवहारों पर जितना असर अशोक के कार्यों का पड़ा था उतना किसी सम्राट् का नहीं पड़ा। वास्तव में संसार के सामाजिक और धार्मिक इतिहास में अशोक का प्रमुख स्थान है। एच० जी० वेल्स ने ठीक ही लिखा है, "इतिहास के पृष्ठों में भरे हुए लाखों सम्राटों के नामों में, केवल अशोक का ही नाम उज्ज्वल तारे के समान अकेला और सबसे ऊपर चमकता है। यूरोप की वोलगा नदी से लेकर जापान तक उसके नाम का अब तक आदर होता है। चीन, तिब्बत और भारत में भी (यदि भारत ने उनके सिद्धान्तों को अब छोड़ दिया है) अब तक उसकी महानता की अधिकांश जनता के, जिसने कान्स्टेन्टाइन और

चारलैमन का नाम तक भी नहीं सुना, हृदय में आज भी स्मृति वर्तमान है।" निःसन्देह समस्त मानव समाज से क्रूरता दूर कर उसको सभ्य बनाने का अशोक ने ही प्रथमवार महान् और सफल उद्योग किया था।

जापान, चीन तिब्बत, बर्मा, सीलोन आदि देशों में तो आज तक भी अशोक के नाम का आदर होता है। भारत में भी बौद्ध परम्परा के समान ही ब्राह्मणीय ऐतिहासिक परम्परा में भी अशोक को सदा 'धर्माशोक' कह कर उसका यथोचित सम्मान किया गया है। कन्नौज के राजा गोविन्दचन्द्र की रानी कुमारदेवी ने अपने बारहवीं शताब्दी के सारनाथ के स्तम्भ पर खुदवाये हुए लेख में अशोक को "धर्माशोक नराधिपस्य" इत्यादि शब्दों से अभिहित किया है। उसके थोड़े समय पश्चात् के अन्य खुदे हुए लेख में भी उसे "धर्माशोक" कहा गया है। काश्मीर-कवि और ऐतिहासिक कल्हण ने भी अशोक को ठीक ही एक ऐसा सत्यसन्ध और धर्मात्मा सम्राट् कह कर पुकारा है जिसने कि संसार से पाप को दूर कर दिया था। जिस प्रकार गोकुल-अष्टमी श्रीकृष्ण के और रामनौमी श्रीराम के जन्म दिन की यादगार हैं, सम्भवतः इसी प्रकार पौराणिक परम्परा की अशोकपूर्णिमा महान सम्राट् अशोक की यादगार हो। सैकड़ों शताब्दियों को पार करते हुए चट्टानों और स्तम्भों पर खुदवाये हुए अशोक के धर्म-लेख आज भी हमको उसके महान् आदर्श और महान् पराक्रम का परिचय दे रहे हैं। इन लेखों के पढ़ने से मालूम होता है कि इनके द्वारा आज भी अशोक प्राणी मात्र पर दया और प्रेम की दृष्टि से देख रहा है।

प्राचीन भारत में काशी

डा० बी० सी० ला०, एम० ए०, बी० एल०, पी-एच० डी०

काशी, जम्बूद्वीप का एक महाजनपद[१], प्राचीन काल में वह राज्य था जिसकी प्रधान नगरी बाराणसी थी ; उसे आज लोग बनारस कहते हैं। बनारस नाम सम्भवतः वर्णावती नदी के कारण पड़ा था। यह अलाहाबाद के दक्षिण की ओर लगभग ८० मील की दूरी पर गङ्गा के उत्तरी किनारे में वर्णा[२] नदी के सङ्गम स्थल पर बसा हुआ है। वर्णा या वर्णा नदी का उद्गम स्थान अलाहाबाद के उत्तर में है और उसकी लम्बाई केवल १०० मील के करीब है। असी एक नाला है। वर्णा या वर्णा और असी के नाम पर जो कि बनारस के उत्तर और दक्षिण में हैं—ब्राह्मणों ने उसका नाम बाराणसी या बाराणसी रखा जो कि बनारस[३] का संस्कृत रूप है। बाराणसी के और भी कई नाम थे। वह उदय जन्म में सुरुन्धन[४], चुल्लसुतसोम जन्म में सुदस्सन[५], सोणनन्द जन्म में ब्रह्मवद्धन[६], खन्दहल जन्म में पुप्फवती[७], युवञ्जय जन्म में रम्म नगर[८] और सङ्ख जन्म में मोलिनी[९] कहा जाता था। चीनी भाषा में लिखे हुए बौद्ध ग्रन्थों में काशी और बारानसी नाम नक़ल किये हुए मालूम पड़ते हैं लेकिन कहीं कहीं काशी का अनुवाद 'ति-मिअओ' किया गया है, इसका अर्थ एक प्रकार का घास है। सम्भवतः काशी का सम्बन्ध काश[१०] (एक प्रकार का घास) से समझकर उसका अनुवाद ति-मिअओ किया गया हो।

राइस डेविड्स (Rhys Davids) का यह कहना है कि बाराणसी के नाम से यह सिद्ध

---

१ अंगुत्तर निकाय, खंड १, पृष्ठ २१३ : खंड ४, पृष्ठ २५२. २५६ और २६०

२ बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २४

३ Cunningham, Aucient Geography of ludia. pp. 435-6,

४ Jātaka, iv. 104, 15, 18

५ Ibid iv 119, 28 : V 177, 12 etc

६ Ibid iv 119, 29 ; v. 312, 19 etc.

७ Ibid vi p. 131

८ Ibid iv, 119, 26 etc.

९ Ibid iv, p. 15

१० Watters on Yuan Chwang vol. ii. pp. 58-9

होता है कि यह वर्णा नदी और असी (नाला) के बीच की भूमि का नाम था। बुद्ध के प्रादुर्भाव के पहले जब वाराणसी एक स्वतन्त्र राज्य की राजधानी थी तब उसका विस्तार १२ लीग (twelve leagues) या ८५ मील११ के करीब था। जातकों में उसका विस्तार बारह योजन१२ किया गया है।

काशी के उत्तर में कोशल, पूर्व में मगध और पश्चिम में वत्स१२ थे। वह धन-धान्य और सम्पत्ति से परिपूर्ण था। बुद्ध ने यह घोषणा की थी कि जब मनुष्य की आयु ८०,००० वर्ष की होगी तब वाराणसी का नाम केतुमती होगा—वह जम्बूद्वीप की राजधानी होगी, उसके शासक विश्व के सम्राट् शङ्ख होंगे और वे सप्त-रत्नों के अधिकारी बनेंगे१४।

वैदिक और सूत्र साहित्य में काशी :—

सांखायन-श्रौत-सूत्र में यह लिखा हुआ है कि काश्य काशी के राजा थे। जातुकर्णी के पुत्र जल उनके याजक (पुरोहित) थे। काश्य योद्धाओं के वंश के थे इसलिये वे भी अच्छे योद्धा थे (बृहदारण्यकोपनिषद्)। बृहदारण्यक और कौशतकी उपनिषदों में काशी के राजा अजातशत्रु का उल्लेख है। बलाका के पुत्र बालाकी ने उनसे (अजातशत्रु) यह कहा था कि मैं तुम्हें ब्रह्म के विषय में कहूँगा (२-१,१ ; ४—१)। बौधायन श्रौत सूत्र से यह पता चलता है कि पुरुरवा के पुत्र आयु संसार त्याग कर सन्यासी वेश में काशी, कुरु और पांचाल देशों में विचरण किये थे (१८-४४)। शतपथ ब्राह्मण में इसका उल्लेख है कि सत्राजित के पुत्र शतानीक ने काशी के राजा काश्य के अश्व को लेकर गोविनत यज्ञ किया था।

अथर्ववेद में वर्णावती नदी का उल्लेख मिलता है (४-७,१) जिसके पानी से विष का प्रभाव नष्ट हो जाता है। मेरी राय डा० मैकडोनेल और कीथ से मिलती है कि 'काशी' शब्द परवर्ती काल का है। वह एक प्राचीन नगरी है क्योंकि वाराणसी (बनारस१५) का सम्बन्ध वर्णावती से हो सकता है।

महाकाव्यों में काशी का वर्णन—रामायण :—

रामायण के समय काशी एक प्रसिद्ध राज्य था—इसका उल्लेख रामायण में कई जगह

---

११ बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० २४

१२ Fausball, Jataka, vol. ii, p. 18 ; vol. vi. p. 160

१३ Cambridge History of India, p. 14

१४ Digha Nikāya, vol iii, p. 75

१५ Vedic Index vol. 1, p. 154

है। आदि काण्ड (सर्ग १३) में वशिष्ठ ने सुमन्त्र को कई धार्मिक राजाओं को निमन्त्रण करने के लिये आदेश दिया जिसमें बनारस के राजा और एक हजार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी थे। किष्किंधा काण्ड (सर्ग ४०) में सुग्रीव ने विनत को काशी और दूसरे देशों में सीता की खोज के लिये भेजा था। उत्तर काण्ड में (छ० ५६ श्लोक २५) मित्रदेव ने उर्वशी से यह कहा था, "काशी के राजा पुरुरवा के पास जाओ, वही तुम्हारा स्वामी बनेगा"। उसी खण्ड में (छ० ५९, श्लोक १९) यह दिया हुआ है कि ययाति के पुत्र पुरु प्रतिष्ठान में रहते थे और वे काशी-राज्य के शासक थे।

महाभारत :—

रामायण के अतिरिक्त अन्यान्य महाकाव्यों में भी काशी के बारे में बहुत कुछ लिखा हुआ मिलता है। दिवोदास के पितामह हरयश्व बनारस के राजा थे। गङ्गा और यमुना के बीच की भूमि में एक युद्ध हुआ था जिसमें वीतहव्य राजा के किसी नातेदार ने उन्हें मार डाला था। इसके बाद उनके पुत्र सुदेव काशी की राजगद्दी पर बैठे। सुदेव ने कुछ दिनों तक काशी में राज्य किया लेकिन थोड़े ही दिनों के पश्चात् वीतहव्यों ने उन्हें पराजित किया। तदनन्तर दिवोदास बनारस के राजा बनाये गये। बनारस की प्रतिष्ठा उन्होंने और भी बढ़ाई, कई बाजार भी खोले गये। वहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की बसती थी। बनारस गङ्गा के उत्तर और गोमती के दक्षिण तट पर बसा हुआ है। हैहयों ने उसपर आक्रमण किया। भीषण संग्राम लगभग १००० दिनों तक जारी रहा। दिवोदास पराजित होकर नौ-दो ग्यारह हुआ और उसने बृहस्पति के ज्येष्ठ पुत्र ऋषि भरद्वाज की कुटी में शरण ली।............

महाभारत में यह भी लिखा हुआ है कि काशी के राजा भीमसेन के पुत्र दिवोदास को ययाति कन्या माधवी से प्रतर्दन नामक एक पुत्र हुआ था। जब प्रतर्दन काशी के राजा हुए तब उन्होंने बनारस में अपनी राजधानी स्थापित की। एक ब्राह्मण को अपना पुत्र दान करने से उन्हें ख्याति मिली थी।

अनुशासन पर्व १६ में यह दिया हुआ है कि बनारस में मैत्रेय नामक एक साधु रहते थे; उनका कहना था कि ब्राह्मणत्व ही ब्राह्मणों का श्रेष्ठ-सम्पद है—हिन्दुओं का चार जातियों में विभाजन लाभदायक है—दान देना उत्तम कार्य है।

शान्तिपर्व१७ से यह पता चलता है कि बनारस में तुलाधार नामक एक सौदागर रहता था जो कि बड़ा धार्मिक था। वह खुले दिल का आदमी था और कस्तूरी, लाख और रस आदि का व्यापार करता था।

---

१६ अ, १२०, पृष्ठ १८८५-८७

१७ अ, २६१, पृष्ठ १११८-७५

पुराणों में काशी :—

पुराणों[18] में काशी को जनपद कहा है। वह अविमुक्त क्षेत्र कहलाता है। शिव और पार्वती उसे कभी नहीं छोड़ते[19]। उसकी विस्तृति पांच कोस (क्रोश) है[20]। उसका दूसरा नाम आनन्द वन है क्योंकि वह आनन्द दायक है। पुराणों में ऐसी कई कहानियां हैं जिनमें काशी के राजाओं का उल्लेख है। वायुपुराण में एक काश राजा का नाम मिलता है, वे नहुष वंश के धर्मवृद्ध के पुत्र थे। काश के पुत्र काशय, राष्ट्र और दीर्घतपा थे। दीर्घतपा के पुत्र का नाम धर्म था[21]। हरिवंश के अनुसार अनेनाः वंश के राजा काश के पुत्र काशी कहलाते थे। उनमें दीर्घतमा ज्येष्ठ थे (अ० २९)। काशीराज सौनिहोत्र के घोर तपस्या के फलस्वरूप उनका एक पुत्र हुआ था जिसका नाम धन्वन्तरि था। उन्होंने भरद्वाज के पास आयुर्वेद शास्त्र अध्ययन किया था। धन्वन्तरि का वंशवृक्ष नीचे दिया जा रहा है :—
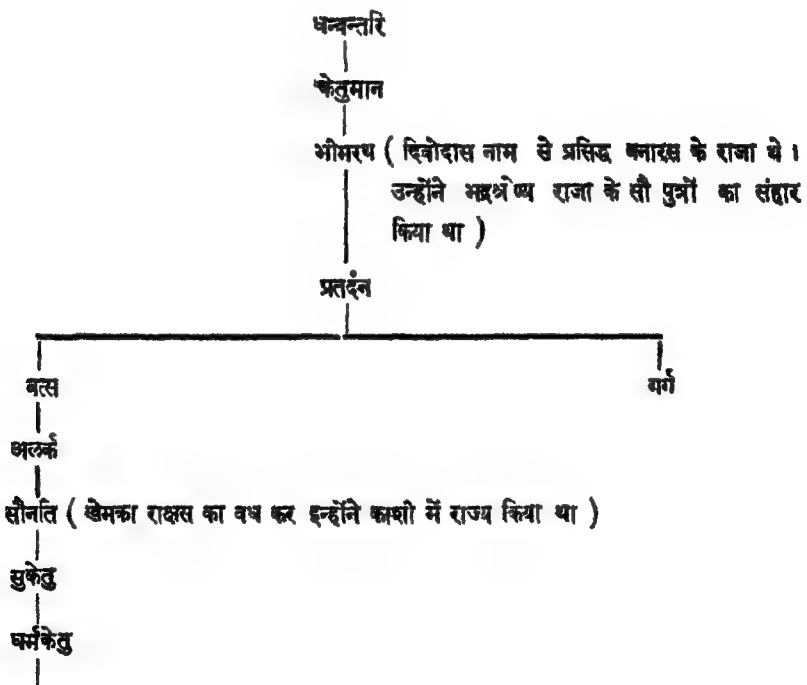
१८ पद्मपुराण—स्वर्गखण्ड, अ, २, विष्णुधर्मोत्तर महापुराण अ, ९

१९ काशी खण्ड—पूर्वार्ध अ, २६

२० वही खण्ड और अ

२१ वायुपुराण अ, ९२

जैसा कि ऊपर बतलाया गया है धन्वन्तरि के पोते दिवोदास बनारस के एक प्रसिद्ध राजा हो गये हैं। उसी समय महात्मा निकुम्भ के शाप से बनारस एक मरुभूमि बन गया था और वहां क्षेमका नामक एक राक्षस ने अपनी बस्ती स्थापित की थी। दिवोदास ने वहां से हटकर गोमती तीर[२२] में अपना राज्य स्थापित किया था। ब्रह्मपुराण और हरिवंश के अनुसार एक वंशवृक्ष नीचे दिया जा रहा है :—

२२ हरिवंश अ, ३१-२ ; ब्रह्मपुराण अ, १३, श्लोक ७५ देखिये
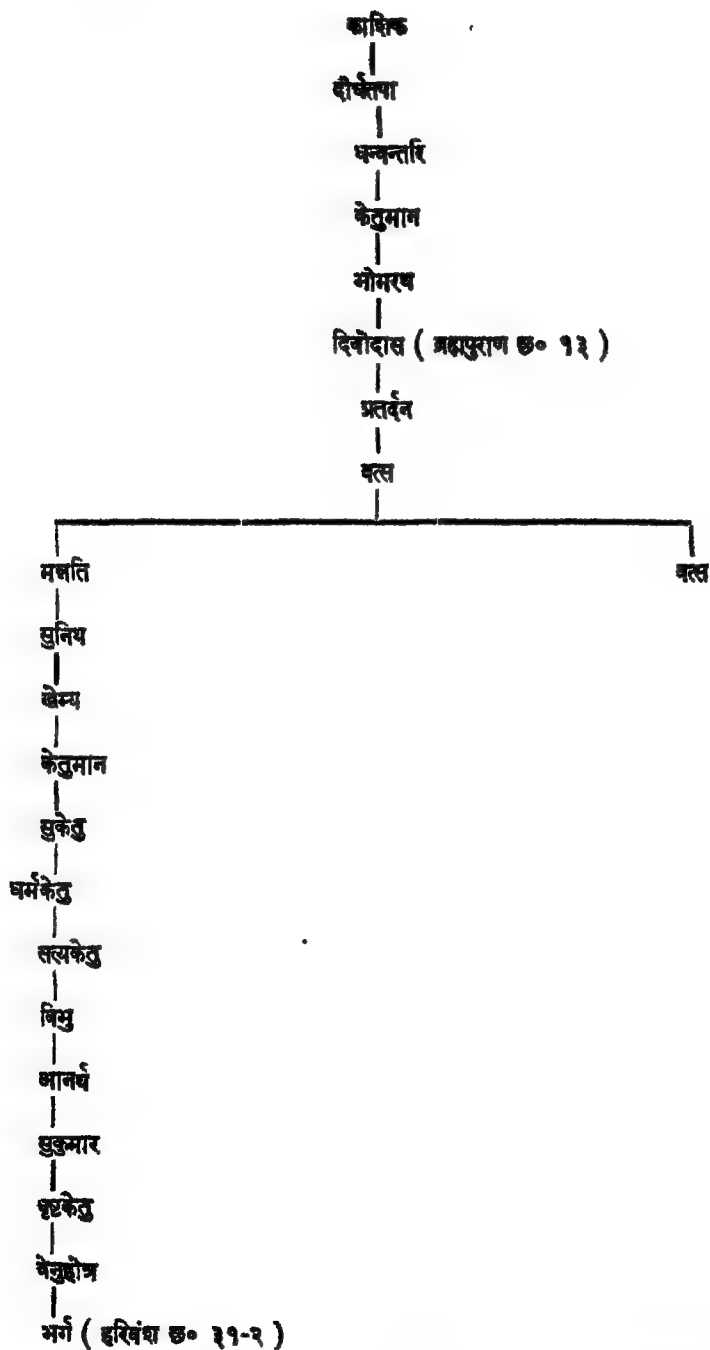
पुराणों में अलर्क नामक एक प्रसिद्ध राजा के विषय में दिया हुआ है जिन्होंने क्षेमका राक्षस

का संहार कर बनारस का पुनर्निर्माण किया था। कृष्ण और पुण्ड्र के युद्ध में काशी की राजधानी बनारस के बारे में दिया हुआ है। इसके अतिरिक्त पुराणों में और भी कई जगह काशी का उल्लेख मिलता है जैसे सीरध्वज के भाई कुशध्वज बनारस के राजा थे२३। महर्षि वेदव्यास बनारस में रहते थे इसलिये कई पण्डित भी वहां जाकर रहने लगे२४। राम ने कुरक्षेत्र में जो यज्ञ किया था बनारस के ऋषि अपने शिष्यों के साथ वहां गये थे२५। परीक्षित के वंशज सत्य कर्म बनारस के राजा थे२६ आदि।

दशकुमार चरित में काशी :—

दशकुमार चरित से यह पता चलता है कि मगध के राजा राजहंस के मन्त्री-पुत्र कामपाल कई जगह घूमते हुए अन्त में काशी पहुँचे। वहां पहुँचकर वे काशीराज की कन्या कान्तिमती पर आसक्त हो गये। गुप्त प्रणय के फलस्वरूप उनका एक पुत्र हुआ जिसे एक 'चंडाली' फेंकने गई; घृणित कार्य के कारण वह पकड़ा गई और रक्षकों को सब कहानी कह सुनाई। राजा ने कामपाल के वध का आदेश दिया। चंडालों को मारकर वह रफूचक्कर हुआ। किसी यक्ष की लड़की तारावती ने उसे आश्रय दिया और वह उसी के साथ दाम्पत्य प्रेम निबाहने लगा। एक दिन कामपाल बनारस के राजा के शयन-गृह में जा घुसा। डर के मारे राजा ने अपनी लड़की की शादी उसके साथ कर दी। कामपाल बनारस का मन्त्री बनकर रहने लगा और बाद में राजगद्दी भी उसे मिल गई२७।.

सौन्दरानन्द-काव्य में काशी :—

अश्वघोष के सौन्दरानन्द काव्य से यह पता चलता है कि गौतमबुद्ध 'धर्मचक्र' प्रचारणार्थ काशी गये थे२८। उससे यह भी पता चलता है कि द्वैपायन ऋषि काशी की एक वेश्या के पास जाया करते थे लेकिन एक दिन उस वेश्या ने उन्हें मार भगाया।

कुट्टिनीमतम् में काशी :—

कुट्टिनीमतम् में सन् ८०० ई० के आस-पास काशी का वर्णन मिलता है। उसमें यह लिखा हुआ है कि लोग मोक्ष पाने के लिये वहां जाते थे। काशी सांसारिक सुखों का केन्द्र है और सुख से जीवन बिताने पर जिसकी मृत्यु काशी में होगी वह भी 'शिव' बन जायगा।............

---

२३ वायुपुराण, अ, ८९

२४ कूर्मपुराण, अ, ३५, श्लोक ११-१२

२५ स्कन्द पुराण—अयोध्यामाहात्म्य, अ, १

२६ भविष्य पुराण अ, १

२७ दशकुमार चरित. उच्छ्वास ४

२८ १० वां सर्ग, सर्ग १

जैन ग्रन्थों में काशी :—

जैनों के अनुसार ८१७ ई० पू० में बनारस में पारश्वनाथ का जन्म हुआ था। उनके पिता अश्वसेन काशी के राजा थे२९। बनारस के पास एक 'धातकी' वृक्ष के नीचे पारश्वनाथ को 'केवल ज्ञान' प्राप्त हुआ था।

अन्तिम तीर्थंकर और उनके शिष्यों की कहानियों में भी काशी का उल्लेख मिलता है। काशी में चुलणिपिया नामक एक धनवान रहता था। उसकी पत्नी का नाम सामा था।………महावीर से उसकी भेंट हुई थी और वह धर्मानुसार जीवन व्यतीत करता था३०।

बनारस में सुरादेव नामक एक धनवान रहता था। वह भी महावीर-प्रचारित धर्मानुसार जीवन व्यतीत करता था३१।

जिस दिन महावीर की मृत्यु हुई थी उस दिन रात को काशी के राजा ने 'पोशध' पर एक दीपक रख दिया और उसने कहा, "ज्ञान-प्रदीप बुझ गया है—पदार्थों की सहायता से ही आज से रोशनी दी जाय"३२।

वज्रस्वामी के शिष्य आर्यरक्षित ने जो कि पहले ब्राह्मण थे काशी में ही सब शास्त्रों का अध्ययन किया था३३। इनके अतिरिक्त जैन ग्रन्थों में काशी का उल्लेख कई स्थानों में है।

बौद्ध साहित्य में काशी :—

बनारस के एक राजा अपने पुरोहित से वेद-मन्त्र सीखते थे३४।

बनारस के राजा ब्रह्मदत्त ने काशी की प्रजा से कहा था कि जिसके पास बारह वर्ष के लिये खाने पीने की सामग्री है वह काशी में रहे बाकी वहां से चले जायँ क्योंकि द्वादश-वर्ष-व्यापी दुर्भिक्ष की सम्भावना थी३५।

बनारस के एक राजा पर कानन-देवी (या वनदेवी) की कृपा थी जो कि कड़ुवे आमों को मीठा और मीठों को कड़ुवा बना सकती थीं३६।

---

२९ Heart of Jainism p. 48

३० Uvāsagadasāo, vol ii, p. 90-98

३१ Ibid vol. ii, p. 100

३२ Jaina Sutrās, S. B. E. vol. i. p, 266

३३ Heart of Jainism, p. 78

३४ Jātaka, vol, iii. p. 28

३५ Divyāvadāna, p. 132

३६ Jātaka, vol V. p. 3

बनारस के किसी राजपुत्र ने 'न्यग्रोध' वृक्ष की देवी को जम्बूद्वीप के १००० राजा और रानियों की खून से सन्तुष्ट करने का वचन दिया था ताकि उसके पिता को मृत्यु के बाद राजगद्दी उसे मिले। उसने उन सब को इकट्ठा किया था लेकिन देवी ने उनकी प्राण रक्षा की।

शिवली पूर्व जन्म में बनारस का राजपुत्र था। राजगद्दी पर बैठने के उपरान्त उसने किसी शहर पर आक्रमण किया। वहां के निवासी आत्मसमर्पण नहीं किये लेकिन अन्त में उन्हें आत्मसमर्पण करना पड़ा था ३८।

उदेन बनारस के खेमिय अम्बवन में रहता था। घोषमुख नामक किसी ब्राह्मण ने उससे कहा कि कोई दयावान् साधु नहीं दीख पड़ता। उदेन ने चार प्रकार के मनुष्यों का उल्लेख किया३९।

काशीराज के कोल वंशज :—

बनारस के राजा राम को कोढ़ की बीमारी हुई थी। रानियों की क्या बात नर्तकियां भी उससे घृणा करती थीं। दुःखित होकर उसने अपना राज्य अपने लड़के को सौंप दिया और उसने जङ्गल की राह ली। वहां कन्द-मूल-फल खाकर वह जीवन बिताने लगा जिससे उसकी बीमारी दूर हो गई और उसका शरीर सोने का सा चमकने लगा। उसने ओक्काक राजा की लड़की का पाणिग्रहण किया और उसके बत्तीस लड़के हुए। उन लड़कों ने 'कोल नगर' बसाया और वे 'कोलिया' नाम से प्रसिद्ध हुए थे। गौतम बुद्ध के समय तक कोलियों और शाक्यों में विवाह हुआ करता था४०।

काशी और कोशल में युद्ध :—

काशी और कोशल स्वतन्त्र राज्य थे जिनमें आपस में हमेशा लड़ाई हुआ करती थी४१। एक समय की बात है जब कि काशीराज ने कोशल पर आक्रमण किया और उसने वहां के राजा को कैद कर लिया। उच्चपदस्थ कर्मचारियों पर देख-रेख का काम छोड़कर काशीराज कोशल की लूटी हुई सम्पत्ति लेकर घर लौटे। कोशल राजकुमार छत्त भाग खड़े हुए और तक्षिला में जाकर उन्होंने तीन वेद और आठारह कलाओं का अध्ययन किया। वहां से वे जङ्गल की ओर गये जहां ५०० सन्यासी रहते थे। छत्त वहीं रहने लगे और अन्त में उनकी सहायता से उन्हें उनकी पैतृक-सम्पत्ति मिल गई। वे कोशल में जाकर निर्विघ्नतापूर्वक राज्य करने लगे४२।

---

३७ D. C. vol. ii, p. 14 foll

३८ Ibid pp. 199-200

३९ Majjhima Nikāya vol. ii, p. 157 foll.

४० सुमङ्गलविलासिनी भाग १, पृष्ठ ९०-९२

४१ Car. Lec 1918, p. 55

४२ Jātaka, vol iii, p. 115 foll.

ब्रह्मदत्त काशी के एक सम्पत्तिशाली राजा थे। उस समय कोशल के राजा दिघिति थे लेकिन वे काशीराज की तरह उतनी सम्पत्तिशाली नहीं थे। काशीराज ने दिघिति को परास्त कर उनकी सम्पत्ति लूट ली थी। दिघिति अपनी पत्नी के साथ वेश बदल कर काशी के एक कुम्हार के घर में रहने लगे। कुछ दिनों के बाद उनका दीघावु नामक एक पुत्र हुआ, वह काशीराज का रथ चलाता था। एक बार वह काशीराज को बड़ी दूर सैर कराने ले गया। परिश्रान्त हो काशीराज उसकी गोद में सो गये। दीघावु बदला लेने का सोचने लगा। राजा चौंक उठा, दीघावु ने उसे प्राण भिक्षा दी४३।

महासीलव जातक से यह पता चलता है कि कोशलराज ने किसी समय काशीराज को हराकर उसकी सम्पत्ति लूट ली थी और उसे उसके सैनिकों के साथ जीते जी जमीन में गले तक गाड़ दिया था। बड़ी कठिनाई से काशीराज बाहर निकल गये और उन्होंने अपने सैनिकों को भी बाहर निकाला। यक्षों की सहायता से राजपोशाक पहन कर वह रात्रि को ही कोशलाधिपति के शयन गृह में जा घुसा। उसे देखते ही वह घबरा गया। काशीराज ने अपने निकलने की कहानी उसे सुनाई। कोशलराज ने उसकी वीरता की प्रशंसा की और उसने उसका राज्य उसे लौटा दिया४४।

काशी पर अधिकार के लिये मगध और कोशल में युद्ध :—

काशी में अजातशत्रु और पसेनदि में युद्ध हुआ था जिसमें पसेनदि हार गया था। दूसरे बार फिर उन दोनों में लड़ाई हुई थी जिसमें पसेनदि की जीत हुई। पसेनदि ने अजातशत्रु की सेना को कैद कर उसे (राजा) छोड़ दिया था। पसेनदि ने काशी पर भी अपना अधिकार जमा लिया था४५।

दीघनिकाय से यह पता चलता है कि काशी-कोशल के राजा पसेनदि वहां की प्रजा (काशी-कोशल) से कर लिया करते थे और अपने आधीन लोगों के साथ उस कर से मौज उड़ाया करते थे।

---

४३ Vinaya Texts S. B. E. pt, ii, p. 301 foll.

४४ Jataka, vol I p. 262 foll.

४५ संयुत्त निकाय १, पृष्ठ ८२-८५

वैदिक संस्कृति के तीन आधार

डा० जे० जिरुल्स्की

जिस समय आर्य भारतवर्ष में आये उस समय यहां कई जातियों के लोगों का निवास था। लेकिन कौन कौन सी जातियां यहां बसी हुई थीं उस पर सिरपची करना ठीक नहीं होगा। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से हम उन्हें मुख्यतः दो अनार्य भाषा-भाषियों में विभाजित कर सकते हैं—द्रविड़ और मुण्डा।

इस तरह का विभाग वैदिक संस्कृति की जानकारी के लिये उपयोगी होगा लेकिन फिर भी यह मानी हुई बात है कि भाषा-विज्ञान और लोगों की संस्कृति में घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। वैदिक संस्कृति की उत्पत्ति आदि पर विचार करते समय हमारा नाता उस समय की सभ्यता से हैं न कि भाषाओं से। आर्य सभ्यता की तुलना हम उस समय की एकाधिक अनार्य सभ्यता के साथ कर सकते हैं लेकिन उस अनार्य सभ्यता पर विचार करते समय अवश्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उस समय की सभ्यता का ज्ञान हमें वेद के मन्त्रों और सिन्धु नदी के आस-पास की खुदाई से होता है। मोहनजोदारो की खुदाई से अनार्यों के नगर आदि मिले हैं। उनकी हालत गिरी हुई होने पर भी हम उनकी सहायता से उस समय की सभ्यता का पता लगा सकते हैं। लेकिन अनार्यों के विषय में हमारी जानकारी दूसरी ही है—प्राचीन भारत में कुछ ऐसी अनार्य जातियां थीं जिनकी सभ्यता बिल्कुल गिरी हुई थी। उन्हें हम कदापि सभ्य नहीं कह सकते। ऐसी अवस्था में हरप्पा और मोहनजोदारो की खुदाई पर विचार करने से आश्चर्य होना पड़ता है। अतः उस समय की सभ्यता को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—पहली उच्चकोटि की सभ्यता, इसे हम नागरिक-सभ्यता कह सकते हैं और दूसरी गिरी हुई—इसका कोई नाम नहीं।

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि प्राचीन काल में मुण्डा और द्रविड़ों का प्रभाव आपस में एक दूसरे पर था। उनकी भाषाओं के शब्द आपस में एक दूसरे से मिल-जुल गये हैं, इसलिये एक शब्द (जो दोनों ही भाषाओं में पाया जाता है) की उत्पत्ति पर यह कहना कठिन हो जाता है कि उसका मूल किस भाषा में है—द्रविड़ या मुण्डा ! एक दूसरी बला और आ टपकती है जब यह कहा जाता है कि द्रविड़ और मुण्डा विभिन्न स्थानों में जुदे जुदे न रहकर एक ही जगह आपस में मिल-जुल कर रहते थे[1]। इसलिये उनकी भाषाओं के शब्दों का आपस में एक भाषा से दूसरी में आदान-प्रदान होना कोई आश्चर्य नहीं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वैदिक-युग के प्रारम्भ में भारतवर्ष की

---

१ IHA, vi, p. 146 seq.

सभ्यता तीन प्रकार की थी—(अ) आर्यों की सभ्यता, (ब) नागरिक सभ्यता और (स) द्रविड़ मुण्डा सभ्यता। पहली सभ्यता दूसरी और तीसरी से भिन्न थी क्योंकि वे अनार्य सभ्यताएँ थीं और दूसरी सभ्यता पहली और तीसरी से भिन्न थी क्योंकि वे नागरिक' नहीं थीं। लेकिन जब तक मोहनजोदारो या हरप्पा में प्राप्य लेख अपढ़ रहेंगे तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से दूसरी तीसरी से मिलती थी या नहीं।

द्रविड़ और मुण्डा शब्दों और संस्थाओं से यह पता चलता है कि उनकी सभ्यता कुछ कुछ इन्डोनेशिया (Indonesia) और इन्डोचायना (Indo china) की सभ्यता से मिलती थी। प्राचीन काल में दक्षिणी समुद्र (South Seas) के लोग अच्छे नाविक थे और इसलिये वे एक दूसरे से मिलते-जुलते रहते थे। उनकी भाषा, उनकी प्राचीन कथाओं और सामाजिक संस्थाओं से वे द्वैतवादी सिद्ध होते हैं। ससार दो भागों में विभक्त है—निम्नतर और उच्चतर और इन दोनों विभागों के बीच ससार के प्राणी फैले हुए हैं। निम्नतर विभाग समुद्र और उसके आसपास की भूमि है, और समुद्र से दूर की भूमि और वायुमण्डल उच्चतर विभाग के अन्तर्गत हैं। एक में मछली और सामुद्रिक जीव रहते हैं और दूसरे में पक्षी और जङ्गली जानवर। एक में नाविक या सामुद्रिक लोग रहते हैं और दूसरे में पहाड़ी। उनकी पुरानी कथाओं में इस तरह जल और वायु के प्राणियों में द्वैतवाद दर्शाया गया है जिसे संस्कृत में 'नाग' और 'गरुड़' कहते हैं। इसी पर भारतीय सस्कृति की भित्ति है। जिस प्रकार उच्च जाति के लोग नीच जाति के लोगों की सहायता पाकर खड़े हैं, उनके परिश्रम का फल अधिकतर भोगते रहते हैं और नीच जाति के लोगों के विश्वास आदि पर उनका भी विश्वास हो जाता है, उसी तरह भारतीय सस्कृति की भी दशा है—ब्राह्मण-धर्म, बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म उसी तरह प्राचीन सभ्यता की भित्ति पर खड़े हुए हैं—आस्ट्रोएशियाटिक-द्वैतवाद (Austro-asiatic-dualism) ही उनका आधार है।

मोहनजोदारो की सभ्यता उच्चकोटि की थी। मिश्र देशादि की नागरिक सभ्यता की तरह यहां की सभ्यता बेबिलोन की सभ्यता से मिलती थी। उन प्रदेशों में आपस का लेन-देन भी था[२]। दूसरी ओर द्रविड़ और मुण्डा श्रेष्ठ नाविक थे इसलिये पूर्वीय-द्वीप-समुदायों में वे प्रायः आते जाते रहते थे। उन द्वीपों में धन और गहने के लिये कौड़ी उपयोग किये जाते थे। सिन्धु नदी के आसपास के देशों के साथ पूर्वीय-द्वीप-समुदायों का घनिष्ठ सम्बन्ध था और उनके धन कड़े पत्थरों और धातुओं के बने होते थे। व्यवसाय करते करते एक के धर्म का भी दूसरे पर प्रभाव पड़ता है उसका प्रमाण है मेसोपोटेमिया और सिन्ध के बीच देवी-मूर्त्ति। इसी तरह ज्योतिष विद्या और गणित-शास्त्र की भी चर्चा

---

२ Gadd, seals of Ancient Indian style found at Ur, in proceedings of the B. A., xviii (1933)

उन दिनों में पुरोहितों से होने लगी थी। इनके अतिरिक्त सिन्धुतीर की सभ्यता की एक विशेषता थी वह है शास्त्रसिद्ध-क्रियापद्धति और उनका शोधन। इसके उदाहरण मोहनजोदारो के स्नानागार हैं।

इसके कई वर्षों के बाद आर्य भारतवर्ष में आये। वे पच्चीकारी का काम नहीं जानते थे। नगर बसाने की क्रिया भी उन्हें नहीं मालूम थी, इसलिये उस समय उनकी सभ्यता को हम उच्च-सभ्यता या श्रेष्ठ सभ्यता कदापि नहीं कह सकते। वे वीर योद्धा अवश्य थे और उनके इन्द्र-देव भी एक अच्छे योद्धा थे। उनमें न पुरोहित थे और न वे ज्योतिष विद्या से परिचित थे—गणितशास्त्र की बात तो कोसों दूर थी। वे न चतुर व्यापारी थे और न कुशल नाविक ही। उनके गुण केवल यही थे कि उनका परिवार सुसङ्गठित था और पिता ही उस परिवार का मालिक, पुजारी और शासक था। अग्नि उनके पारिवारिक देव थे। इसलिये उनकी नीति और संस्कारादि अनार्यों से बिलकुल भिन्न थी जिनके यहां स्त्रियों का भी कुछ अधिकार अवश्य था।

ऊपर द्रविड़-मुण्डा, नागरिक और आर्यों की सभ्यता की तुलना की गई है इसलिये उपर्युक्त बातों पर ध्यान देते हुए यह कहा जा सकता है कि वैदिक सभ्यता किसी एक की ऋणी नहीं है। श्रेष्ठ सभ्यता की नींव कई स्थानों की होती है—एथेन्स और रोम क्रमशः इजियन और इट्रस्कन (Etruscans) सभ्यता के ऋणी हैं और उसी तरह हेलेनिस और लैटिनस के।

बड़े बड़े विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया है कि वैदिक धर्म में असमता है। ओल्डेनबर्ग ने आदित्य की पूजा पर बेबिलोनिया का प्रभाव दर्शाया है। बरगाएन (Bergaigne) ने ऋग्वेद में दो विश्वासों का समावेश पाया है—अद्वैतवाद और द्वैतवाद। पहले का सम्बन्ध आदित्य से है और दूसरे का इन्द्र से। अदिति आदित्यों को माता हैं इसलिये आदित्यों से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। वे एक परिवार बनाती हैं जिनमें उनके पुत्रों का नाम उनके मामा की तरह है। अदिति अनैतिस (Anaitis) से भिन्न नहीं हैं जिनकी पूजा मध्यदेशों में हुआ करती थी। अदिति की पूजा बेबिलोन से सिन्ध तक भिन्न भिन्न नामों में होती रही इसलिये सात-वैदिक-आदित्यों और बेबिलोन के सात नक्षत्रों में कुछ सम्बन्ध अवश्य था। आदित्य का सम्बन्ध अनैतस (Anaitus) से है और अदिति का ननइ (Nanai) से ; इसलिये उनकी उत्पत्ति पर विद्वानों को खोज करना चाहिये।

बरगाएन ने ऋग्वेद के मन्त्रों से आकाश, वायुमण्डल और पृथ्वी में एक घनिष्ठ सम्बन्ध पाया है और इसीलिये उन बातों पर विचार कर उसने द्वैतवाद के बारे में कहा है। परन्तु यह भूल न जाना चाहिये कि यह तीन विभागों में एक विश्वब्रह्माण्ड की सृष्टि करता है,—आकाश, वायुमण्डल और पृथ्वी। 'द्यावा पृथिवी' ऋग्वेद में कई बार आया है। यह द्वैतवाद द्रविड़-मुण्डा द्वैतवाद से बिलकुल भिन्न है जिसपर कि हम पहले विचार कर चुके हैं।

इस तरह हम प्राचीन भारत में संसार की परिकल्पना तीन तरह की पाते हैं—(अ) द्रविड़-

मुण्डा द्वैतवाद—जिसे सामुद्रिक कह सकते हैं क्योंकि उसमें समुद्र ही ब्रह्माण्ड का आधा हिस्सा है (ब) आर्यों का द्वैतवाद जिसमें समुद्र के स्थान में आकाश है और (स) जिसमें कि विश्वब्रह्माण्ड की सृष्टि तीन भागों में है।

अदिति और आदित्य ने देवताओं का एक परिवार बनाया था इसे हम नागरिक कह सकते हैं। इन्द्र और अग्नि आर्यों के देवता थे। इनके अतिरिक्त वेद में और भी कई देवताओं के नाम मिलते हैं। रुद्र-शिव, विष्णु और वरुण द्रविड़ों और मुण्डाओं के देव थे। वरुण समुद्र-देव थ क्योंकि उसमें भरु, मरु या वरु धातु मिलते हैं जिनका अर्थ समुद्र से है।

इस छोटे से लेख में इन सब विषयों की अच्छी तरह गवेषणा नहीं हो सकती। ऋग्वेद में सूर्य की कल्पना तीन प्रकार से की गई है—अश्व, पक्षी और रथ या उसके पहिये से (Bergaigne, Ibid, I p 68)। इन मूर्तियों की उत्पत्ति सम्भवतः विभिन्न प्रकार की है। आस्ट्रोएशियाटिक प्राचीन कथाओं में सूर्य एक पक्षी है या वह आकाश की आंख है। मेसोपोटेमिया में नक्षत्र और खास तौर पर सूर्य का बोध पहिये से होता है। आर्यों में अश्व सबसे श्रेष्ठ जानवर गिना जाता था और सूर्य की तीव्र गति के लिये अश्व दर्शाये गये हैं। इस तरह तीन प्रकार की सभ्यताओं के ये चिह्न हैं।

भरु एक प्राचीन अनार्य शब्द है—इसका अर्थ है समुद्र। पाली जातक में वह एक समुद्र-नृपति के नाम के लिये आया है। सागर (समुद्र) का अर्थ नागराज है। यदि समुद्राधिपति को दूसरे धर्म में देवरूप में वरण किया जाय तो स्वभावतः कई नामों में पार्थक्य दीख पड़ेगा। नागरिक सभ्यता में वे असुर या अस्सुर हैं। आर्यों के द्वैतवाद में समुद्र का स्थान आकाश को दिया गया है इसलिये वे आकाशाधिपति हो सकते हैं। इसलिये वरुण (जल या समुद्रदेव) आकाश के देवता बन गये। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय सभ्यता में एक ही देव की परिकल्पना तीन तरह से होने लगी—समुद्रदेव, असुर और अकाशाधिपति।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि वैदिक सभ्यता की उत्पत्ति केवल उस समय की भारतीय सभ्यता के प्रभाव से है। द्रविड़-मुण्डा और नागरिक सभ्यता भारतवर्ष के बाहर फैली हुई थी इसलिये हिन्दूकुश पार करने के पहले ही आर्यों पर उसका प्रभाव पड़ना विचित्र नहीं है। मित्रजी के एक लेख से यह पता चलता है कि इन्द्र का सम्बन्ध पहले से ही प्रथम दो आदित्यों के साथ था। अतः हम यह कह सकते हैं कि वैदिक संस्कृति बहुत पहले की है; हां, भारतवर्ष में आकर वह यहां के लोगों के प्रभाव से और भी पुष्ट हो गई थी और वह संहिता के रूप में आज हमारे सामने विद्यमान है।

यूनानी दार्शनिकों पर भारतीय दार्शनिकों का प्रभाव

श्री अयोध्या प्रसाद, बी० ए०

ग्रीस (Greece) अर्थात् यूनान देश योरोपखण्ड में समस्त ज्ञानविज्ञान का मूल स्रोत समझा जाता है। इतिहास के अध्ययन से यह जाना जाता है कि सबसे पहिले ज्ञानविज्ञान विषयक अनुशीलन योरोपखण्ड के ग्रीस देश से ही आरम्भ हुआ था—पुनः वहाँ से अन्यान्य योरोपीय देशों में उसका विस्तार हुआ था। इसी प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से एशियाखण्ड में ज्ञान विज्ञान का स्रोत भारतवर्ष से ही प्रवाहित हुआ था इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। भारत तथा यूनान में किसकी सभ्यता तथा संस्कृति अधिकतर प्राचीन है इस विषय पर दो मत नहीं हो सकते। पुरातत्त्ववेत्ताओं के अनुसन्धान के आधार पर यह सिद्धान्त निर्विवादरूपेण स्थापित किया जा सकता है कि यूनान की अपेक्षा भारतवर्ष की सभ्यता अधिक प्राचीन है। यह बात प्रसिद्ध है कि यूनान में ज्ञानविज्ञान विषयक अनुशीलन का आरम्भ थेलीज़ (Theles) नामक दर्शनतत्त्ववेत्ता से हुआ था जिनका जन्म ईस्वी सन् से ६४०वर्ष पूर्व हुआ था, अर्थात् आज से २५८१ वर्ष पहले। परन्तु भारतवर्ष में ज्ञानविज्ञान विषयक अनुशीलन का कार्य कब आरम्भ हुआ? इस प्रश्न का उत्तर ऐतिहासिक दृष्टि से देना बहुत ही कठिन है। ईस्वी सन् के कई सहस्र वर्ष पूर्व के सांस्कृतिक चिन्ह सम्प्रति भारतवर्ष में तथा भारतीय साहित्य में उपलब्ध होते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत में सांस्कृतिक विचारधारा का आरम्भ ईस्वी सन् के कई सहस्रवर्ष पूर्व हुआ था जिससे यह निश्चित होता है कि भारतवर्ष की सभ्यता यूनान से अत्यन्त प्राचीन है। अतः भारत में ज्ञानविज्ञान विषयक अनुशीलन यूनान देश की संस्कृति के आरम्भ होने के बहुत ही पूर्व हुआ था।

इतिहास के अध्ययन से इस बात का भी पता चलता है कि प्राचीन काल में भारत और यूनान के साथ पारस्परिक सम्बन्ध था। दोनों देशों में व्यापार होता था तथा साम्राज्य विस्तार के लिये भी यूनान ने एकबार भारत पर आक्रमण किया था। फलस्वरूप बहुत से यूनानी भारत में बस गये थे तथा कुछ भारतवासी भी यूनान में जाकर बसे होंगे। इस प्रकार परस्पर अन्तर्जातीय सम्पर्क होने के कारण दोनों जातियों के अन्तर्गत विचार विनिमय का होना भी एक निश्चित परिणाम है। हां! इस बात को निश्चय पूर्वक अभी तक कहने के लिये ऐतिहासिक उपादान विद्यमान नहीं है कि कब से इन दोनों जातियों में पारस्परिक सम्पर्क का आरम्भ हुआ था। अतः जो हो हम इतना ही मानकर आगे बढ़ते हैं कि प्राचीन काल में भारत तथा यूनान में पारस्परिक सम्पर्क होने के कारण दोनों में

विचार विनिमय पूर्णरूप से हुआ था और उसके परिणामस्वरूप एक जाति के विचार से दूसरी जाति का प्रभावित होना भी सिद्ध ही है। वर्त्तमान युग को हम science अर्थात् विज्ञान का युग कह सकते हैं क्योंकि इस युग में देशदेशान्तरों में वैज्ञानिक सिद्धान्तों का अनुसन्धान तथा चित्र-विचित्र वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रादुर्भाव बड़ी तीव्रता के साथ हो रहा है। इसी प्रकार प्राचीन युग को हम दार्शनिक युग की उपाधि से विभूषित कर सकते हैं और उसका कारण भी स्पष्ट है कि उस युग में नाना प्रकार के दार्शनिक विचारों में ही अधिकतर सभ्य देशों के तत्त्ववेत्ता निमग्न रहा करते थे। भारतवर्ष में कपिल, कणाद तथा जैमिनी और व्यास आदि बड़े बड़े तत्त्ववेत्ता महानुभाव हो गये हैं और यूनान देश में सुक्रात (Socretese), अरस्तातालीस (Aristotle), फलातून (Plato) आदि बड़े बड़े दार्शनिक महापुरुष उत्पन्न हुये थे जिनके विचारों के प्रमाण तत्कालीन सभ्यता तथा संस्कृति ही पर नहीं पड़े वरन् उनके प्रभाव देशदेशान्तरों की विचारधाराओं में अभी तक विद्यमान हैं।

तुलनात्मक दर्शनशास्त्र के अध्ययन से पता चलता है कि भारत तथा यूनान के प्राचीन दार्शनिक विचारों में बहुत ही समता है और इन दोनों देशों की प्राचीनगाथाओं में भी समता पाई जाती है। इन समताओं के कारण पारस्परिक अन्तर्जातीय विचार सम्पर्क का होना निश्चित प्रतीत होता है। दार्शनिक विचारों में जो कतिपय समतायें विद्यमान हैं उनमें से कुछ एक का उल्लेख नीचे किया जाता है :—

१। भारतवर्ष में वेदान्त के अद्वैतवाद का सिद्धान्त अत्यन्त प्रसिद्ध है। अद्वैतवाद दर्शन के मतानुसार एक मात्र ब्रह्म ही निरपेक्ष सत्ता है। यह दृश्यमान जगत् केवल प्रतीतिमात्र है, इसकी कोई स्वयं स्वतन्त्र सत्ता नहीं। ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं, जो कुछ है ब्रह्म ही है और उसके अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं। यूनान देश में भी एलियेटिक (Eleatic) दार्शनिकों के इसी प्रकार के अद्वैतवाद वेदान्त से मिलते-जुलते सिद्धान्त रहे यथा :—

जेनोफेनिस (Xenophanes) का सिद्धान्त था कि जगत् और ईश्वर एक ही सत्ता है दोनों अनादि तथा अपरिवर्त्तनशील हैं।

परमेनाइडीज़ (Parmenides) का मत था कि विश्वव्यापी सत्ता ही एक सत्ता है जो स्वयम्भू तथा नित्य है और सर्वव्यापक है तथा जो पदार्थ अनेक होकर स्थित हो सकते हैं और विकार को प्राप्त कर सकते हैं वे सत् नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त उसका यह भी सिद्धान्त था कि सत्ता तथा विज्ञान एक ही हैं (Thinking and being are one.)

इस समता को देख कर रिचार्ड गार्बे (Richard Garbe) ने लिखा है :—

"Quite remarkable, too, in Parmenides and in the Upanishads is the agreement in style of presentation; in both we find

a lofty, forceful, graphical mode of expression and employment of verse to this end. It is true, the ideas about the illusive character of the emperical world and about the identity between existence and thought are not yet framed into doctrines in the older Upanishads; we only find them in works which doubtlessly are latter than the time of Xenophanes and Parmenides. But ideas from which those doctrines must ultimately have developed are met with in the oldest Upanishads; for it is there that we find particular stress laid upon the singleness and immutability of Brahma and upon the identity of thought (Vigyana) and Brahma. I therefore do not consider it an anachronism to trace the philosophy of the Eleatics to India."

अर्थात्—परमानाइडीज़ (Parmenides) और उपनिषदों में जो अपने २ विषयों के प्रतिपादन करने की शैली में एकरूपता है वह भी पूर्णतया विलक्षण है। दोनों में एक उच्च, शक्ति पूर्ण तथा सुचित्रित विचार व्यक्त करने की रीति तथा इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये छन्दबद्ध लेख का प्रयोग हम पाते हैं। यह सत्य है कि प्राचीन उपनिषदों में इस दृश्यमान जगत् के विषय में इसके मायात्मिक स्वरूप होने के विचार तथा सत्ता और विज्ञान की तत्त्वतः अनन्यता (का विचार) तब तक सिद्धान्तों के रूप में निर्मित नहीं हुये थे, हम उन विचारों को केवल उन पुस्तकों में पाते हैं जो निस्सन्देह जेनोफेनिस (Xenophanes) और परमानाइडोज़ (Parmenides) के काल के पीछे के (लिखे हुये) हैं। परन्तु इस प्रकार के विचार जिससे अन्त में वे विचार विकसित हुये हैं पुराने उपनिषदों में पाये जाते हैं। क्योंकि इन (उपनिषदों) में हम ऐसा पाते हैं कि ब्रह्म की एकता तथा उसके अविनाशी होने पर और ब्रह्म और विज्ञान की अनन्यता पर विशेष जोर दिया गया है इसलिये यदि मैं एलियेटिक (Eleatic) दर्शन के मूलस्रोत की खोज भारतवर्ष (के दर्शन) में करूँ तो ऐसा कहने में मैं समझता हूँ कि मैं कालविषयक कोई अशुद्धि नहीं करता।

२। यूनानियों का आदि दार्शनिक थेलीज़ (Theles) हुआ था, उसका सिद्धान्त था कि जल ही समस्त विश्व का आदि कारण है, जल ही से सब पदार्थों की उत्पत्ति हुई है तथा जल ही में सब पदार्थ लीन हो जायेंगे।

ठीक इसी प्रकार का सिद्धान्त बृहदारण्यक उपनिषद् में भी पाया जाता है यथा :—

"आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः
सत्यमसृजन्त·········"इत्यादि ।

बृहद्० आ० उ० ५, ५, १

अर्थात्—सब से पहले जल ही था और जल ही से इस सत्यात्मक समस्त जगत् की उत्पत्ति हुई है ।

३ । सांख्य दर्शन का मूल सिद्धान्त भी यूनानी दार्शनिकों में पाया जाता है :—

अनैक्सिमैण्डर (Anaximander) का यह विश्वास था कि समस्त पदार्थों का मूल प्रकृति (Primitive matter) है । यह मूल प्रकृति अनादि तथा अव्यक्त है—सब व्यक्त पदार्थ उसी से उत्पन्न होते हैं और अन्त में उसी में लीन हो जाते हैं ; इसी प्रकार अनैक्सिमैण्डर का यह सिद्धान्त था कि ससार प्रवाह रूप से अनादि है (Infinite succession of worlds) तथा संसार में दो परस्पर विरुद्ध सत्तायें हैं । ये सब सिद्धान्त सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों से पूर्णतया मिलते हैं । हीरेक्लिटस के विषय में भी कहा जाता है कि वह सांख्य के सदृश्य विकासवादी था, इसके सम्बन्ध में गार्बे (Garbe) महोदय ने लिखा है :—

"The πάvta Pei of Heraclitus is a suitable expression for the incessent change of the emperical world, set down by the Sānkhya, and his doctrines of the innumerable annihilations and reformations of the universe is one of the best known theories of the Sānkhya system."

—The philosophy of ancient India, p. 34.

अर्थात्—हीरेक्लिटस ने जो यूनानी शब्द (πάvta Pei) का व्यवहार किया है वह सांख्य में प्रतिपादित दृश्यमान जगत् के निरन्तर परिवर्त्तन के लिये उपयुक्त है और उसका यह सिद्धान्त कि विश्व का असंख्य बार विध्वंस और असंख्य बार पुनः सृजन हुआ सांख्य-प्रणाली में वर्णित एक बहुत ही प्रसिद्ध सिद्धान्त है । यूनानी दर्शन के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि यूनान में और भी कतिपय दर्शनतत्ववेत्ता ऐसे थे जिनके दार्शनिक विचार सांख्य शास्त्र के दार्शनिक विचारों से बहुत ही मिलते-जुलते हैं । यूनान में एम्पीडोक्लिस (Empedocleds) नामक तत्ववेत्ता एक बड़े प्रसिद्ध दार्शनिक थे । उनका सिद्धान्त भी सांख्य शास्त्र ही के सदृश्य था अपनी पुस्तक 'भारतवर्ष का प्राचीन दर्शन'—The Philosophy of ancient India—के पृष्ठ ३४—से ३५ तक में गार्बे महोदय ने एम्पीडोक्लिस के सिद्धान्त से सांख्य के सिद्धान्त की तुलना करते हुए ऐसा लिखा है :—

"But most striking is the agreement between the following doctrines of his (i e. Empedocles), "Nothing can arise which has not existed before, and nothing existing can be annihilated," and the most characteristic one of the Sānkhya system about the beginning less and endless reality of all products (Satkār-vāda) or—as we should put it—about the eternity and indestructibility of matter Yet quite apart from this agreement in fundamental doctrine, Empedocles shows in a general surprising similarity to Indian character and Indian modes of view. I take the liberty to cite here the words which Tawney, with no desire of proving a direct dependence of Empedocles on India, uttered in the Calcutta Review, Vol. Lxii. p 79.—

"He has made an approach as a Greek could make to the doctrines of Hindu philosophy. Indeed his personality was as much Hindu as Greek. He was a priest, a prophet, and a physician; he often was seen at magic rites and he was proved to have worked mighty miracles Even in his lifetime he considered himself to have purified his soul by devotion, to have purged away the impurities of his birth, to have become in fact Jīwanmukta (that is one liberated in lifetime)" In addition Tawney points out the fact that there sprang up in Empedocles, from belief in the transmigration of souls, a dislike to flesh as food."

अर्थात्—परन्तु सब से अधिक अद्भुत समता एम्पीडोक्लिस तथा सांख्य शास्त्र के इन सिद्धान्तों में है कि एम्पीडोक्लिस का यह मत था कि "जिसका कभी भाव रहा ही नहीं उसका भाव नहीं हो सकता तथा जिसका भाव है उसका अभाव कदापि नहीं हो सकता"१। और सांख्य का यह विलक्षण सिद्धान्त है कि समस्त कार्यपदार्थों का वस्तुत्व अनादि तथा अनन्त है इसी सिद्धान्त को सत्कारवाद भी कहते हैं, अथवा हम इसे इस प्रकार भी प्रतिपादित कर सकते हैं कि प्रकृति अनादि तथा अविनाशी है। इस समता के अतिरिक्त एम्पीडोक्लिस के आचार तथा उसकी विचारप्रणाली में भी भारतीय आचार तथा विचारप्रणाली से सामान्यतया अद्भुतरूप में समता पाई जाती है। मैं इस स्थल पर टावनी (Tawney) के उन शब्दों को उद्धृत करता हूं जो उन्होंने "कलकत्ता रिव्यू" (Calcutta Review), के खण्ड ५२के पृ० ७९ में प्रकाशित किया था उसमें उनकी इच्छा यह नहीं थी कि

१ नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः—गीता

इस बात को सिद्ध करें कि एम्पीडोक्लिस अपने विचार के लिये भारत पर निर्भर था—वे शब्द इस प्रकार हैं :—

"एक यूनानी की तरह उसकी अर्थात् एम्पीडोक्लिस की पहुंच भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों तक हुई है। वास्तव में उसका व्यक्तित्व जितना यूनानी था उतना ही भारतीय भी। वह एक पुरोहित, एक ईश्वरीय दूत तथा एक वैद्य था। वह प्रायः तन्त्र-मन्त्र के उपचारों को सम्पादन करते हुए देखा जाता था और उसके विषय में यह बात सिद्ध हुई है कि वह अद्भुत कार्य कर सकता था। वह समझता था कि मैं ने अपने जीवन ही में भक्ति द्वारा अपनी आत्मा को पवित्र कर लिया है और अपने जन्मगत विकारों को निवारण कर दिया है और मैं जीवनमुक्त बन गया हूँ"।

इसके अतिरिक्त टावनी ने यह भी उल्लेख किया है कि आवागमन के सिद्धान्त पर विश्वास रखने के कारण एम्पीडोक्लिस के हृदय में मांसभक्षण के प्रति घृणा का भाव सवार हो गया था।

अनक्सागोरस (Anaxagoras) यूनान का एक प्रसिद्ध दार्शनिक था। वह भी सांख्य के द्वैतवाद को मानता था और परमाणुवाद पर उसका दृढ़ विश्वास था। इसके अतिरिक्त वह यह भी विश्वास करता था कि Nothing Can arise from nothing अर्थात् असत् से असत् ही होता है—असत् से सत् की सृष्टि नहीं हो सकती। सांख्य सूत्र १,७८ में भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

एपिक्युरस (Epicurus) का यह सिद्धान्त "Every thing could arise from every thing then" भी सांख्य के सदृश ही है।

इसी प्रकार और भी अनेकानेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे इस विषय का भली भांति स्पष्टीकरण हो सकता है कि प्राचीन यूनानी और प्राचीन भारतीय दार्शनिकों के विचारों में बहुत ही समता थी। परन्तु इन विचारों को समतामात्र से कोई विद्वान् ऐसा परिणाम भी निकाल सकता है कि यूनानी दार्शनिकों के विचारों ही से भारतीय दार्शनिक प्रभावित हुये थे,—ऐसे निर्णय की सम्भावना तो है परन्तु जब हमें उनके विचारों में समता के साथ २ इस बात का भी पता चलता है कि भारतीय दार्शनिकों का काल यूनानी दार्शनिकों के काल से बहुत पहले का है तब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिये बाध्य होना पड़ता है कि यूनानी दार्शनिकों पर ही भारतीय दार्शनिकों के विचारों का प्रभाव पड़ा था। हमारे इस मत से "प्राचीन भारतीय दर्शन" (The philosophy of ancient India) के रचयिता प्रोफेसर रिचार्ड गार्बे (Professor Richard Garbe) भी सहमत हैं जैसा कि उन्होंने अपनी उक्त पुस्तक के पृ० ३७ पर इस भाव को इन शब्दों में व्यक्त किया है :—

It is a question regarding the most careful treatment to determine whether the doctrines of the Greek philosophers, both those here mentioned and others, were really first derived from the Indian world of thought, or whether they were constructed independently of each other in both India and in Greece, their resemblance being by the natural sameness of human thought. For my part, I confess I am inclined towards the first opinion, without intending to pass an apodictic decision.

अर्थात्—क्या यूनानी दार्शनिकों के वे दोनों सिद्धान्त जिनका वर्णन यहां किया गया है और जो नहीं किया गया है, भारतीय विचार-जगत् से लिये गये हैं अथवा यूनान और भारत दोनों देशों में एक दूसरे से स्वतन्त्रतापूर्वक उन सिद्धान्तों का निर्माण किया गया है और चूंकि मानवै जाति के विचार समान हुआ करते हैं इसी कारण उन दोनों में समता पाई जाती है। मैं तो अपने लिये, इस बात को बिना कोई निश्चयात्मक निर्णय स्थिर ,करते हुए स्वीकार करता हूँ कि मेरी अपनी अभिरुचि पहले मत की ओर है (अर्थात् यूनानियों पर भारत का प्रभाव पड़ा था)।

(क्रमशः)

भक्तमाल की एक टीका

(पूर्वानुवृत्ति)

श्री कालिदास मुकरजी

अब इस अङ्क में कुछ बङ्गाली वैष्णवों के बारे में लिखकर इस लेख को समाप्त करता हूँ :—

श्री रघुनाथ गोसाइ जू की टीका

अति अनुराग घर संपत्ति सो रह्यौ पाग
ताहु करि त्याग नीलाचल कियो वास है ॥
धन को पठावे पिता अपै नहि भावै कछु
देखिवो सुहावै महाप्रभु जु के पास है ॥
मंदिर के द्वार रूप सुंदर निहारो करै
लग्यो सीत गात सकलात दइ दास है ॥
सोच संग जायबे की रीति को प्रमाण कहै
वैसे सब जानौ माधोदास सुवरास है ॥३२३॥
श्री महाप्रभु कृष्ण चैतन्य जु को अज्ञा पाइ
आवे वृंदावन राधाकुंड वास लियो है ॥
रहनि कहनि रूप चहनि कही न सकै
थके मुणि तन भाव रूप करि लियो है ॥
मानसी मे दुध भात पायो सरसात हियो
लियो रस नाडी देखि वैद कहि दियो है ॥
कहा लौ प्रताप कहौ आपुही समुझि लेहु
देहु बही रीझि वासो आगे याय जियो है ॥३२४॥

श्री नित्यानंद प्रभु जु की टीका

आपु बलदेव सदा वारुणी सो मत्त रहै
चहै मन मानो प्रेम मत्तताइ चाखिये ॥

सोइ नित्यानंद प्रभु महंत की देही धरि
भरि सब आनि पनितउ अविलाषिये ॥
भयो बोझ भारि क्यौहु जात न संभारी तव
ठौर ठौर पारषद माझ धरी राषिये ॥
कहत कहत और सुनत सुनत जाके
भय मतवारे बहु ग्रंथ ताको साषिये ॥३२५॥

श्री कृष्णचैतन्य महाप्रभु जु की टीका

गोपीन के अनुराग आगे आप हरि श्याम जान्यौ
यह लाल रंग कैसे आवै तन मै ॥
जेते सब गौर तनी नषसीष बनी ठनी
घुल्यौ जो सुरग रंग अंग रगे वन मे ॥
श्यामताइ माझ सो ललाइ हु समाइ योही
ताते मेरे जान फिरि आइ यह मन मे ॥
यशोमति सुत सोइ सचि सुत गौड भय
नय नय नेह चोज नाचै निज गण मे ॥३२६॥
आवे कभु प्रेम हेम पिंडवत तन होत कभु
संधि सधि छुटि अग बढि जात है ॥
और एक न्यारी रीति आसु फिचिकारी मानौ
उभै लाल प्यारी भाव सागर समात है ॥
इसता वषाणि कहा करौ सो प्रमाण याको
जगन्नाथ छेत्र नैन निरषि साक्षात है ॥
चतुरभुज षडभुज रूप लै देषाय दियो
दियो जु अनूप हिय बात पात पात है ॥३२७॥
श्री चैतन्य नाम जुक्त जगत मे प्रगट भयो
अति अभिराम लै महंत देही करी है ॥
जेतो गौडदेश भक्ति लेसहु न जाने कोउ
सोउ प्रेमसागर मे बोरयौ कही हुरी है ॥

भय शिरमौर एक एक जग तारिवे को
　　　　धारिवे कौन साषि पोथिन मे धरी है ॥
कोटि अजामेल वारि डारै कुष्ता पै
　　　　ऐसे हु मगन किये भक्ति भूमि हरि है ॥३२८॥

श्री नारायण भट्ट जू की टीका

भट्ट श्री नारायण जु भय व्रज पारायण
　　　　जहा जहा ग्राम तहा व्रत करि धाये है ॥
बोलिके सुनायो इहा अचुत को स्वरूप है जु
　　　　लीलाकुंड धाम स्याम प्रगट देषाये है ॥
ठौर ठौर रास विलास लै प्रकास कियो
　　　　जियो यो रसिक जन कोटि सुष पाये है ॥
मथुरा ते कहि चल्यौ वेनी पुछ्यौ वेनी कहा
　　　　उचे गाव आइ षोदि सोत श्रै ल्याये है ॥३५२॥

श्री रूप सनातन जू की टीका

कहत वैराग गये पागि नाभा स्वामी वै
　　　　गइयोनिवरतुक(?)पाच लागि आच है ॥
रहि एक माफ धरयौ कोटिक कवित्व अर्थ
　　　　वाही ठौर लै दिषायो कविता को साच है ॥
राधाकृष्ण रस की आश्चर्य्यता कही है यामे
　　　　सोइ जोवनाथ भट्ट छप्पै वानी नाच है ॥
वडे अनुरागी वै तो कहिवो वडाइ काहा
　　　　यहा जानि कृपादृष्टि प्रेम पोथी वाच है ॥३५३॥
वृंदावन ब्रजभूमि आन तन कोइ प्राय दइ
　　　　दरसाइ ऐसी सुकसुख गाइयै ॥
रीतिहु उपासना की भागवत अनुसार लियो
　　　　रससार सो रसिक सुखदाइयै ॥

अज्ञा प्रभु पाइ पुनि गोपीश्वर क्यो आइ
किये ग्रंथ भाइ भक्ति भाँति सब पाइये ॥
एक एक बात मे समात मन बुद्धि जब
पुलकित गात दृग भरो सि लगाइये ॥३५४॥

....

रहे श्री सनातन जु नंदगाव पावन मैं
आव न देव सतीनि दुध लै कै प्यारिये ॥
स्यामरो किशोर आये पुछै किहि वोर रहौ
कहौ चारि भाइ पिता रीति हु उचारिये ॥
गय ग्राम बुन्कि घर कहु पै न पायो हरि
बहुदिश हेरि हरि नैन भरि डारिये ॥
अबकी यो आवै फिरि जान नहि पावै
शीश लाल पाग भावै निसिदिन उर धारिये ॥३५८॥
कहि व्याली रूप वेणी निरषि स्वरूप नैन
जानि श्री सनातन जु काव्य अनुसारिये ॥
राधासर तीर द्रुमडार गहि झुले फुले
देषि तल फल फान गति मति वारिये ॥
आये यो अनुज पास फिरौ आसपास
देष भयो अति त्रास गहै पाव उरधारिये ॥
चरित अपार उभै भाइ हित स र फो
जगे जग माहि मति मान मे उचारिये ॥३५९॥

श्री हरिवंस गोसाइ जू की टीका

हित जु को रिति को उलापति मे एक जाने
राधाइ प्रधान मानै पाछे कृष्ण ध्याइये ॥
निपट विकट भाव होत न सुभाव एसो
उनही कि कृपा दृष्टि नेक क्यौहु पाइये ॥
विधि ओ निषेध छेद डारे प्राण प्यारे
हिये जीवे निजदास निसदिन वही गाइयें ॥

सुघर चरित्र सब रसिक विचित्रनि को

जानत प्रसिद्ध कहा कहि कै सुनाइयै ॥३६० ॥

....

श्री जीव गोसाइ जू की टीका

किये नाना ग्रंथ हृदै ग्रंथि दिढ छेदि डारै

डारै घन यमुना मैं आवै चहु ओर ते ॥

कही दास साधु सेवा कीजै कहि पात्रता न करौ

नीके करि वोल्यौ कटु कोप जोर ते ॥

तव समुझायो संत गौरव वढायो यह

सवको सिखायो वोल्यौ मीठो निशि भोर ते ॥

चरित अपार भाव भक्ति को न पारावार

कियोहु वैराग सार कहै कौन छोरते ॥३७० ॥

श्री गोपाल भट्ट गोसाइ जू की टीका

श्री गोपाल भट्ट जू के हिये वैरि लाल सवै

लसै यो प्रगट राधा रमण स्वरूप है ॥

नाना भोग राग करै अति अनुराग पगे

जगे जग माहि हित कौतुक अनूप है ॥

वृंदावन माधुरी अगाध को सवाद लियो

जियो जिनि पायो सीत भय रस रूप है ॥

गुणही को लेत जीव औगुण को त्यागि देत

करुणा निकेत धर्मसेत भक्त भूप है ॥३७१॥

श्री लोकनाथ गोसाइ जू की टीका

महाप्रभु कृष्णचैतन्य जू के पारिषद

लोकनाथ नाम अभिराम सब रीति है ॥

राधाकृष्ण लीला सो नवीन मे रंगीन मन
जल बिनु मीन जैसे निशिदिन प्रीति है ॥
भागवत गाण रस खाण सो तो प्राण तुल्य
अति सुख मानि कहै गावै योइ नीति है ॥
रास के प्रवीण प्रभु चलत चरण लागी
कृपा के बताइ दइ जैसी नेह नीति है ॥३७४॥

श्री मधु गोसाइ जू की टीका

श्री मधुगोसाइ आये वृंदावन चाह बढी
देषौ इनि नैननि सो कैसो धो स्वरूप है ॥
ढूढत फिरत वन वन कुंजलता द्रुम
मिटो भुख प्यास नहि जानै छाह धूप है ॥
जमुना चढत काट कर तकरार जहा
वंशी वट तट दीठि परे वै अनूप है ॥
अंक भरि लियो दौरि अजहु लै शिरमौर
चाहे भाग भाल साथ गोपीनाथ रूप है ॥३७५॥

श्री कृष्णदास ब्रह्मचारी जू की टीका

गोसाइ श्री सनातन जू मदनमोहन रूप
माथे पधराइ कही सेवा नीके कीजियै ॥
जानौ कृष्णदास ब्रह्मचारी अधिकारी भये
भट्ट श्री नारायण जु शिष्य किये रीझियै ॥
करिकै सिंगारु चारु आपुहि निहारी रहै
गहे नहि चेत भाव माझ मति भीजियै ॥
कहा लौ बषाण करौ राग भोग रीति भाति
अवलौ विराजमान देषि देषि जीजियै ॥३७६॥

श्री गोसाइ काशीश्वर जू की टीका

श्री गोसाइ काशीश्वर आगे अवधूत वर
करी प्रीति नीलाचल रही लग्यौ नीको है ॥

महाप्रभु कृष्णचैतन्य जू की आज्ञा पाइ
　　　　आये वृंदावन देषि भायो भयो जी को है ॥
सेवा अधिकारी पायो रसिक गोविंद चंद
　　　　चाहत मुखारविंद जीवन जो जी को है ॥
नितही लड़ावे भाव सागर बढ़ावै
　　　　कौन पारावार पावै सुने लागै जग फीको है ॥१९३॥

आलोच्य हस्तलिखित प्रति में उपर्युक्त वैष्णवों के अतिरिक्त दूसरे वैष्णवों की भी भक्ति की महिमा सूचक बातें दी हुई हैं। अन्त में केवल यही कहना है कि इस लेख में हस्तलिखित प्रति में जो पाठ मिला वही दिया गया है, कहीं किसी शब्द को सुधारने की चेष्टा नहीं की गई ; हां, जहां सन्देह-जनक समस्या आ उपस्थित हुई थी वहां वैसे शब्दों को कोष्ठक में दे दिया हूँ। बाबू श्यामसुन्दर दास जी की भाषा में यह कहना है कि मैंने आजकल की प्रचलित परिपाटी के अनुसार (उन्हें) खराद पर चढ़ाकर सुडौल, सुन्दर और पिङ्गल के नियमों से शुद्ध बनाने का कोई उद्योग नहीं किया।

वाहीक-बाल्हीक

कुमारी पद्मा मिश्रा, एम० ए०

संस्कृत के व्याकरण और साहित्य के ग्रन्थों में बहुधा वाहीक देश और वहां के निवासियों का वर्णन मिलता है। इस वाहीक की स्थिति आदि के अनुसन्धान की ओर विद्वानों का ध्यान बहुत पहले ही आकृष्ट हुआ था। दिवङ्गत जायसवाल जी[1] ने वाहीक देश पर अपने विचार प्रकट करते हुए एस० लेवी[2] का उल्लेख किया है जो उनसे पहले इस समस्या पर कुछ प्रकाश डाल चुके थे। इन दोनों महानुभावों ने महाभारत के कर्ण पर्व[3] के अनुसार आधुनिक पंजाब को वाहीक देश माना है। जायसवाल जी का कहना है कि सिन्ध का कुछ भाग भी वाहीक के अन्तर्गत था। कर्ण पर्व में लिखा है कि शतद्रु, विपाशा, इरावती, चन्द्रभागा, वितस्ता और सिन्धु नदियों से सींचे गये प्रदेश को वाहीक कहते हैं[4] और यह देश गङ्गा, यमुना, सरस्वती, कुरुक्षेत्र और हिमालय से बहिष्कृत था[5]। इस प्रकार महाभारत के अनुसार तो पंजाब का प्राचीन वाहीक होना निश्चित ही है। अब देखना यह है कि दूसरे किसी ग्रन्थ से इसकी पुष्टि होती है या नहीं। इसके लिये हमें असाधारण वैयाकरण पाणिनि के सूत्रों की शरण लेनी होगी। पाणिनि ने शुद्ध शब्दों की सिद्धि के लिये जो सूत्र दिये हैं उनमें बहुधा देशों के नाम भी प्रसङ्ग में आ गये हैं। ये सूत्र प्राचीन इतिहास के लिये बड़े महत्व के हैं और इनकी सहायता से बहुत से प्राचीन देशों की स्थिति का ठीक ठीक पता चल गया है। ऐसे ही दो सूत्रों में वाहीक का उल्लेख भी पाणिनि ने किया है[6]। उनकी व्याख्या करते समय महाभाष्यकार पतञ्जलि और काशिकाकार वामन तथा जयादित्य ने वाहीक देश के कुछ गांवों के नाम भी दिये हैं। इन से यह तो स्पष्ट नहीं होता कि पाणिनि या पतञ्जलि के समय में वाहीक किस प्रान्त का नाम था, पर इतना स्पष्ट है कि वह पंजाब में ही था। वाहीक देश के अन्तर्गत आयुधजीवी सङ्घों के उदाहरण में

---

१ हिन्दू पोलिटी, वोल्यूम १, पृष्ठ ३८

२ इंडियन एंटिक्वेरी, वोल्यूम १५, पृ: १७-१८

३ महाभारत, कर्णपर्व, अध्याय ४४ और ४५

४ महाभारत, कर्णपर्व अध्याय ४४, श्लोक ३१-३२

५ महाभारत. ८, ४४, ६-७

६ अष्टाध्यायी, ४, २, ११७; ५, ३, ११४

काशिकाकार ने मालव और क्षुद्रक आदि जिन जातियों के नाम दिये हैं वे उस समय पञ्जाब में थीं, यह हमें अन्य ग्रन्थों से मालूम ही है। इन्हीं को ध्यान में रख कर दिवंगत सर आर० जी० भण्डारकर ने कहा था कि पाणिनि और पतञ्जलि के समय पञ्जाब को वाहीक कहते थे[७]। श्रीयुत वासुदेव शरण अग्रवाल ने महाभाष्य और काशिका में दिये हुए वाहीक के गांवों की पञ्जाब के कुछ नगरों और गावों से अनन्यता (identity) स्थापित की है[८]। महाभारत में तो पञ्जाब और वहां के निवासियों के लिये केवल वाहीक ही नहीं—जर्तिका,[९] आरट्ट[१०] और पाञ्चनद[११] नाम भी मिलते हैं।

यहां यह विचारणीय है कि महाभारत आदि कुछ ग्रन्थों, पुराणों तथा शिलालेखों में बहुधा वाल्हीक, बाल्हिक और बाल्हीक भी मिलता है। क्या वाहीक और बाल्हीक दो भिन्न देश थे? अथवा यह बाल्हीक वाहीक का रूपान्तर है या नामान्तर—अर्थात् वाहीक का अशुद्ध रूप है या आरट्ट आदि की भांति प्रचलित दूसरा नाम? इसे लेखकों की असावधानी के परिणाम स्वरूप अशुद्धरूप तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि महाभारत के कुम्भकोणम् के संस्करण में बराबर बाल्हीक ही मिलता है। बङ्गला संस्करण में सभा[१२] और भीष्मपर्व[१३] में बाल्हीक और कर्ण पर्व में पहले एक जगह बाल्हीक[१४] और सब स्थानों में वाहीक है। यही हाल बम्बई के संस्करण का है, उसमें केवल यह विशेषता है कि कर्णपर्व में सब जगह वाहीक ही है। रामायण में भी प्रत्येक संस्करण में बाल्हीक ही है और इसका कोई पाठान्तर भी कहीं नहीं दिया है। यह नहीं कहा जा सकता कि वाहीक और बाल्हीक दो भिन्न भिन्न देश थे क्योंकि वर्णनों से दोनों एक ही प्रतीत होते हैं फिर इस नाम-विपर्यय का क्या कारण हो सकता है? ऐसा अनुमान होता है कि प्रारम्भ में वाहीक नाम ही प्रचलित था, जैसा कि अष्टाध्यायी और महाभाष्य में है। लेकिन जब ईसवी सन् के बल्ख के रहने वाले कुषाण भारत में आये और पञ्जाब में फैल गये तो उनके अधिकृत प्रदेश के लिये उनका बल्ख से सम्बन्ध दिखाने के लिये बाल्हीक का प्रयोग होने लगा। पञ्जाब का प्राचीन नाम पहले वाहीक था, यह हम ऊपर देख ही चुके हैं और पहले पहल कुषाण पञ्जाब में आये थे

---

७ इण्डियन एंटिक्वेरी, वोल्यूम १, पृ० २९

८ Indian Culture, vol. VI, p 129ff

९ महाभारत, ८, ४४, १०

१० ,, ८, ४४, २२

११ ,, ८, ४५, २९ और ३८

१२ ,, २, २७, २२

१३ ,, ६, ९, ४६ और ५४

१४ ,, ८, ४४, ५

१५ वा० रामायण, २, ६८, १८

इससे बल्ख निवासी कुषाणों के सम्पर्क से वाहीक बाल्हीक भी कहलाने लगा था। कर्ण पर्व में दिये गये वाहीकों के वर्णन से भी इस अनुमान की पुष्टि होती है। वाहीक के निवासियों के आचार विचार आर्यों से बिल्कुल विपरीत थे और स्थान स्थान पर आर्यों को उनसे अलग रहने का उपदेश दिया हुआ है; उनके यहां वर्ण-व्यवस्था भी कड़ी न थी क्योंकि वर्ण-विपर्यय भी हो जाता था। उनके वस्त्र भी कम्बल के बने बताये गये हैं। इस से यह स्पष्ट है कि वे शीतप्रधान देशों के रहने वाले थे। उनका बल्ख से सम्बन्ध दिखाने के लिये कुषाणों को बाल्हीक कहा जाता होगा। सम्भव है उनके अधिकृत प्रदेश का नाम भी उनके ही ऊपर पड़ गया हो। धीरे धीरे वाहीक के साथ बाल्हीक नाम का भी प्रचार होने लगा और यह गड़बड़ी कुछ दिनों में इतनी बढ़ी कि कहीं उस देश के लिये वाहीक और कहीं बाल्हीक का प्रयोग होने लगा था। यहां तक तो वाहीक और बाल्हीक के सम्बन्ध की चर्चा रही। अब वाहीक देश के अन्तर्गत जो सङ्घ थे उनके बारे में विचारणीय[१६] है। पाणिनि ने जिस सूत्र में वाहीक का उल्लेख किया है उसका सारांश है कि वाहीक देश में जितने आयुधजीवी सङ्घ थे उनमें ब्राह्मण और राजन्य को छोड़कर सब में ञ्यट् प्रत्यय जोड़ा जाय। अब प्रश्न यह है कि ब्राह्मण और राजन्य का यहां क्या तात्पर्य है? क्या वे वर्णवाचक हैं या जातिवाचक? यदि ब्राह्मण और राजन्य नाम की कोई जाति उस समय रही हो तो यहां उसका ही ग्रहण होना चाहिये। आयुधजीवी सङ्घों के लिये यह नियम दिया गया है और उसी प्रसङ्ग में ब्राह्मण और राजन्य का निषेध किया है। इसका तो स्वाभाविक अर्थ यही होता है कि ब्राह्मण और राजन्य भी आयुधजीवी सङ्घ थे। आयुधजीवी सङ्घ से तात्पर्य उन जातियों से है जिनमें सङ्घ के ढंग से (प्रजातन्त्र) शासन होता था और सेना को सबसे अधिक श्रेय दिया जाता था।

अब देखना यह है कि क्या ब्राह्मण और राजन्य जाति का और कहीं उल्लेख है? पतञ्जलि ने महाभाष्य[१७] में एक स्थान पर लिखा है 'ब्राह्मणको नाम जनपदः' अर्थात् ब्राह्मण नाम का जनपद। जनपद भी एक प्रकार का राज्य का विभाग था[१८]। ब्राह्मणक पाणिनि के अनुसार एक व्यक्तिवाचक संज्ञा है[१९] और काशिकाकार के अनुसार यह उस देश का नाम था जहां पर आयुधजीवी ब्राह्मण रहते थे। ब्राह्मण का निषेध पाणिनि ने आयुधजीवी सङ्घ के प्रकरण में दिया है। इससे यह निर्विवाद है

---

१६ ५, ३, ११४

१७ महाभाष्य, वौल्यूम २, पृष्ठ २९८

१८ कारमाइकेल लैक्चर्स, पृष्ठ १९८

१९ अष्टाध्यायी ५, २, ७१

कि पाणिनि के समय में ब्राह्मण नाम की जाति वाहीक देश में थी और उनकी घटना सङ्घात्मक थी। यह धारणा तब और भी दृढ़ हो जाती है जब यूनानी इतिहासकारों के वर्णन में हम ब्राह्मण जाति का उल्लेख पाते हैं। सिकन्दर जब माल्वों पर आक्रमण करने जा रहा था उस समय उसने पहले ब्राह्मणों के एक नगर को जीता था२०। इस प्रकार देशी और विदेशी विद्वानों के वर्णनों के अनुसार हम देखते हैं कि ब्राह्मण एक विशेष जाति थी।

अब राजन्य को लीजिये। पाणिनि के अनुसार राजन्यक शब्द की सिद्धि होती है, जिसका अर्थ उनके सूत्रों को दृष्टि में रखते हुए होता है—वह देश जो राजन्यों के अधिकार में हो। इससे स्पष्ट है कि राजन्य किसी जाति का नाम था और पाणिनि के समय में वाहीक के आयुधजीवी सङ्घों में था तभी तो ब्राह्मण के साथ इसके भी निषेध की आवश्यकता पड़ी थी। राजन्यों के बारे में हमारे पास सबसे बड़े प्रमाण हैं उनके सिक्के। कुछ ऐसे सिक्के मिले हैं जिनमें किसी पर खरोष्ठी में और किसी पर ब्राह्मी लिपि में 'राजन्य जनपदस' खुदा हुआ है२२। ये सिक्के ईसा से पूर्व पहली या दूसरी शताब्दी के बताये गये हैं। राजन्य का अर्थ स्मिथ ने क्षत्रिय दिया है, पर क्षत्रिय से यहां कुछ अर्थ नहीं निकलता। राजन्य नाम की एक जाति थी जिनके यहां जनपद नाम की शासन-प्रणाली के अनुसार राज-काज होता था२३। इस प्रकार ब्राह्मण और राजन्य नाम की दो जातियां थीं यह स्पष्ट है। ये दोनों पाणिनि के समय में वाहीक देश में थीं और इनकी गणना आयुधजीवी सङ्घों में होती थी।

---

२० Mc. Crindle—Invasion of India by Alexander the Great p. 143ff 293

२१ अष्टाध्यायी ४, २, ५२-५३

२२ Smith—Catalogue of coins in Indian Museum p. 164, 179

२३ Dr. Bhandarkar—Manindra chandra Nandi lectures, 1925, p. 119-120

कोऽहम् ?

श्री मत्स्वामीजी श्रीशङ्करतीर्थ जी महाराज

"मैं" कौन हूँ ? यह कथा बड़ी जटिल है—प्रश्न कठिन है। गम्भीर चिन्ताशील सांख्यविद् लोग इस तत्व की मीमांसा करने के लिये विराट् पुरुष को चतुर्विंशति भागों में विभक्त कर देखे हैं कि वे चौबीस तत्वों के एक भी "मैं" नहीं हैं। 'मैं' उस चौबीस तत्वों से अतीत है। हम हर एक जीव विराट् पुरुष के अंश विशेष होकर भी और उनके अन्दर बसते हुए भी उनको नहीं जानते। कुरुक्षेत्र युद्ध काल में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिव्य नेत्र देकर स्वय विभूतिरूप विराट् स्वरूप दिखलाया था। उस समय श्रीभगवान् बोले :—

> "त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
> मोहितं नाभि जानाति मामेभ्यः परमव्ययम्"। (७।१३)

अर्थात् सत्व, रजः, तमः ये तीन गुणमय भावों से यह जगत् मुग्ध है। उसी गुणत्रय को अतिक्रम करके वे भावों के अतीत एवं उसी के नियन्त्रास्वरूप निर्विकार आत्मा को ज्ञात होने में समर्थ नहीं होते। अब इन तीन गुणों को अतिक्रम करने के लिये कोई उपाय हुआ है या नहीं देखना चाहिये। सत्शास्त्रों का आदेश है कि 'तत्व-विचार' द्वारा मोह नष्ट होता है। तत्व विचार करने को प्रणाली भी शास्त्रों में है। जो लोग विराट् देह को चौबीस तत्वों के विचार से कुछ भी निराकरण नहीं कर सकते वे कोष विचार से चेष्टा करेंगे। कोष शब्द का अर्थ आधार या आवरण अर्थात् आच्छादक है। सब के उपर्युपरि पांच कोष हैं, यथा—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। "मैं" नामाभिधेय पदार्थ उन पंचकोषों से ढका हुआ रहता है। एक एक करके इन पञ्चकोषों का आवरण मोचन कर सकने से ही "मैं" वस्तु का सन्धान मिलेगा।

हमारा यह शरीर सर्वापेक्षा बाह्यतम आवरण है। यह है हमारा पञ्चमकोष। "मैं" नामक पदार्थ इस अन्नमय कोष के अभ्यन्तरस्थ और भी चार आवरणों से आवृत है। यह अन्नमय कोष भुक्त अन्नरस से उत्पन्न होकर अन्नरस से ही विशेषरूप से वर्द्धित और पुष्ट होता है इसलिये इसका नाम 'अन्नमय कोष' है। क्योंकि यह शरीर कोषवत् या आवरणवत् आत्मा का आच्छादक है इस कारण यह 'कोष' कहा जाता है। अन्न का विकार होकर आत्मा को आच्छादित करने से इसको 'अन्नमय कोष' कहते हैं। "कोषवत् आच्छादकत्वात् कोष इत्युच्यते। अन्नविकारत्वे सति आत्मानम् आच्छादयति यथा कोषः खड्गम् आच्छादयति, यथा तुषस्तण्डुलमाच्छादयति, यथा वा गर्भं जरायुः आवरयति तथा।"

पञ्चीकृत पञ्चभूत और पञ्चतन्मात्र अर्थात् क्षिति, अप, तेजः, मरुत् और व्योम् नामक पञ्चस्थूलभूत एवं उन भूतों के सूक्ष्म गुण यथाक्रम गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द नामक सूक्ष्म पञ्चभूत द्वारा इस देह की रचना हुई है। ये स्थूल और सूक्ष्म भूत उत्पन्न और नाश होते हैं और ये प्रत्यक्ष देखने में आते हैं।

इसके बाद प्राणमय कोष है। यह है हमारा चतुर्थ कोष। यह कोष प्राणादि चतुर्दश वायु से गठित है। वे अन्नमय कोष में स्थित होकर चतुर्दश इन्द्रियों को चलाते हैं। सुबालोपनिषद् के नवम खण्ड में १४ वायु १४ इन्द्रियों के चालक कहे गये हैं—प्राण नेत्र का, अपान कर्ण का, व्यान नाक का, उदान जिह्वा का, समान त्वचा का, वैरम्भ वाक् का, मुख्य हस्त का, अन्तर्य्याम पाद का, प्रभञ्जन वायु का, कुमार उपस्थ का, श्येन मन का, कृष्ण बुद्धि का, श्वेत अहङ्कार का और नाग चित्त का। "प्राणादि चतुर्दशवायुभेदा अन्नमय कोशे यदा वर्त्तन्ते, तदा प्राणमयः कोश इत्युच्यते" (सर्वसारोपनिषद्)। क्रियाशक्ति सम्पन्न कार्यरूप प्राणमय कोष है। कोई कहते हैं—वाक्य, हस्त, पाद, वायु और उपस्थ इन पञ्चकर्मेन्द्रियों और नासिका, जिह्वा, चक्षुः, त्वचा और कर्ण इन पञ्चज्ञानेन्द्रियों से प्राणमय कोष बना है। प्राण इसके अन्तर्भुक्त रहने से इसको 'प्राणमय कोष' कहते हैं। "प्राणादि पञ्चवायवे वागादीन्द्रियपञ्चक प्राणमयः"। वृत्ति या अवस्था भेद से मुख्य प्राण पञ्चविध हैं—यथा, प्राण-अपान-समान-उदान-व्यान। ये पांच प्राणों के नाम से प्रसिद्ध हैं और जीव के नखाग्र से केशाग्र पर्यन्त व्याप्त रहकर शरीर में शक्ति सञ्चार करते हैं एवं रजो गुणान्वित कर्मेन्द्रिय समूह को विभिन्न कर्मों में नियुक्त करते हैं। देहस्थ वायु बाहर में जाकर और बहिःस्थ वायु देह के अन्दर प्रवेश करके सर्वदा निश्वास प्रश्वास प्रचलित रहकर देह रक्षा पा रहा है, उसी का नाम "प्राण" वायु है। यह ऊर्द्धगमनशील है। यह हृदय में रहता है। अपान वायु गुह्यदेश में रहता है। देह से मल मूत्र निकालकर देहाभ्यन्तर साफ करना उसका कार्य है। यह अधोगमनशील है। समान वायु नाभिदेश में स्थित रहता है। भुक्तद्रव्यादि परिपाक कर देह पोषण करना इसका धर्म है अर्थात् भुक्त और पीत अन्न और पानादि परिपाक द्वारा रस निकाल कर नाड़ी द्वारा सारे शरीर में पहुँचाना और भुक्तद्रव्य के सार और असार भाग को विभक्त करके रक्त, शुक्र और मुत्र आदि प्रस्तुत करना इसका कर्म है। व्यान वायु का स्थान सर्वाङ्ग है। इसका कार्य शरीर के ग्रन्थिस्थानों में आना जाना, आकुञ्चन प्रसारण, अन्नभुक्त रस को सर्वाङ्ग में संचालित करना एवं क्षत या दूषित स्थान को संशोधन करना है। यह सभी नाड़ियों में गमनागमनशील है। उदान वायु कण्ठदेश में रहता है। इसका धर्म भक्ष्य और पानीय द्रव्यादि को उदरस्थ करके विभाग कर देना और वमन, हिक्का, उद्गार, स्वप्न प्रभृति एवं पीड़ित या क्रम अन्नमय कोष से अर्थात् इस देह से जीव को निष्काशन कर देना है। यह भी उर्द्धगमनशील है।

"हृदिप्राणःस्थितो नित्यमपानो गुदमण्डले।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः!

व्यानः सर्वशरीरे तु प्रधानाः पञ्चवायवः" ।

सङ्कल्प विकल्पात्मक मनः ही 'मनोमय कोष' शब्द वाच्य है। हम जितने प्रकार की भावना चिन्ता करते हैं तत्तावत् इसी कोष की सहायता से सम्पादित होता है। बाह्य जगत के सुख-विषयसमूह सामने प्रत्यक्ष न रहने से भी हम इसी मनोमय कोष की सहयता से नानाविध सुख पा सकते हैं। स्वप्न दर्शन व्यापार भी इस कोष की सहायता से सङ्घटित होता है। जिस समय आत्मा शब्दादि विषयों की सङ्कल्पादि करते हैं उस समय इस कोष का प्रकाश होता है। "एतत् कोशद्वयसंसक्तं मन आदि चतुर्दशकरणैः आत्मा शब्दादिविषयसङ्कल्पादीन् धर्मान् यदा करोति, तदा मनोमयः कोश इत्युच्यते" (सर्वसारोपनिषद्)। अपिच प्राणमयकोषस्थ पञ्चकर्मेन्द्रियां और पञ्चज्ञानेन्द्रियां इन दस इन्द्रियों के अधिपति हैं 'यम'। कोई कोई कहते हैं कि चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक् इन पञ्चज्ञानेन्द्रियों के साथ मिला हुआ मन ही 'मनोमय कोष' है। "ज्ञानेन्द्रियाणि च मनश्च मनोमयः स्यात्"। यह 'सङ्कल्पात्मा' है, इसका अधिपति मनः है। यहां तक विचार के बाद जाना गया है कि सुषुप्ति समय में मन नहीं रहता, परन्तु "मैं" रहता है। अतः प्राणमय तथा मनोमय कोष भी 'मैं' नहीं है। "मैं" तदरिक्त कुछ दूसरी ही वस्तु है।

"न मनस्त्वं न वा प्राणो जड़त्वादेव चैतयोः।
गतमन्यत्र मे चित्तमित्यन्यत्वानुभूतितः॥"
"अमनस्त्वान्न मे दुःख रागद्वेष भयादयः।
अप्राणोह्यमनाः शुभ्र इत्यादि श्रुतिशासनात्॥"

विज्ञानमय कोष। सात्विक ज्ञानेन्द्रिय अर्थात् अहङ्कार एवं निश्चयात्मिका बुद्धि ही 'विज्ञानमय कोष' है। अर्थात् पूर्वोक्त तीन कोषों का ज्ञान जिससे होता है वह है विज्ञानमय कोष। यह 'कालात्मा' है, इसका अधिपति बुद्धि है। हमारे स्थूल देह में जो अनुभव होता है, इसी कोष के सहारे से हुआ करता है। बुद्धि से मैं हूँ इतना ही अनुभव होता है। अहङ्कार तत्व के प्रभाव से वह मैं भाव इसी सार्द्ध-त्रिहस्तपरिमित देह में सीमाबद्ध अनुभूत होता है। यह अहङ्कार तत्व यदि न रहता तो 'मैं' और तुम बोध नहीं हो सकता। इस कारण वेद में सूक्ष्मशरीराभिमानी जीव को तैजस अर्थात् व्यष्टि कहा गया है, एवं सूक्ष्मशरीराभिमानी ईश्वर को हिरण्यगर्भ अर्थात् समष्टि कहा है। तैजस जीव उसी तत्व को नहीं जानते—वे अहङ्कार तत्व के प्रभाव से औरों से अपने को भिन्न रूप देखते हैं, इसलिये उसी को व्यष्टि कहते हैं।

(अगले अंक में समाप्त होगा)

विविध-विषय

(१)

पुत्र पर वैज्ञानिक विचार

श्रुति कहती है "पुत्रान् विन्दामहै" हम पुत्रों को लाभ करें। जिन्हें पुत्र नहीं होता वे अपनी धन-प्रतिष्ठा तुच्छ समझते हैं। उन्हें रातदिन यही चिन्ता रहती है कि हमें कम से कम एक पुत्र हो जाय। इसका उत्तर आयुर्वेदवेत्ता यह देते हैं कि पुत्र की उत्पत्ति तीन माता की और तीन पिता की तथा एक दोनों की शारीरिक रक्तमांसादि वस्तुओं से होती है। अतएव पुत्र माता पिता का रूपान्तर है। वे पुत्र रूप से मर कर जीते रहना चाहते हैं। जीवमात्र की स्वाभाविक इच्छा बराबर जीवित रहने की होती ही है। हमारी समझ में यह बात लड़के के प्रति स्वाभाविक प्रेम के बारे में कही जा सकती है कि जननी जनक अपने पुत्र से स्वाभाविक तथा सर्वाधिक प्रेम क्यों करते हैं ? वह दोनों का अपना रूप है। अपने में सबों का स्नेह होता है।

सर्वसाधारण की धारणा यह है कि तनय बुढ़ापे में अपने माता पिता का पालन अथवा सेवा करता है—इस ध्यान से सब तनय चाहते हैं। यह भी ठीक नहीं क्योंकि जिसके पास धन-सम्पत्ति और सेवक हैं वह क्यों पुत्र चाहता है ?

संतान के लिये संस्कृत-साहित्य में वंश और अन्वय शब्द मिलते हैं। इनमें वंश का अर्थ बांस होता है और अन्वय का अर्थ सम्बन्ध तथा पश्चात् प्राप्ति है। जिसने बांस की भांति एक वंश उत्पन्न कर दिया उसका वंश बराबर बढ़ता गया। सम्बन्ध टूटने नहीं पाया। माता पिता के दर्शन उनके स्वर्गगत हो जाने पर भी लोगों को संतान में होते रहते हैं। संतान, सन्तति तथा तनय ये पर्यायवाचक हैं, इनमें विस्तार अर्थ वाला तन् धातु है। पुत्र से कीर्ति तथा नाम का विस्तार होता है।

इतिहास पढ़ने वाले जानते हैं कि बहुत से विद्वान् अथवा वैज्ञानिक मर गये हैं। उनकी कीर्ति विद्यमान है। उनका सम्बन्ध दुनिया से है। उनका आदर समाज में है और वे लाखों करोड़ों पुत्रवानों से अधिक पूजनीय हैं। उपकृत लोग उनके तनय और वंश सब कुछ हैं। जो धनी छात्र और अनाथों का पालन-पोषण करते हैं वे क्या पालकों के यश पुण्य का विस्तार नहीं करते कि पुत्र की आवश्यकता है ? ऊर्ध्वरेता ऋषि महात्मा हैं वे क्या किसी पुत्रवान् से किसी अंश में कम हैं ?

एक तर्क बड़ा भारी पुत्रपक्ष में है कि महाभारत की तैयारी है। कौरव और पाण्डवों की सेनाएँ सामने खड़ी हैं। अर्जुन कहते हैं कि मैं युद्ध नहीं करूँगा क्योंकि हमारे वंशधरों के मारे जाने

से वंश लुप्त हो जायगा तथा पिण्ड देने वाला कोई नहीं रहेगा। जिनके कुल में कोई पिण्ड देने वाला नहीं होता वे नरक में चले जाते हैं।

"पतन्ति पितरोह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः"—

(गीता)।

संतान का फल श्राद्ध है। यद्यपि यह बात कुछ २ सच है पर सर्वथा ठीक नहीं। भीष्मपितामह को पुत्र नहीं था। पर उनका श्राद्ध-तर्पण होता है। सभी हिन्दू करते हैं। जो भगवद्भक्त हैं उनका श्राद्ध स्वयम् हो जाता है। जो श्राद्धप्रेमी हैं वे अपना श्राद्ध आप कर के सकते हैं। जिनके गोत्र में कोई नहीं है उनके लिये श्राद्ध की चर्चा की जा सकती है।

यास्क ऋषि कहते हैं कि "पुरुत्रायते पुतत्रायते वा पुत्रः" जो भलीभांति रक्षा करता है अथवा जो नरकदुःखों से बचाता है, वह पुत्र है। इसमें कुछ तत्व नहीं है क्योंकि सैकड़े लड़के दुःख देने वाले तथा बुरे काम कर नरक पहुँचाते हैं इसी से उनका एक नाम तोक है। यह तुद् धातु से बना है। लड़के अपने माता पिता को नाना प्रकार की पीड़ा पहुँचाते हैं :—

"तोकस्तुदतेः" (निरुक्त)

पुत्र सब को प्यारा होता है। इसका वैज्ञानिक कारण उसका औरस (उर—हृदय से उत्पन्न) होना है। माता पिता के हृदय के एक होने पर लड़का होता है तथा माता पिता के हृदय रक्त से गर्भ में पुष्टि होती है।

"अङ्गा दङ्ग सम्भवसिहृदयादधिजायसे आत्मा वै पुत्रनासि" (निरुक्तश्रुति)

निरुक्त इस बात को "निपरणाद्वा" से कहा है कि औरस लड़का जननी जनक को अपनी तोतली बोली तथा गोद में चढ़ आनन्दपूर्ण कर देता है। इस आनन्द का उपभोग जगत में कहीं दूसरी जगह नहीं है। राजा लक्ष्मणसिंह की एक कविता बड़ी मनोहर है :—

हांसी बिन हेतु मोहि दीखनी बतीसी कछु, निकसितहीं पाति ओछी कलिकान की।
बोलन चहत बात निकसि जाति टूटी सी, लागति अनूठी मीठी बानी तुतलान की।
गोद में ले प्यारो और भावे मम और ठौर, दौरि दौरि बैठे छाड़ि भूमि अङ्गनान की।
धाय धाय बैठे नरमैले से करत गात, कहिया लगाय धूरि ऐसे सुवधान की।

पुत्र हृदय का टुकड़ा है इसी से माता पिता चाहते हैं कि हम मरें और लड़का जीता रहे। लड़के के बीमार पड़ने पर वे ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि इसकी व्याधि हमें हो जाय और इसे नीरोग कर दीजिये। हमारी आयु इसे मिल जाय। वे अपने से बढ़ कर पुत्र को समझते हैं। उनकी यह भावना नितान्त सत्य और वैज्ञानिक है।

—श्री रामसनेही शास्त्री, सांख्य-व्याकरण-तीर्थ।

(२)

भारतीय वैज्ञानिक साहित्य

धर्म-साहित्य तथा काव्य-साहित्य की तरह विज्ञान-साहित्य में भी भारत का दान अतुलनीय है। उसके प्रकाश से आज भी विज्ञानाकाश आलोकित है। यह अत्युक्ति नहीं होगी कि इस क्षेत्र में भी भारत विश्व के अन्य देशों से पीछे नहीं था। आर्य जाति संसार की प्राचीन सभ्य जातियां चीन, मिश्र और ग्रीक प्रभृति के लोगों की अपेक्षा गौण नहीं प्रत्युत पथ-प्रदर्शक ही थी। यदि हम प्रमादरहित होकर गवेषणा करें तो इतना ही नहीं किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कार का बीज भी हमें भारतीय प्राचीन पुस्तकों में मिलेगा। इस विषय में डाक्टर सर ब्रजेन्द्रनाथ शील-कृत "Positive Sciences of ancient Hindus" नामक ग्रन्थ अमूल्य है। शील महोदय ने इसमें हर एक विषय का प्रतिपादन पूर्णरूप से किया है। इस छोटे से प्रबन्ध में भी उसी का दिग्दर्शन है।

१। गणित साहित्य—ज्योतिर्विद्या के दो विभाग हैं—गणित तथा फलित। इन दोनों शाखाओं में आर्यों की अजेय प्रतिभा दीख पड़ती है। इसकी तुलना संसार में नहीं है। जिसको पाश्चात्य जगत् वर्त्तमानकालिक आविष्कार कहकर पुकारता है उन सब आविष्कारों का मूलतत्त्व किसी न किसी रूप में भारतीय प्राचीन ग्रन्थों में विद्यमान है। उदाहरण के लिये देखिये—पृथ्वी का स्वकीय मेरुदण्ड पर चलना तथा रात-दिन का बारीबारी से आना—यह उनका आधुनिक अन्वेषण है। परन्तु यह सिद्धान्त आज से करीब १५०० वर्ष पूर्व ही यहां हो चुका था। आर्यभट्ट ने ४७५ ई० पू० में ही इस सिद्धान्त को लोगों के समक्ष उपस्थापित किया था। इसी प्रकार बौधायन तथा आपस्तम्ब-कृत शुल्यसूत्रादिकृत्यों में भी ज्यामिति के अनेक विषय दिये गये हैं। वर्त्तमान Co-ordinate Geometry के आविष्कार करने वाले डेकार्ट महोदय से आठ सौ वर्ष पहले ही वाचस्पति ने इसके मूलतत्त्व का अन्वेषण किया था। Mechanics, Differential Calculus आदि के भी मूलतत्त्व आर्यों की कृतियों में निहित हैं। पाटीगणित, बीजगणित एवं त्रिकोणमिति का पूरा विकाश उस समय हो चुका था।

२। रसायन विद्या—इस विषय में भी आर्यगण सिद्ध हस्त थे। डाक्टर सर पी० सी० राय की Hindu Chemistry के पन्ने उलटने पर आपको पता चलेगा कि इस विद्या में आर्य पारङ्गत थे।

३। आयुर्वेद विज्ञान—इस विषय के अनेक ग्रन्थ अभाग्यवश लुप्त हो गये हैं, जो कुछ बचे हैं वे भी अनुपलब्ध हैं। फिर भी अवशिष्ट ग्रन्थमात्रों को देखने से पता चलता है कि वर्त्तमान चिकित्साप्रणाली का बीज आर्यों से ही मिला है। सुश्रुत, चरक तथा वाग्भट की कृतियां इसके प्रमाण हैं।

४। पशुचिकित्सा, गजायुर्वेद तथा अश्व चिकित्सा—गजायुर्वेद के मूलप्रवर्तक हैं पालकाप्य मुनि। ये अङ्गदेशान्तर्गत चम्पाधिपति रोमपाद के गुरु थे। अश्वचिकित्सा के आदि विधाता शालिहोत्र ने भारत की प्रसिद्धि बढ़ाई थी।

५। धातु-विद्या (Mineralogy)—प्राचीन हिन्दुओं को इस विद्या का भी ज्ञान था। वे उनके विभिन्न उपयोगों को सदा से जानते थे। बहुमूल्य प्रस्तरों का भी उन्हें पूरा पूरा ज्ञान था जिसका पूरा वर्णन डाक्टर उदयचंद दत्त-कृत Materia Medica of the Hindus में मिलता है। डाक्टर राजेन्द्र लाल मित्र ने भी इस विषय पर अपने ग्रन्थ Indo-Aryans में पूरा प्रकाश डाला है। रायबहादुर योगेशचन्द्र राय लिखित रत्न-परीक्षा भी इस विषय का एक ग्रन्थ है।

६। उद्भिद्-विद्या—इस विद्या का भी वर्णन प्राचीन आयुर्वेद-ग्रन्थों में मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि भारतीयों को इस विभाग में भी अनुभव था। शुक्र-नीति में इसका प्रसङ्ग आया है। वृक्षायुर्वेद नामक कतिपय ग्रन्थों का नाम सुना जाता है; अभाग्यवश आज वे अप्राप्य हैं। हाल ही में Indian Research Institute से एक उपवन-विनोद नामक ग्रन्थ निकला है। उसमें इस पर आलोचना की गई है। भीमचन्द्र चट्टोपाध्याय-कृत 'The Economic Botany of India' भी इस विषय का एक अच्छा ग्रन्थ है।

७। पदार्थ-विद्या—इस विषय की भी खोज आर्यों ने की थी। इसका तत्व भी शङ्कराचार्य तथा आर्यभट्ट के ग्रन्थों में मिलेगा। उन्होंने सर आइज़ाक न्यूटन के पहले ही आकर्षण शक्ति का दिग्दर्शन कराया था। Laws of Gravitation तथा Laws of Motion आदि विषयों का उल्लेख आर्यों के ग्रन्थों में मिलेगा। रामायण तथा कतिपय बौद्ध ग्रन्थों में विमान-यान का वर्णन इसका परिचायक है। इन्हीं के आधार पर कई एक विद्वानों ने सिद्ध किया है कि भारत में भी प्राचीन समय में वायुयान था।

अनुवादक—पं० श्री चेतन झा, साहित्याचार्य, बी० ए०।

---

(३)

भारत-रवि का अस्त

भारत-रवि का अस्त हो गया। जिनकी प्रदीप्त प्रतिभा ने भारत को आलोकित किया था उन्हीं विश्व के महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी शैशव लीलाभूमि जोड़ासांको भवन में राखी पूर्णिमा के दिन संसार त्याग किया।

७ मई सन् १८६० में कलकत्ते में आपका जन्म हुआ था। पाठशाला जाकर विद्या सीखने की रुचि आपको नहीं थी। अपने बचपन में आपने गृहशिक्षक के पास ही विविध-विषयों का अध्ययन किया था। बाल्यकाल ही में आपकी माता चल बसीं।

२० सितम्बर सन् १८७८ में रवीन्द्रनाथ इङ्गलैण्ड गये। वहां जाकर लण्डन यूनिवर्सिटि कालेज में आपने अपना नाम दर्ज करवाया।

सन् १८८२ में आपका 'सान्ध्य-सङ्गीत' कविता-ग्रन्थ प्रकाशित हुआ और सन् १८८३ में आपने 'निर्झरेर स्वप्न भङ्ग' की रचना की।

सन् १८८५ में आपने 'बालक' मासिक पत्रिका का भार लिया और सन् १८९० में आपने साधना मासिक पत्रिका प्रकाशित की।

सन् १८९८ में आप 'भारती' मासिक पत्रिका के सम्पादक थे।

सन् १९०० में आप बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका बङ्गदर्शन के सम्पादक बने।

सन् १९०१ में आपने बोलपुर में ब्रह्मचर्य आश्रम की स्थापना की।

सन् १९०८ में बङ्गीय प्रादेशिक राष्ट्रीय सम्मेलन के पावना अधिवेशन में आप सभापति चुने गये।

सन् १९१३ में 'गीताञ्जलि' के लिये आपको नोबेल-प्राइज़ दिया गया।

दिसम्बर सन् १९२१ को 'विश्वभारती' का उद्बोधन हुआ।

फरवरी सन् १९२२ में श्रीनिकेतन की प्रतिष्ठा हुई।

अक्टूबर सन् १९३१ में संस्कृत कालेज कलकत्ता से कवि को 'सार्वभौम' की उपाधि दी गई।

सन् १९३२ में आप इण्डियन रिसर्च इन्स्टिट्यूट के आनररी फ़ेलो बनाये गये।

सन् १९३६ में ढाका विश्वविद्यालय से कवि को डी-लिट॰ की उपाधि दी गई।

सन् १९३८ में उसमानिया विश्वविद्यालय से आपको डी-लिट० की उपाधि मिली।

सन् १९४० में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय की ओर से कविगुरु को डी-लिट० की उपाधि दी गई।

लेकिन आज रवीन्द्रनाथ कहाँ? क्या वे मानव-हृदय से दूर हैं?

—श्री कालिदास मुकरजी।

---

(४)

हर्षचरित में यन्त्रों का उल्लेख

उद्घातघटी या घटीयन्त्र :—

समन्तात् उद्घातघटीसिच्यमानै जीरकजूटै र्जटिलितभूमिः (तृतीय उच्छ्वास)=चारों ओर उद्घात-घटी द्वारा (=घटीयन्त्र द्वारा) सींचे जाते जीरों के पौधों से जहां की भूमि उलझी रहती है।

हर्षचरित के एकमात्र प्राचीन टीका-कार शङ्कर के अनुसार उद्घात का अर्थ अरघट्ट (=रहट) है। क्षीरस्वामी कहते हैं कि कौटिल्य के अनुसार उद्घातन का अर्थ घटीयन्त्र है। अमरकोष में उद्घाटन और घटीयन्त्र पर्यायवाची हैं। अतः हम कह सकते हैं कि उद्घात, उद्घातन और उद्घाटन तीनों का एक ही अर्थ घटीयन्त्र है। यह एक रहट है, जिसके द्वारा कुएँ से पानी निकाल कर खेतों में सींचा जाता था।

तीसरे उच्छ्वास में ही भैरवाचार्य द्वारा दाहिने हाथ से घुमाई जाती रुद्राक्षमाला की तुलना घटीयन्त्र से की गई है। गोल रुद्राक्ष गोल घड़ों के समान हैं और माला का सूत्र घटीयन्त्र के डोरे के समान है।

घटीयन्त्र का अन्तिम उल्लेख अष्टम उच्छ्वास में है :—

संसरन्तो नक्तंदिवं द्राघीयसो जन्मजरामरणघटीयन्त्ररज्जवः सर्वजनानाम्=सब लोगों के यहां जन्मजरामरणरूपी घटीयन्त्र की लम्बी डोरी दिन-रात सरक रही है।

इन उल्लेखों को देखते हुए हम कह सकते हैं कि बाण के समकालीन सम्राट् हर्षवर्धन के राज्य में घटीयन्त्रों से सिंचाई करने का पूरा प्रचलन था।

व्याघ्रयन्त्र (=बाघ फंसाने के यन्त्र) :—

व्यापादितवत्सतर्षरोषविरचितव्याघ्रयन्त्रैः (स० उ०)=जिन्हें बछड़े मारे जाने के रोष से बनाये

गये व्याघ्र-यन्त्रों से। अपनी दिग्विजय-यात्रा में सम्राट् हर्षवर्धन एक ऐसे गांव होकर गये थे, जहां ये व्याघ्र-यन्त्र विद्यमान थे।

नभस्तलयायी यन्त्र-यान (=यन्त्र से चलने वाला विमान) :—

आश्चर्यकुतूहली च चण्डीपतिर्दण्डोपनतयवननिर्मितेन नभस्तलयायिना यन्त्रयानेनानीयत क्वापि (ह० उ०)=चण्डीपति आश्चर्यों (को देखने या जानने) के लिए बड़ा उत्सुक रहता था; वैरी यवनों के द्वारा बनाये गये आकाशगामी यन्त्र-यान से वह कहां पहुँचाया गया, पता नहीं।

बाण के समय से बहुत पहले की एक घटना की चर्चा है। घटना की सचाई और चण्डीपति के तादात्म्य के लिए प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

ढूँढ़ने से गौणरूप में उल्लिखित और भी कई छोटे यन्त्र मिलेंगे।

—श्री सूर्यनारायण चौधरी।

---

(५)

महाराज कनिष्क के तक्षिला के डिब्बे पर लिखे लेख पर पूर्ण विचार

सन् १९०८-९ में डाक्टर स्पूनर ने शाहजी की ढेरी की खुदाई में एक डिब्बा पाया जिस पर महाराज कनिष्क के काल का लेख लिखा हुआ है[1]। इस लेख का सम्पादन सब से पहिले स्पूनर साहब ने किया था। उसके पश्चात् स्टेनकनाओ ने अपनी खरोष्ठी लेख नामक पुस्तक में इस का सम्पादन किया[2]। यद्यपि इन दो महानुभावों ने पूरी तरह इस लेख का सम्पादन किया है फिर भी इस पर कुछ और प्रकाश डाला जा सकता है। स्पूनर साहब ने इस पूर्ण लेख की प्रति पंक्ति का अलग अलग अनुवाद किया है। उनके अनुवाद पर विचार करना आवश्यक है :—

पंक्ति १। आचर्येनं[˙]३ सरवस्तिवादिन [˙] प्रतिग्रहे।

अनुवाद :—"सरवास्तिवादिन विद्वानों के मत को अंगीकार करने के हेतु"।

पंक्ति २। देयधर्मो सर्वसत्वान [˙] हितसुहर्थ [˙] भवतु।

---

१ आर्कियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट १९०८-९ पृष्ठ ५१ से।

२ कारपस इन्सक्रीपशनम इन्डीकेरम जिल्द २ भाग १ पृष्ठ १३७

३ का अर्थ है अनुस्वार यहां पर होना चाहिये।

अनुवाद :—इस धर्म दान से सब पुरुषों का कल्याण हो।

पंक्ति ३। दस अगिशल नवकमि कनिष्कस विहारे महासेनस संघर्मे।

अनुवाद :—दास (अथवा नौकर) अगिशल कनिष्क के विहार और महासेन के संघाराम के कार्यों का 'ओवरसियर' (नवकर्मिक) था। इसके अतिरिक्त एक और पंक्ति है पर उसका अनुवाद संभवतया रह गया है क्योंकि इस में बहुत से अक्षर मिट गये हैं जो बाद में जोड़े गये हैं।' प्रो० स्टेनकनाओ ने इन पंक्तियों को जोड़ कर सम्पूर्ण लेख का अनुवाद किया है। सबसे पहिले उनके द्वारा सम्पादित लेख पर विचार करना चाहिये।

पंक्ति १। सं [१ म] [ह राज] स कनि(णि) [ष्कस]। इमण(न)ग [रे] [थ]··· व(ए) येक।

पंक्ति २। देयधर्मे सर्वसत्वान [ं] (णं) हिदसुहय [ं] भवतु।

पंक्ति ३। दस अगिशल ण (न) वकर्मिअ [क] ने (णे) ष्कस विहारेमह सेन (ण) स संघारामे।

पंक्ति ४। आचर्येन (ण) सर्वास्तिवतिन (ण) प्रतिग्रहे

अनुवाद :—(महाराज) कनिष्क के राज्यकाल संवत् प्रथम में,···अट्टालिका से सम्बन्धित इस नगर में, यह धार्मिकदान—इससे सर्व सम्प्रदाय का कल्याण हो—दासअगिशल कारीगर था—इस कनिष्क के विहार और महासेन के संघाराम सर्वास्तिवादिन गुरु के अङ्गीकार में।

प्रो० स्टेनकनाओ की विद्वता पर पूर्णतया विश्वास तथा श्रद्धा रखते हुए यह कहना पड़ेगा कि इस अनुवाद में कोई अन्वय नहीं प्रतीत होता। इसलिये पूर्ण लेख को निम्नलिखित वाक्यों में विभाजित करना पड़ेगा जिससे अर्थ समझने में कठिनाई न रहे।

पंक्ति १। सं [१म] [हरज] स कणी [ष्कस] इम न ग(र) रे [थ]········ व(र) येक

२। देयधर्मे सर्वसत्त्वण [न] हिदसुहर्थक [ं] भवतु [ं]

३। दस अगिशलण (न)वकर्मिअ [*] [क]णिष्कस विहारे महासेणस संघारामे [*]

४। आर्येण सर्वास्तिवतिण प्रतिग्रहे [*]

अनुवाद :—संवत् १में महाराज कणिष्क के धर्मदान से नगर के समस्त पुरुषों का कल्याण हो (इसके बाद के शब्द ऐसे टूटे और मिटे हुऐ हैं कि सम्पूर्ण अनुवाद एक साथ देना कठिन है)।

इस कणिष्क के मन्दिर (विहार) का निर्माता दास अगशिल्स था। यह महासेन के संघाराम में स्थित था। यह दान सरवास्तिवादिन गुरुओं के लिये हुआ है।

इस अनुवाद के लिए लेख के कुछ शब्दों पर भी विचार करना आवश्यक है।

नवकर्मिक :—स्पूनर ने नवकर्मिक का अर्थ ओवरसियर समझा था। प्रो० स्टेनकनाओ ने इसका अर्थ कारीगर माना है। यहां पर यह कह देना उपयुक्त होगा कि यह शब्द पतिक के तक्षिला के ताम्रपत्र पर लिखे लेख तथा हिदा के खरोष्टी लेख में भी मिलता है। पहले लेख में रोहिणीमित्र नामक नवकर्मिक है और इस लेख में सङ्घमित्र नामक नवकर्मिक का उल्लेख है। दोनों ही अर्थ ठीक मालूम पड़ते हैं।

परिग्रहे अथवा प्रतिग्रहे—स्पूनर ने पहले इसे 'प्रतिग्रहे' पढ़ा था। शब्दकोष के अनुसार इसका अर्थ दान है। यहां पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि महाराज कनिष्क का क्या दान था ? क्या वह दान डिब्बे का था अथवा स्तूप का जिसमें वह डिब्बा रखा गया था। यदि हम उस दान को डिब्बे का दान समझें तो 'नवकर्मिक' का अर्थ भले ही ठीक प्रतीत हो किन्तु वह दान अवश्य छोटा था। इसलिये यहां पर हमें उस दान को 'स्तूप' के रूप में लेना चाहिये जिसमें वह डिब्बा रखा गया था। यह स्तूप महाराज कनिष्क ने सर्वास्तिवादिनों के हितार्थ निर्माण किया होगा, इसलिये अगिशल अथवा अगेशिलास ने स्तूप निर्माण में भाग लिया होगा।

अन्त में दो विषयों पर विचार करना आवश्यक है। पहला प्रश्न है विहार और संघाराम में क्या भेद था ? कर्न ने लिखा है कि साधारणतया विहार का अर्थ उस मन्दिर से है जहां पूजा होती है किन्तु संघाराम वह स्थान है जहां भिक्षु रहते हैं। इसलिये वह मन्दिर सर्वास्तिवादिनों के लिये बनवाया गया था जहां वे पूजा तथा ध्यान कर सकें। इस लेख में कनिष्क अथवा कणिष्क दो प्रकार से लिखा गया है। पहला इकार से है और दूसरा एकार से। फिर क्या दो कनिष्क थे ?

दूसरा प्रश्न महासेन के विषय में है। इस लेख में उसके संघाराम का उल्लेख है। क्या यह वही महासेन है जो अवन्ती के राजा प्रद्योत और अजातशत्रु का समकालीन था ? क्या इसने तक्षिला में सङ्घाराम बनाया था जैसे अनाथपिण्डिक ने श्रावस्ती में विहार बनाया था ?

आशा है पाली के बड़े बड़े विद्वान् इस विषय पर प्रकाश डालेंगे।

—श्री बैजनाथ पुरी, एम० ए०।

सम्पादकीय मन्तव्य

रवीन्द्रनाथ का तिरोभाव हो गया। काव्य क्षेत्र में उनकी कृति ऐसी थी कि सारे संसार के लोग भारतवर्ष के 'Dr. Tagore' को जानते थे। लेकिन आज वे कहां है? इसका उत्तर यही हो सकता है कि वे अपने काव्यों में ही आज हमारे साथ हैं।

हम रवीन्द्रनाथ की वन्दना करते हैं। अमरलोक से वे हमें आशीर्वाद दें। हमें शक्ति दें, —वे आज हमें सान्त्वना दें।

* * * *

आदर्श शिक्षा की भित्ति साधारणतया चार विषयों पर निर्भर है—उदार धर्मनीति और नैतिक चरित्र, विविध-विद्याओं की सहायता से यथार्थ ज्ञान-सञ्चय, वैज्ञानिक तौर पर कृषि कार्य का प्रसार और शिल्प-वाणिज्य विस्तार। कई ज्ञानी व्यक्तियों और देशसेवकों ने इस विषय पर आलोचना की है। उनकी आलोचना और चिन्ता को काल्पनिक क्षेत्र से कुछ अंशों में यथार्थ में परिणत करने के लिये फ़िलहाल भारत के बालक और बालिकाओं को आदर्श शिक्षा देने के लिये 'भारती महाविद्यालय' की स्थापना हुई है। इसका उद्देश्य और उसकी कार्यपद्धति प्राचीन भारत में पहले ही दी गई है।

भारती महाविद्यालय का कार्य इसी बीच में कुछ और आगे बढ़ चुका है। बङ्गला में पोस्टग्रैजुएट (एम० ए०) की शिक्षा देने के लिये 'भारती पोस्टग्रैजुएट आर्टस् कालेज' की स्थापना हुई है। बङ्गला साहित्य की श्रीवृद्धि के लिये ही इसकी प्रतिष्ठा हुई है। कई प्रसिद्ध बङ्गला साहित्य के विद्वान् इस कालेज के अध्यापक हैं। केवल बङ्गला में एम० ए० की डिग्री पाने के लिये ही यहां पढ़ाई नहीं होती बल्कि बङ्गला साहित्य की गम्भीर गवेषणा भी यहां की जाती है।

पुस्तक-समालोचना

कल्याण-भागवतांक—प्रथम खण्ड, गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित।

गीता प्रेस, गोरखपुर से बीच बीच में जो धर्म ग्रन्थ निकलते हैं उन्हें हम वास्तव में 'अपूर्व' के सिवाय और कुछ नहीं कह सकते। भारत के विभिन्न कोने के बड़े बड़े विद्वानों के लेख इसमें प्रकाशित होते हैं। इसके पहले गीतांक की समालोचना मैं बङ्गला भाषा में कर चुका हूँ।

आलोच्य पुस्तक में १०७२ पृष्ठ हैं। इसमें प्रारम्भ में भागवत सम्बन्धीय कई उत्तम लेख हैं। तदनन्तर भागवत-पाठक्रम, न्यास, ध्यान इत्यादि हैं। फिर भागवत-पारायण दिया हुआ है। यद्यपि यह हिन्दी भाषा में है तथापि इसकी हिन्दी ऐसी सरल, सरस और हृदयग्राही है कि अहिन्दी प्रान्त के लोग भी इसे आसानी से समझ सकते हैं। भागवत का ठीक ठीक अनुवाद कर उसे सरल हिन्दी में बोधगम्य करना हँसी-खेल नहीं है। जिन्होंने यह कार्य उत्तमरूप से सम्पन्न किया है हम उनके प्रति आन्तरिक श्रद्धा निवेदन करते हैं। पुस्तक के विषय-सम्बन्ध पर कुछ लिखना नहीं है। भागवत भारत का अपूर्व ग्रन्थ है। इसके वक्ता योगीश्रेष्ठ भगवान शुकदेव हैं। यह भक्त, ज्ञानी, ब्रह्मचारी, गृही या सन्यासी सभी के लिये उपयोगी है। अमृत के स्वाद की तुलना नहीं होती उसी तरह भागवत की भी तुलना नहीं हो सकती। शास्त्रों के प्रति जिनकी चाह है आशा है वे बार बार भागवतांक का रसास्वादन करेंगे।

—नलिनविहारी वेदान्त-तीर्थ।

राजर्षि—यह पुस्तक सरयू प्रसाद पाण्डेय की लिखी हुई है। यह रघुवंश के छः सर्गों के कथानक पर बनी है। भाषा बड़ी मनोहर और मर्मस्पर्शी है। यह हिन्दी रसिकों के घर २ में रखने योग्य है।

—रामछबीला शास्त्री।

सूर्योदयः—अखिल भारतवर्षीय संस्कृत विश्वविद्यालय का मुखपत्र, १७वां वर्ष—संख्या १—२, आषाढ़-श्रावण (जुलाई-अगस्त); सम्पादक—श्री अवधेश प्रसाद शर्मा द्विवेदी, वार्षिक मूल्य ३),

छात्रों के लिये १) (Sanctioned by The Directors of Public Instruction United Provinces, Bombay Presidency and Sind for use in Schools and Colleges).

यह पत्रिका संस्कृत विश्वविद्यालय काशी से संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि के लिये निकलती है। इसके सम्पादक हैं श्री अवधेश प्रसाद शर्मा द्विवेदी जी। आप एक कुशल सम्पादक हैं इसमें सन्देह नहीं। यह पत्रिका. संस्कृत विश्वविद्यालय का मुख पत्र है। आलोच्य प्रति में अखिल भारतवर्षीय धार्मिकाध्यात्मिक संस्कृत विश्वविद्यालय, सन् १९४१ का परीक्षा फल तथा अखिल भारतवर्षीय काशी आयुर्वेद सम्मिलनी का परीक्षा फल और संस्कृत विश्वविद्यालय की पी० एच० डी परीक्षा का फल दिया हुआ है।

इसके अतिरिक्त इस पत्रिका में और और विषयों पर बहुत कुछ सामग्री दी हुई है। भाषा संस्कृत है।

आलोच्य पत्रिका में कुल ४० पृष्ठ हैं। संस्कृत भाषा की यह एक मुख्य पत्रिका है। आशा है संस्कृत प्रिय सज्जन इसे अपनावेंगे।

—कालिदास मुकर्जी।

नई पुस्तकें

Raja Rammohan Roy and Progressive Movements in India : A Selection from Records (1775–1845).—Dr. J. K. Mazumdar, M.A., Ph.D.

The Mongol Empire—Its Rise and Legacy : Michael Prawdin, London.

Statistical Calculation for Beginners—E. G. Chambers, Cambridge University Press.

Gaekwad's Archaeological Series Memoir No. III ; The Ruins of Dabhoi or Darbhavati in Baroda State—Jnānaratna Dr. Hirananda Śāstri, M.A., M.O.L., D.Litt., Director of Archaeology, Baroda State.

आत्मपरिणय—धीरेन्द्रकुमार, हिन्दी-साहित्य-समिति, इन्दौर।

स्त्री-जीवन विषयक कण्ही प्रश्न (मराठी)—श्रीमती कमला बाई तिलक, एम० ए०।

सचित्र भारत यत्रे (कन्नड)—डी० के० भरद्वाज।

जुई अणे केतकी (गुजराती)—विजयराय के० वैद्य।

वसुधा—"सुन्दरम"।

राजाजी छिन्ती कठालु (तेलुगु)—अनुवादक ए० सी० कुप्पुस्वामी।

संधाने (बङ्गला)—श्रीमती ज्योतिर्मला देवी।

रवीन्द्र-साहित्येर भूमिका (बङ्गला)—डा० निहाररञ्जन राय, कलकत्ता विश्वविद्यालय।

पुरानी-पत्रिकाएं

कालिदास मुकरजी द्वारा संकलित

The Indian Antiquary Vol. III, 1874.

The Ajanta Frescoes—अजन्ता में जो चित्र खुदे हुए हैं उनकी नकल करने के लिये ग्रिफ़िथ महोदय (Mr. Griffiths) वहां कुछ दिनों के लिये गये थे। नकल किये हुए चित्रों का आपने एक विवरण भी प्रकाशित किया था। इस लेख में वही विवरण अजन्ता के चित्रों के साथ दिया गया है,—आपने इस लेख में कहा है, "भारतीय चित्राङ्कनादि ललितकला विषयक उदाहरण केवल अजन्ता के चित्र ही हैं।" उन्होंने यह भी कहा है, "अजन्ता के अतिरिक्त भारत में और कहीं भी स्थापत्य विद्या, भास्कर्य विद्या और चित्राङ्कन विद्या का समावेश नहीं मिलता।"

The Date of Sri Harsha—P. N Purnaiya, B. A., Attache, Mysore Commission, Bangalore.

श्रीहर्ष के समय पर मतभेद है। डा० बुहलर (Dr. Buhler) उनका आविर्भावकाल बारहवीं शताब्दी का शेषार्ध बतलाते हैं। आपकी राय की भित्ति राजशेखर का प्रबन्धकोष है। लेकिन काशीनाथ त्रिम्बक तेलंग की राय बुहलर की राय से भिन्न है—आप हर्ष को और भी दो सौ वर्ष पूर्व का बतलाते हैं। आलोच्य लेख में उनका जन्मकाल ग्यारहवीं शताब्दी का मध्यभाग बतलाया गया है। नैषधचरित के अतिरिक्त श्रीहर्ष लिखित और भी सात पुस्तकें हैं—विजयप्रशस्ति, खण्डन-खण्डखाद्य, गौड़ोर्वशी कुलप्रशस्ति, अर्णववर्णन, छन्दःप्रशस्ति, शिवशक्ति सिद्धि या शिवशक्ति साधन और साहसाङ्क चरित।

Note on Paundha-Vardhana—E. Vesey westmacott.

चीनी परिव्राजक हुएन-सांग ने पौन्ड्रवर्धन राज्य देखा था। इस लेख में पौन्ड्रवर्धन राज्य से आजकल के किस प्रदेश का बोध होता है उस पर आलोचना की गई है। फरगुसन ने उस राज्य के पश्चिम में कुशीनद, पूर्व में ब्रह्मपुत्र नद और दक्षिण में गङ्गा नदी कहा है। इससे आजकल के दिनाजपुर, माल्दह, बगुड़ा, पुरनिया का कुछ अंश और राजशाही का कुछ अंश होता है। लेखक की राय में आइने अकबरी में जो पिंजर या पंजर शब्द मिलता है वह पौन्ड्र का ही रूपान्तर है और बर्धन भी उसी के पास का एक स्थान है। ये दोनों दिनाजपुर में हैं इसलिये दिनाजपुर का अधिकांश पौन्ड्र राज्य के अन्तर्गत था।

सामयिक-साहित्य

मधुकर —अमरकवि का जीवन सन्देश—पं० बनारसी दास चतुर्वेदी ।

" —बुन्देलखण्डी शब्दकोष—श्री कृष्णानन्द गुप्त ।

" —आल्हा की साखी—श्री गोविन्दप्रसाद वर्मा "मधुप" ।

सम्मेलन पत्रिका—हिन्दी में विविध विषयक जैन साहित्य—श्री अगरचन्द नाहटा ।

" —क्या कबीर रामानन्द के शिष्य थे ?—श्री परमानन्द शर्मा, 'साहित्यरत्न' ।

" —हिन्दी के मुसल्मान कवि और उनकी विशेषता—

श्री दिनेशनारायण उपाध्याय, 'प्रेमनिधि' ।

सूर्योदय —सनातन धर्मणां संस्कृतिः ।

पुरुषार्थ (मराठी)—सिन्ध प्रान्तातील हिन्दू समाज—श्री महादेव शास्त्री दिवेकर ।

" —आर्यधर्म आणि हिन्दूधर्म—श्री सुन्दरराव वैद्य ।

तरुण जैन —धर्म और समाज—श्री पण्डित सुखलाल जी ।

" —मजहबी रिवाजों की परख—श्री किशोरलाल घ० मशरूवाला ।

वैदिकधर्म —रामायणकालीन आर्य संस्कृति—श्री मदनगोपाल गाडोदिया ।

" —योग क्या है ?—श्री ब्रह्मचारी गोपालचैतन्य देव ।

———

सामयिक संवाद

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ—७ अगस्त को 'भारत-रवि' चिर काल के लिये अस्त हो गये। आज संसार उनके लिये गरम आंसू के बूंद गिरा रहा है।

विश्वभारती—भारत सरकार के शिक्षा विभाग की ओर से विश्वभारती को २५०००) दिये गये हैं। विश्वभारती में केवल भारतवर्ष के प्रत्येक कोने से ही नहीं बल्कि सुदूर जावा और लंका से भी लोग विद्योपार्जन के लिये आते हैं।

आचार्य प्रफुल्ल जयन्ती—२ अगस्त को कलकत्ता विश्वविद्यालय के सिनेट हाल में आचार्य प्रफुल्लचन्द्र का ८०वां जन्मोत्सव मनाया गया। रायल एशियाटिक सोसाइटी, विश्वविद्यालय पोष्ट ग्रैजुएट विभाग और इन्डियन रिसर्च इन्स्टिट्यूट आदि संस्थाओं से आचार्य राय को मानपत्र दिया गया था।

मयूरभञ्ज रियासत में शिक्षा प्रचार—मयूरभञ्ज रियासत में शिक्षा प्रचार का कार्य बड़े जोर शोर से चल रहा है। आजतक वहां ७४ रात्रि-विद्यालय (जहां रात को शिक्षा दी जाती है) खोले जा चुके हैं और आशा है कि शीघ्र ही और भी ऐसे विद्यालय विभिन्न स्थानों में खोले जायेंगे।

लेखनाभ्युक्षणे कृत्वा निहितेऽग्नौ समिद्दधेत्।
ततो भूमिग्रहं कृत्वा कुर्य्यात् परिसमूहनम् ॥८६॥

सान्वय-शब्दार्थ—(लेखन+अभ्युक्षणे) रेखा लिखकर तथा अभ्युक्षण अर्थात् जल छिड़क (कृत्वा) कर (निहिते+अग्नौ) जो अग्नि स्थापित हुई है उसमें (समिद्दधेत्) समिधायें प्रदान करे (ततः) तदनन्तर (भूमिग्रहम्+कृत्वा) पृथ्वी पर हाथ रखकर (परिसमूहनम्+कुर्यात्) भूमि को भाड़ साफ़-सुथरा करे ॥८६॥

भावार्थ—यज्ञकर्म का क्रम यह है कि पहले रेखा लिखकर जल से सिञ्चन करे पुनः स्थापित अग्नि में समिधाधान कर भूमि पर हाथ रखकर उसे साफ़-सुथरा करे ॥८६॥

ब्रह्माण मुपसंकल्प्य चरुश्रपण मारभेत्।
ब्रह्माणं स्तरणं कुर्याच्चरुर्यत्र न कल्पितः ॥८७॥

सान्वय-शब्दार्थ—(ब्राह्मणम्+उपसंकल्प्य) अग्नि के समीप सम्यक् प्रकार से ब्रह्मा की स्थापना कर (चरुश्रपणम्+आरभेत्) चरुश्रपण क्रिया का आरम्भ करे (यत्र) जहां (चरुः) चरु (न) नहीं (कल्पितः) स्थापन किया गया हो वहां (ब्राह्मणम्+एव) ब्रह्मा का ही (स्तरणम्) आसन (कुर्यात्) करना चाहिये ॥८७॥

भावार्थ—ब्रह्मा की स्थापना कर चरुश्रपण अर्थात् घृतयुक्त दुग्ध से अभिसिञ्चन करे जहां चरु-कल्पित न हो वहां ब्रह्मा का आसन करना चाहिये ॥८७॥

ब्रह्मविष्टरयोश्चापि सन्देहे समुपस्थिते।
ऊर्द्ध्वकेशो भवेद्ब्रह्मा लम्बकेशस्तु विष्टरः ॥८८॥

सान्वय-शब्दार्थ—(च) और (ब्रह्मविष्टरयोः) ब्रह्मा और विष्टर के मध्य (सन्देहे) संशय (सम्+उपस्थिते) उपस्थित होने पर कि इन दोनों में कौन ब्रह्मा तथा कौन विष्टर है यह जानना चाहिये कि (उर्द्धकेश) ऊपर उठे हुये केशों अर्थात् कुशा का अग्र भाग वाला (ब्रह्मा) ब्रह्मा (भवेत्) होता है (तु) और (लम्बकेशः) नीचे लटके हुये लम्बे केशों अर्थात् कुशा का अग्र भाग वाला (विष्टरः) विष्टर होता है ॥८८॥

भावार्थ—ब्रह्मा नामक आसन की बनावट ऐसी होनी चाहिये कि उसके कुशाओं के अग्र भाग ऊपर को उठे हुये हों तथा विष्टर नामक कुशाओं के अग्र भाग नीचे को लटके हुये रहें जिसमें एक दूसरे के पहचानने में सन्देह न रहे ॥८८॥

कतिभिस्तु कुशैर्ब्रह्मा कतिभिर्विष्टरः स्मृतः ?
पञ्चाशद्भिः कुशैर्ब्रह्मा तदर्द्धेन तु विष्टरः ॥८९॥

सान्वय-शब्दार्थ—(कतिभः+तु) कितनी कुशाओं से तो (ब्रह्मा+भवेत्) ब्रह्मा होता है (कतिभिः) कितनी कुशाओं से निर्मित (विष्टरः स्मृतः) विष्टर कहा गया है ? अब उत्तर देते हैं कि (पञ्चाशद्भिः) पचास (कुशैः) कुशाओं से (ब्रह्मा) ब्रह्मा और (तत्+अर्द्धेन+तु) उसके आधे पचीस कुशाओं से (विष्टरः) विष्टर होता है ॥८९॥

भावार्थ—ब्रह्मा को दर्भवटु भी कहते हैं वह पचास कुशाओं से निर्मित होता है और विष्टर पचीस कुशाओं से बनता है ॥८९॥

उदग्धारा मविच्छिन्ना मग्नि मारभ्य दक्षिणम् ।
दद्याद्ब्रह्मासनस्थाने सर्वे कर्म्मसु नित्यशः ॥९०॥

सान्वय-शब्दार्थ—(अग्निम्) अग्निदिशा से (आरभ्य) आरम्भ कर (दक्षिणाम्) दक्षिण-दिशा में (ब्रह्म+आसन+स्थाने) ब्रह्मा के आसन के स्थान में (सर्व+कर्मसु) समस्त याज्ञिक कर्मों में (नित्यशः) निरन्तर (अविच्छिन्नाम्) लगातार (उदक+धाराम्) जल की धारा (दद्यात्) देनी चाहिये ॥९०॥

भावार्थ—ब्रह्मा के आसन में समस्त याज्ञिक कर्मानुष्ठान सम्पादन करते हुये जल की धारा देनी चाहिये ॥९०॥

एकाग्नौ पितृयज्ञे च ब्रह्माणं नोपकल्पयेत् ।
सायं प्रातश्च होमेषु तथैव बलिकर्म्मसु ॥९१॥

सान्वय-शब्दार्थ—(एक+अग्नौ) जिसमें एक ही अग्नि का विधान है उस (पितृयज्ञे) पितृ-यज्ञ में (च) पुनः (ब्रह्माणम्) ब्रह्मा को (न+उपकल्पयेत्) न स्थापन करे (च) और (सायम्+प्रातः+

होमेषु) सायंकाल तथा प्रातःकाल के होमों में भी (तथा+एव) और इसी प्रकार (बलि+कर्मसु) बलि कर्मों में भी ब्रह्मा की स्थापना नहीं की जाती ॥९१॥

भावार्थ—पितृयज्ञ तथा सायं प्रातःकाल के होमों और बलि इत्यादि कर्मों के सम्पादन में ब्रह्मा की स्थापना नहीं की जाती ॥९१॥

(द्रष्टव्य—श्लोक के आदि में 'एकाग्नौ' शब्द है उसके स्थान में किसी २ प्रति में 'राकाग्नौ' पाठ आया है। 'राकाग्नौ' पाठ होने से श्लोकार्थ इस प्रकार होगा (राकाग्नौ) अर्थात् पौर्णमास की जो अग्नि है उसमें (च) और (पितृयज्ञे) पितृयज्ञ में (ब्रह्माणम्) ब्रह्मा को (न) नहीं (उप+कल्पयेत्) स्थापन करे।)

यवव्रीह्यकृतं ज्ञेयं तण्डुलादि कृताकृतम्।
ओदनन्तु कृतं विद्यात् न तस्य करणं पुनः ॥९२॥

सान्वय-शब्दार्थ—(यव+व्रीहि) यव और व्रीहि को (अकृतम्) अकृत (ज्ञेयम्) जानना चाहिये और (तण्डुल+आदि) चावल आदि को (कृताकृतम्) कृताकृत समझना चाहिये (ओदनम्) और भात को (कृतम्) कृत (विद्यात्) जाने क्योंकि (पुनः) फिर (तस्य) उसका (करणम्) पाक करण (न) नहीं होता है ॥९२॥

भावार्थ—हवि तीन प्रकार का है कृत्, अकृत्, और कृताकृत् जिनमें यव व्रीहि आदि अकृत कहलाते हैं, तण्डुल आदि कृताकृत् हैं तथा भात कृत् है ॥९२॥

सीमन्ते दर्भपिञ्जुल्यस्तिस्रस्ताभिस्त्रिरुन्नयेत्।
त्रिभिः श्वेतैश्च शललैः प्रोक्तो वीरतरः शरः ॥९३॥

सान्वय-शब्दार्थ—(सीमन्ते) सीमन्तकरण संस्कार में (तिस्रः) तीन (दर्भपिञ्जुल्यः) सूखे कुशाओं के गुच्छे होते हैं (ताभिः) उन तीनों गुच्छों से (त्रिः) तीन बार (उन्नयेत्) पत्नी के केशसमूह को ऊपर उठाये अर्थात् एक २ गुच्छे से एक एक बार उठावे (च) और (त्रिभिः) तीन स्थानों में (श्वेतैः) श्वेत चिह्न वाले (शललैः) साही पशु के कांटे से भी केशों को ऊपर उठावे और (वीरतरः) वीरतर (शरः) शर अर्थात् सर्की जो (प्रोक्तः) कहा गया है इससे वे भी ऐसा ही करें ॥९३॥

भावार्थ—सीमन्तोन्नयन संस्कार में गर्भवती पत्नी के केशों की पट्टी निकाली जाती है जो गर्भ स्थापन होने के चौथे, छठे वा आठवें माह में किया जाता है। इस संस्कार में पति अपनी पत्नी के केशों को सम्भाल कर तीन सूखे कुशाओं के गुच्छों से तथा साही पशु के कांटों से जो तीन जगह श्वेत चिह्न-युक्त हों तथा सरकण्डे की लकड़ी से ऊपर उठाकर पट्टी निकाल कर जूड़ा बांध देता है ॥९३॥

दिशाश्च विदिशाश्चैव यत्र नोक्ता विचारणा।
"सर्वतः" तत्र शब्दोऽयं विधियोगे निपात्यते ॥९४॥

सान्वय-शब्दार्थ—(विधियोगे) यज्ञसम्बन्धीय कार्यों के विधान के योग में (यत्र) जहां (दिशाम्) पूर्व पश्चिम आदि दिशाओं (च) और (विदिशाम्+वा) आग्न्यादि विदिशाओं का भी (विचारणा) निर्णय (न+उक्ता) नहीं वर्णन किया गया हो (तत्र) वहां (सर्वतः) सब ओर से (अयम्) यह शब्द ही (निपात्यते) समझना चाहिये ॥९४॥

भावार्थ—यज्ञ के जिस विधान में शास्त्रकार ने किसी विशेष दिशा का उल्लेख न किया हो वहां 'सर्वतः' सब दिशाओं को समझना चाहिये अर्थात् किसी भी दिशा में उस कर्म का सम्पादन किया जा सकता है ॥९४॥

विहित प्रतिषिद्धाश्च प्रणीतां नोपकल्पयेत्।
वैरूपाक्षं जपेन्मन्त्रं प्रपदश्चैव यज्ञवित् ॥९५॥

सान्वय-शब्दार्थ—गृह्यकर्मों में उस (प्रणीतां) प्रणीता को जिसका पहले (विहित) विधान किया गया हो (च) और फिर (प्रतिषिद्धाम्) निषेध किया गया हो (न+उप+कल्पयेत्) स्थापन न करे। (यज्ञवित्) यज्ञ को जानने वाला पुरुष (वैरूपाक्षम्) वैरूपाक्ष (च+एव) और (प्रपदम्) प्रपद नामक (मन्त्रम्) मन्त्र का (जपेत्) जप करे ॥९५॥

भावार्थ—जलपूर्णस्रुवा को प्रणीता पात्र कहते हैं, जिसस्थल में इसका विधान तथा निषेध हो वहां उसकी स्थापना नहीं करनी चाहिये ॥९५॥

(वैरूपाक्ष मन्त्र इस प्रकार है :—"विरूपाक्षोऽसि" म० ब्रा० २,४,५, तथा प्रपद मन्त्र इस प्रकार है "तपश्च तेजश्च" म० ब्रा० २,४,५, यज्ञवित् पुरुष को चाहिये कि वह इन दोनों मन्त्रों का जप करे।)

(क्रमशः)

हिन्दी-सभा

सभापति—श्रीयुत घनश्यामदास जी बिड़ला ।

सह० सभापति—(२) श्रीयुत बंशीधर जालान ।

(३) „ भागीरथ कानोड़िया ।

अन्यान्य सदस्य

(४) काका कालेलकर ।
(५) डा० डी० आर० भंडारकर ।
(६) महामहोपाध्याय सकलनारायण शर्मा ।
(७) डा० सुनीति कुमार चटर्जी ।
(८) श्रीयुत बहादुर सिंह सिंघी
(९) श्रीयुत मूलचन्द अगरवाल ।
(१०) डा० बेनीमाधव बड़ुआ ।
(११) श्रीयुत शिवप्रसाद गुप्त ।
(१२) पं० अम्बिका प्रसाद बाजपेयी ।
(१३) श्रीयुत देवीप्रसाद खेतान ।
(१४) „ लक्ष्मीनिवास बिड़ला ।
(१५) „ पारस नाथ सिंह
(१६) „ पद्मराज जैन ।
(१७) „ बाबूलाल राजगढ़िया ।
(१८) डाः बटकृष्ण घोष
(१९) पं० श्री रामसुरति मिश्र ।
(२०) श्रीयुत सतीश चन्द्र शील । (परिचालक)
(२१) „ कालिदास मुकरजी (सह-सम्पादक)
(२२) कुमारी पद्मा मिश्रा (सह-सम्पादिका)

प्राचीन भारत का उद्देश्य

हिन्दी में मासिक एवं त्रैमासिक कई पत्रिकायें हैं लेकिन भारतीय संस्कृति एवं शास्त्र सम्बन्धीय कोई पत्रिका नहीं दिखलाई पड़ती। प्राचीन भारत की ज्ञान-गरिमा को हम क्रमशः भूलते ही जा रहे हैं कि इसी भारतवर्ष ने चीन, जापान के अतिरिक्त सुदूर अमेरिका में भी हिन्दुत्व का प्रभाव कैसे डाला था ! कैसे यूनानियों ने यहां से चिकित्सा पद्धति सीखी ? सम्राट सिकन्दर तो यहां की शिक्षा, एवं संस्कृति को देखकर दंग हो गया था। इस पत्रिका का उद्देश्य उस प्राचीन संस्कृति आदि पर प्रकाश डालना ही है। इस पत्रिका में नीचे लिखे विषयों पर लेख रहेंगे :—

(१) वैदिक शास्त्र (२) दर्शन-शास्त्र (३) धर्म-शास्त्र (४) बौद्ध तथा जैन शास्त्र (५) आयुर्वेद-शास्त्र (६) शिल्प एवं कला (७) प्राचीन विज्ञान-शास्त्र (गणित, ज्योतिष, रसायन, पदार्थ-विद्या आदि) (८) हिन्दी-साहित्य (९) समाज तथा नीति-शास्त्र (१०) प्राचीन तथा आधुनिक भारतवर्ष और दूसरे देशों की शिक्षापद्धति तथा उनका प्रचार कार्य (११) पुस्तक समालोचना तथा अन्यान्य विषयों में प्रकाशित लेखों पर मन्तव्य (१२) सम्पादकीय मन्तव्य। इसके अतिरिक्त अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियों का प्रकाशन एवं प्रकाशित दुष्प्राप्य पुस्तकों की समालोचना। संस्कृत, पाली एवं प्राकृत अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियोंका हिन्दी अनुवाद।

प्रथम वर्ष आठवीं संख्या

प्राचीन भारत

[भारतीय शास्त्र एवं संस्कृति सम्बन्धीय मुख्य मासिक पत्रिका]

भाद्र संवत् १९९८

सम्पादक—महामहोपाध्याय सकलनारायण शर्मा

सह० सम्पादक—श्री कालिदास मुकर्जी, एम. ए., एफ. आर. ए. एस.

सह० सम्पादिका—कुमारी पद्मा मिश्रा, एम. ए.

परिचालक—श्री सतीश चन्द्र शील, एम. ए., बी. एल.

दि इन्डियन रिसर्च इन्स्टिट्यूट

१७०, मानिकतला स्ट्रीट, कलकत्ता।

थम वर्ष

आठवीं संख्या

प्राचीन भारत

[भारतीय शास्त्र एवं संस्कृति सम्बन्धीय मुख्य मासिक पत्रिका]

भाद्र संवत् १९९८

सम्पादक—महामहोपाध्याय सकलनारायण शर्मा

सह० सम्पादक—श्री कालिदास मुकरजी, एम. ए., एम. आर. ए. एस.

सह० सम्पादिका—कुमारी पद्मा मिश्रा, एम. ए.

परिचालक—श्री सतीश चन्द्र शील, एम. ए., बी. एल.

दि इन्डियन रिसर्च इन्स्टिट्यूट

१७०, मानिकतला स्ट्रीट, कलकत्ता।

नियमावली

(१) माघ माह से प्राचीन भारत का वर्ष आरम्भ होता है। हर माह के पहले हफ्ते में यह पत्रिका प्रकाशित होती है। हर संख्या में लगभग ७२ पृष्ठ रहते हैं।

(२) इस पत्रिका का वार्षिक मूल्य ४) तथा छमाही मूल्य २।) रुपये (डाक सहित) है। प्रति संख्या की कीमत ।≠), डाक अलग।

(३) वार्षिक या छमाही मूल्य पहले देना पड़ता है।

(४) किसी विशेष-संख्या के प्रकाशित होने पर वार्षिक-ग्राहकों को उसकी कीमत नहीं देनी पड़ती है।

(५) वर्ष-समाप्ति के एक माह पूर्व वसूली के लिये पत्र दिया जाता है नहीं तो वर्ष-समाप्ति के बाद पहली संख्या वी० पी० द्वारा भेजी जाती है। जो महोदय पत्रिका बन्द करना चाहते हैं उन्हें पहले ही सूचित करना आवश्यक है।

(६) ग्राहक का पता यदि बदल जाय तो जितनी जल्दी हो सके सूचित करना चाहिये।

(७) ठीक समय में यदि पत्रिका न मिले तो ग्राहक १५ दिन के भीतर सह० सम्पादक को सूचित करें।

(८) लेखक कृपया पृष्ठ की एक ओर अपना लेख भेजें। प्रूफ केवल एक ही बार लेखक के पास भेजा जा सकता है।

(९) जो महाशय १००) देने की कृपा करेंगे वे इस संस्था के आजीवन—सदस्य बनेंगे। उन्हें पत्रिका एवं इस संस्था से प्रकाशित हिन्दी पुस्तकें मुफ्त में दी जावेंगी।

Printed and Published by Mr Gour Chandra Sen, B Com. from the Indian Research Institute, 70, Maniktala Street, Calcutta, at the Sree Bharatee Press of the same address.

सूचोपत्र

विविध-विषय

प्राचीन भारत

(भारतीय शास्त्र एवं संस्कृति सम्बन्धीय मुख्य मासिक पत्रिका

प्रथम वर्ष } भाद्र (संवत् १९९८) { आठवीं संख्या

प्राचीन भारत (वैदिक युग*)

पं० केदारनाथ, साहित्य-भूषण (जयपुर)

भारत के नाम से पृथ्वी का जो भाग आज प्रसिद्ध है इसका प्राचीन इतिहास यदि देखा जाय तो वह इस प्रकार उपलब्ध होता है :—

पूर्व भारत और पश्चिम भारत इस प्रकार से यह भू-भाग पहले दो विभागों में विभक्त था। जिस प्रकार पूर्व भाग आर्यावर्त नाम से प्रसिद्ध था उसी प्रकार पश्चिम भारत आर्यायण कहलाता था और प्राचीन लोग इसे पारस्थान भी कहते थे। सिन्धु नदी आजकल भारत की सीमा कही जाती है किन्तु यह पहले पूर्व भारत और पश्चिम भारत के मध्य में थी। आज ईरान को पारस्थान कहा जाता है, वह पहले आर्यायण कहा जाता था और सिन्धु से लेकर लाल समुद्र तक का प्रदेश पारस्थान कहलाता था। लाल समुद्र से पूर्व और सिन्धु नदी से पश्चिम, आराल और कास्यप समुद्र से दक्षिण के देशों को प्राचीन लोग (अनार्यदेशीय) ओरियंस (Oriens) नाम से पुकारा करते थे। यह देश आर्यों की निवासभूमि थी इसका यह प्रबल प्रमाण है। यह पश्चिम भारत ही आर्यावर्त का पश्चिम भाग था।

---

* स्वर्गवासी विद्यावाचस्पति पण्डित् श्री मधुसूदन जी के इन्द्र-विजय काव्य के सीमा प्रसङ्ग प्रकरण के आधार पर।

५७—१

पश्चिम भारत में ऋजाश्व नाम का ऋषि था और उसका दौहित्र जरथुस्थ ब्राह्मणों का शत्रु था। उसने ही ब्राह्मी लिपि को छोड़ कर खरोष्ठी लिपि की कल्पना की थी और ऐन्द्रधर्म जो देवाराधन का था उसके विपरीत उसने वारुण धर्म जो उसके बिलकुल विरुद्ध था और असुराराधन के उपयुक्त था उसका प्रचार किया। जिन लोगों ने वारुणधर्म को स्वीकार किया था वे लोग मग थे। शाकद्वीप के रहने वाले ब्राह्मण मग कहलाये।

बाल्हीक* देश का प्रान्त शाकद्वीप के नाम से प्रसिद्ध था और वहां के क्षत्रिय लोगों के लिये शक शब्द का व्यवहार किया जाता था। वही क्षत्रियों का देश स्कीथिया यास्कीदिया नाम से म्लेच्छों में प्रसिद्ध था। शकों की सहायता लेकर और उन के घमण्ड से मग लोगों ने वारुणधर्म का प्रचार किया। ऋजाश्व का दौहित्र जरथुस्थ असुरों में आरियस्थ कहलाया और उसके मत के धारण करने वाले लोग आरियम। इस प्रकार जो देश उन लोगों के अधिकार में चला गया वह भी आरियस्थ कहलाया। वही देश ओरियम कहलाता है ऐसा कुछ लाग कहते हैं तथापि ऋजाश्व आर्य था इस कारण इस पश्चिम भाग के आर्यदेश होने में कोई संशय नहीं। किन्तु पश्चिम देश वालों ने आसुरधर्म का ग्रहण कर लिया इस कारण पश्चिम भारत भी किसी समय आर्यों की ही निवासभूमि थी।

वैदिक लोग हिन्दूकुश पर्वत के दक्षिण से निकलने वाली मार्गियाना प्रान्त के नीचे और शरीफि पहाड़ के उत्तर से पूर्व-पश्चिम बहने वाली नदी को सरयू नाम से पुकारते थे। उसके दक्षिण प्रान्त का प्राचीनकाल में अनार्य लोगों ने एरियाना नाम रखा था और सुलेमान पर्वत से पश्चिम और ऊपर लिखे एरियाना प्रान्त से पूर्व में जो भू भाग है जिसको आजकल इण्डिया (भारतवर्ष) कहते हैं यह आर्यों की बस्ती थी यह ऋग्वेद के मन्त्र से प्रतीत होता है :—

'उतत्या सद्य आर्या सरयोरिन्द्र पारतः।
अर्णाचित्ररथावधीः॥'

(ऋग्वेद म० ४ सू० ३० म० १८)

ये प्रमाण प्राचीन वैदिक युग के हैं।

पहले कान्यकुब्ज देश में विश्वामित्र नाम का राजा हुआ। उसने किसी समय वशिष्ठ ऋषि की गौ नन्दिनी को हरण करने की इच्छा की। नन्दिनी गौ विश्वामित्र के साथ नहीं गई

---

* बाल्हीका वाटधानाश्च पहलवाश्चर्मखण्डिका:।
गान्धारायवनाश्चै व पारदा द्वारभूषिका:।
कम्बोजादरदाश्चैव काश्मीरागुणवासथा।

(मार्कण्डेयपुराण ५४ अध्या)

और क्रोध से अपने खुर से पृथ्वी को खोदने लगी। वशिष्ठ महर्षि ने अपने कुल के हितैषी वरुण से सहायता मांगी। वेदों में वशिष्ठ की वरुण के साथ मित्रता प्रसिद्ध है।

देवयुग में बान्हीक देश का राजा वरुण पारस्थानदेश का स्वामी तथा सातों समुद्रों का मालिक था और असुरों का अधिपति भी था। पह्लव, पारद, यवन, शक, काम्बोज और दरद आदि पारस्थान देश के रहने वाले पद्मगण वरुण की आज्ञा से गौ की रक्षा के हेतु चले और नन्दिनी गौ के खुर को मस्तक पर धारण करके और उसको प्रणाम करके चल पड़े और उन्होंने विश्वामित्र राजा की सेना का नाश कर दिया। इस कारण उनकी खुरधा खुरदा, कुर्दा नाम से प्रसिद्ध हुई और वे लोग जिस देश में रहते थे वह देश खुर्दस्थान वा खुरासान नाम से प्रसिद्ध हुआ। शाह बाबर ने अपनी जीवनी में खुरासान को अपनी जन्मभूमि बतलाया है और अफगान तथा बलूचलोग भी उस प्रदेश को खुरासान ही कहते हैं। भारत के लोग भी उस प्रदेश को खुरासान ही कहते हैं। जैसा कि शक्तिसङ्गम-तन्त्र में लिखा है :—

'हिङ्गपीठं समासाद्य मरुकेशान्त सुरेश्वरि ।
खुरासानाभिधो देशो म्लेच्छ मार्ग परायणः ॥'

इस प्रकार यह सारा देश जो भूमध्यसागर के पूर्व और सिन्धुनदी के पश्चिम में है ईरान नाम से प्रसिद्ध हुआ। संस्कृत में आर्यायण ईरण और अरण ये नाम प्रसिद्ध हैं। अथर्ववेद में इस देश के लिये आर्यलोगों के विरोधियों का वास होने के कारण अरण नाम का व्यवहार किया गया है। खास कर आर्यद्वेषी अरणों का बान्हीक देश तथा मूजवान् पर्वत वा महावृष नामक स्थान में निवास था, अथवा कम्पनशील पदार्थ के अर्थ में ईरण शब्द का प्रयोग होता है अर्थात् भयशील और अस्थिर रूप से रहने वालों के देश के लिये ईराण नाम व्यवहृत हुआ।

अथर्ववेद के १२वें काण्ड में प्रथम सूक्त का २८वा मन्त्र है :—

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः ।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् ॥

इसमें ईराण शब्द आन्दोलन अर्थात् झूलने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार पश्चिम भारत को कहीं ओरियस नाम से कहीं पारस्थान नाम से कहीं खुरासान नाम से लिखा हुआ मिलता है।

ईरान, खुरासान, पर्शिया आदि देश बड़े बड़े मुल्क थे किन्तु समय के हेरफेर से आज ये भिन्न २ नाम छोटे छोटे प्रान्तों के हो गये हैं। कहीं शासन से कहीं अज्ञानवश इस प्रकार नामों में गड़बड़ी हो जाना स्वाभाविक है। आज हिरात को ही खुरासान कहा जाता है। अफगानिस्तान से खुरासान और उससे ईरान और इराक रोम, सीरिया, केल्डिया, सीरिया, मेसोपोटेमिया आदि देशों से युक्त खुरासान मीडिया नाम को धारण करने लगा। आज ईरान को पर्शिया कहते हैं। कास्पियन

समुद्र के अग्निकोण में खुरासान और उससे भी दक्षिण में इराक और उससे भी दक्षिण में पारस है। इस देश की स्थिति में जितना परिवर्त्तन होता रहा उतना किसी भी देश में नहीं हुआ। इसी कारण इस देश की सीमा और नाम बदलते रहे। सिन्धु से लेकर यह देश आरम्भ होता है।

चाहे कुछ भी हो देश में शासन भेद होने से देश नहीं बदल जाता। यह सिन्धु से पश्चिम का भू-भाग किसी समय भारतवर्ष का ही आधा भाग था। ऊपर लिखे प्रमाणों के सिवाय इन्द्र और वरुण के निमित्त वैज्ञानिक वाग्युद्ध हुआ था—यह भी एक भारत के पूर्व तथा पश्चिम भाग के भेद से दो भाग होने में प्रमाण है।

जरथुस्थ बाल्हीक देश में पैदा हुआ था। जरदष्टि ऋज्राश्व का पुत्र था और ब्राह्मण था। इन्द्रदेव का विरोध कर वह आसुरधर्म मानने लगा और असु अर्थात् प्राणों के बलवान् होने से असुर महाप्राण कहलाये और जो असुरों से भिन्न थे वे सुर—देव कहलाते हैं।

सोमनाथ की लता का (जो यज्ञ में काम आती थी और रात को जिसके पत्ते चमकते थे और जिसमें शुक्लपक्ष में एक-एक पत्ता बढ़कर पूर्णिमा को पूरे पन्द्रह पत्ते हो जाते थे और कृष्णपक्ष में इसी प्रकार एक-एक पत्ता घटते २ अमावस्या को एक भी पत्ता नहीं रहता था) दुनिया से नाश कर उसकी जगह वारुणी नाम के मद्य का आविष्कार करके सुरों को अर्थात् देवताओं को ही पी जाते हैं इस विचार से वे मद्य पीने लगे। सोम के नष्ट हो जाने पर देखा-देखी सुर (देवता) भी मद्य पीने लग गये। किन्तु बाल्हीक देश में रहने वाले भृगु महर्षि जो असुरों के गुरु थे उन्होंने आर्य लोगों को सुरा नहीं पीनी चाहिये यह हितकर उपदेश दिया था जैसा कि मनुस्मृति में भृगु का वचन है :—

सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते।
तस्माद् ब्राह्मण राजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत्॥

(मनुस्मृतौ भृगुः)

ऋज्राश्व के दौहित्र जरथुस्थ के मतानुयायी असुर थे जो इन्द्र के विरुद्ध वरुण को प्रधान मानते थे। उन लोगों ने इन्द्र को लाञ्छन लगाने के लिये ही वृषाकपि नाम के असुरेन्द्र को सौत्रामणी नाम का सुरायज्ञ करने के लिये इन्द्र के पास भेजा। यह वृषाकपि उस समय के विकुण्ठा के गर्भ से उत्पन्न वैकुण्ठ इन्द्र का (जो १४ इन्द्रों में से एक थे) मित्र था जिनका नाम भी वृषाकपि ही था। वे देव इन्द्र नाम के साम्य से असुरेन्द्र वृषाकपि को बड़ा प्रेम करते थे और इन सुर और असुर दोनों वृषाकपियों की बड़ी मित्रता थी।

सौत्रामणी यज्ञ में असुर वृषाकपि के यहां सजया नाम की इन्द्राणी को साथ लेकर सोम पीने को वृषाकपि इन्द्र गये। वहां पर इन्द्र को सोम के साथ सुरा पीने का निवेदन किया गया।

सौत्रामणी यज्ञ में इन्द्र सुरा पीता है और हम सोम पीते हैं इस प्रकार का आक्षेप असुरों ने किया और उन्होंने इन्द्र को निवेदन किये गये सोम को छीनने के लिये वृषाकपि नाम के असुर को नियुक्त किया। वह यज्ञ में से सोम का अपहरण कर ले गया और उसे खुद पी गया। असुर अनिन्द्र नाम से ६ मन्त्रों में कहे गये हैं और ये वरुण को ही अपना प्रधान मानते थे इन्द्र को नहीं।

इन्द्राणी ने वृषाकपि नाम के असुर को जिसे वह अपना पुत्र मानती थी सोम पीते हुए देख कर अपने पति को क्रोध के वशीभूत होकर उचितानुचित कहा। यह वर्णन ऋग्वेद के दशम मण्डल के ८६वें सूक्त में है। मन्त्रों के अर्थ का सारांश यह है :—

क्या तुमको और किसी जगह सोम नहीं मिलता जो तुम सोम पीने के लिये इस वृषाकपि के यज्ञ में दौड़े आये हो? इस मोटे मृग वृषाकपि ने तुम्हारा क्या उपकार किया है जो तुम इसको बहुमूल्य सोम जैसा धन दे रहे हो? जिस सोम की रक्षा तुम बहुत प्रिय समझ कर करते हो उसको शूकर-भक्षक कुत्ता आज कान के द्वारा ग्रहण करके खा जावे—वह दुष्ट जीने न पावे। मैं वीरपत्नी हूँ मुझको यह धृष्ट अवीरा की तरह तिरस्कार करता है और आप ईश्वर भी कैसे क्षमा करते हो?

इस प्रकार वृषाकपि (असुरेन्द्र) के अपराधों को क्षमा करते हुए क्रोध के साथ आक्षेप करती हुई इन्द्राणी के कथन के उत्तर में शान्ति के सेतु इन्द्र कहते हैं :—

यह वृषाकपि मेरी आज्ञा से सोम निकाल कर यज्ञ करता है और असुर यह बात नहीं चाहते, इस कारण ये उन लोगों के भय से सोम पी गया है। हे शुभकेश वाली! इसमें वृषाकपि का दोष नहीं। तुम वीरपत्नी होकर क्यों व्यर्थ क्रोध करती हो? मैं इस वृषाकपि नाम के मित्र के बिना प्रसन्न नहीं रह सकता जिसके द्वारा आसुरकुल से प्रिय हवि देवों में चला जाता है। मैं यहां सोम पीने नहीं आया हूँ किन्तु सोम के पीने के बहाने से इसको देखने के लिये और इस आर्यदास को ले जाने के लिये ही आया हूँ।

इन्द्राणी के प्रति वृषाकपि (असुर) की सान्त्वना :—

इसके बाद वृषाकपि (असुर) विनय के साथ इन्द्राणी से कहने लगा कि हे इन्द्राणी! हे नित्यसौभाग्य वाली! तेरा पति बुढ़ापे से नहीं मरता। मेरे लिये ३५ बैल लगते हैं और मैं उनसे बहुत स्थूल हो गया हूँ और मेरी दोनों बगलें भी भारी हैं। ऐन्द्रसोम पीकर अपने इन भक्ष्य पशुओं को मैं ही काम में लाऊँगा। तेरा इन्द्र तो अपने प्रिय हवि का ग्रहण करे।

यह वृषाकपि असुरकन्या के गर्भ से उत्पन्न हुआ था और इसकी पत्नी भी पुलोमासुर की लड़की थी इस कारण असुर के लिये ये बातें सभव हैं।

वैकुण्ठ इन्द्र (देव) के लिये वृषाकपि ने यह प्रतिज्ञा की कि यह देवेन्द्र 'विश्वस्मादुत्तरः'—अर्थात् दुनिया से निराला है :—

यह आख्यान ऋग्वेदसंहिता के दशममण्डल के ८६वें सूक्त में देवेन्द्र वैकुण्ठ इन्द्र की प्रशंसा में लिखा गया है। वे मन्त्र ये हैं :—

इन्द्राणी के क्रोध के मन्त्र :—

१—पराहीन्द्र धावसि वृषाकपेरति व्यथिः।
नो अह प्रविन्दस्यन्यत्र सोमपीतये॥
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः। (ऋ० १०।८६।२)

२—किमयं त्वां वृषाकपिश्चकार हरितो मृगः।
यस्मा इरस्यसी दुन्वयौं वा पुष्टिमद्वसु॥
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः। (ऋ० १०।८६।३)

३—यमिमं त्वां वृषाकपिं प्रियमिन्द्राभिरक्षसि।
श्वान्वस्य जम्भिषदपि कर्णे वराहयुः॥
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः। (ऋ० १०।८६।४)

४—अवीरामिवमामयं शरारुरभिमन्यते।
उताहमस्मि वीरिणीन्द्र पत्नी मरुत्सखा॥
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः। (ऋ० १०।८६।९)

देवेन्द्रवृषाकपि के सान्त्वना के हेतु कहे गये मन्त्र :—

१—विहियो तो स्त्रक्षतनेन्द्र देवमय सत।
यत्रामदद् वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा॥
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः। (ऋ० १०।८६।१)

२—किं सुबाहो स्वङ्गुरे पृथुष्टो पृथुजाघने।
किं शूरपत्नि नस्त्वमभ्यमीषि वृषाकपिं॥
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः। (ऋ० १०।८६।८)

३—नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते।
यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति॥
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः। (ऋ० १०।८६।१२)

४—अयमेमि विचाकशद्विचिन्वन्दासमार्यम्।
पिबामि पाकसुत्वनोऽभिधीरमचाकशं॥
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः। (ऋ० १०।८६।१९)

असुरेन्द्रवृषाकपि-कृत सान्त्वना के मन्त्र :—

१—इन्द्राणीमासुनारिषु सुभगामहमश्रवम् ।
नह्यस्या अपरंचन जरसा मरते पतिः ॥
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः । (ऋ० १०।८६।११)

२—उक्ष्णोहि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम् ।
उताहमद्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे ॥
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः (ऋ० १०।८६।१४)

पश्चिम भारत में वैज्ञानिक विसवाद :—

वरुण की राजधानी बाल्हीक नगर में यज्ञ में आये हुए ब्राह्मणों में परस्पर झगड़ा हो गया। उनमें १—अग्नि वसुओं से, सोम रुद्रों से, इन्द्र मरुतों से, वरुण आदित्यों से, बृहस्पति विश्वेदेवों से घिरा हुआ है यह एक मत था। २—अग्नि वसुओं से, इन्द्र रुद्रों से, वरुण आदित्यों से, सोम पितरों से, बृहस्पति विश्वेदेवों से आक्रान्त अर्थात् घिरा हुआ है यह दूसरा मत था। ३—अग्नि वसुओं से, वायु रुद्रों से, इन्द्र आदित्यों से, सोम पितरों से, वरुण जलों से, बृहस्पति विश्वेदेवों से आक्रान्त है यह तीसरा मत था।

इनमें प्रथमपक्ष को असुरों ने ग्रहण किया और तृतीय पक्ष को इन्द्र के अनुगामियों ने —किन्तु महर्षियों ने यह देखा कि इसमें झगड़ा करने की कोई बात नहीं। ये देवता सब सोनपात नाम से व्यवहार में आते हैं और अपने अपने अग्नि देवताओं से युक्त हैं और ये तीनों ही बातें पृथक् २ त्रिलोकी के हिसाब से ठीक हैं।

(क्रमशः)

कुषाण काल के जैन धार्मिक संघ*

श्री बैजनाथ पुरी, एम० ए० (लखनऊ)

कुषाण काल में मथुरा जैनों का एक बड़ा केन्द्र था। उस समय के बहुत से लेख मथुरा के कई स्थानों पर खुदाई में मिले हैं जिनसे यह पता चलता है कि वहां बहुत से जैन धार्मिक सङ्घ थे जिनमें आपस के वैमनस्य का अभाव था। ये सङ्घ 'गण' के नाम से प्रसिद्ध थे। इन गणों में कई 'कुल' होते थे जो प्रायः प्रधान अध्यापक कहलाते थे। इन कुलों की भी कई शाखायें होती थीं। इनके अतिरिक्त ये धार्मिक 'सङ्घ' सम्भोगों में विभाजित थे। सूक्ष्म रीति से इतना कहना ठीक होगा कि सङ्घ पहले 'गण', फिर कुल, उसके पश्चात् 'शाखा' और अन्त में सम्भोगों में विभाजित थे[1]। इन सङ्घों के कार्यक्रम का पूर्णतया अध्ययन करने के पहले उन लेखों पर विचार करना आवश्यक होगा जिनके द्वारा इस विषय पर प्रकाश डाला जा सकता है। इस सम्बन्ध में केवल मुख्य २ जैन लेखों पर ध्यान देना ही आवश्यक होगा।

मथुरा के एक लेख[2] से पता चलता है कि खुडा (क्षुद्रा) नामक किसी स्त्री ने कुषाण संवत् के पञ्चम वर्ष में वदमान (वर्द्धमान) की एक मूर्त्ति स्थापित की थी। क्षुद्रा कोट्टियगण, ब्रह्मदासिककुल और उचेनागरी शाखा की सदस्या थी।

एक चतुर्मुख नग्न जिन मूर्त्ति के पाये पर लिखे लेख[3] से पता चलता है कि मातृदिन (मातृदत्त) की प्रार्थना पर सुचिल की पत्नी ने कुषाण संवत् १० के १९वें वर्ष में उसकी स्थापना की थी। सुचिल की पत्नी कोट्टिय गण, ठानिय कुल, आर्यवेरी (आर्यवज्री) शाखा और श्रीगृह संभोग की सदस्या थी।

---

* इस विषय पर स्वर्गीय श्री० ब्यूहलर महोदय ने भी एक पुस्तक The Indian sect of the Jains लिखी थी। लेख के लिखने में लेखक ने उस पुस्तक की सहायता ली है जिसके लिये वह उनका अनुगृहीत है। लेखक ने भी इस विषय पर कुछ अनुसंधान किये हैं परन्तु उनका यहां उल्लेख करना उचित नहीं है। यह लेखक की पुस्तक The Age of the Imperial Kuṣāṇas के लिये है जो पी० एच० डी० डिग्री के लिये लिखी जा रही है। इसलिये पाठक इसके लिये क्षमा करेंगे।

१ कल्पसूत्र—Sacred Book of the East जिल्द २२ पृष्ट २८८५।

२ एपीग्राफिया इण्डिका जिल्द १ नं० १ पृष्ट ३८१।

३ वही नं० ३ पृष्ठ ३८२।

इन दो लेखों के अतिरिक्त कोट्टिय गण सम्बन्धीय एक और लेख४ मिला है। यह लेख एक छोटी जिन मूर्त्ति के पाये पर लिखा है। इसमें कुमारभट्ट के दान का वर्णन है जो उसने अपनी माता कुमार मित्रा के (जो बलदिन की शिष्या थी) कहने पर किया था। वह कोट्टिय गण, स्थानिय कुल, वैर शाखा और शिरिक सभोग के हितार्थ था।

कोट्टिय गण और कुछ दूसरे कुलों और शाखाओं का पता कई अन्य कुषाणकालीन मथुरा के लेखों से भी लगता है जिन पर विचार करना आवश्यक है। एक चतुर्मुखी नग्न जिन मूर्त्ति पर लिखे लेख५ से पता चलता है कि यह कोट्टिय गण और वच्छलिय कुल के हितार्थ कुषाण सवत् के १८वें वर्ष में दान किया गया था। अभाग्यवश शाखा का नाम मिट गया है। एक कुछ मिटे हुए लेख६ से कोट्टिय गण के पवहक कुल और मझमा शाखा का भी पता चलता है। पवहक कुल को कल्पसूत्र का प्रश्नवाहनक और मझमा शाखा को मध्यामिका शाखा कहना ठीक होगा।

इन लेखों के अतिरिक्त बहुत से दूसरे कुषाण लेख भी मिले हैं पर उनमें कोट्टिय गण के ये ही कुल, शाखायें और सभोगों के हितार्थ दानों का वर्णन है इसलिये इस विषय के लिये अन्य लेखों पर विचार करना आवश्यक न होगा। अब इन लेखों के आधार पर हम कोट्टिय गण के निम्नलिखित कुल और शाखाओं का एक लेखा-चित्र बनाते हैं :—

कोट्टिय गण

कुल	शाखा
१। ब्रह्मदासिक कुल	१। उचेनागरी शाखा
२। ठानिय कुल स्थानिय कुल	२। आर्यवेरी (आर्यवजरी) वैरा शाखा
३। पवहक कुल	३। मझमा (मध्यामिका) शाखा
४। वच्छलिय कुल	—
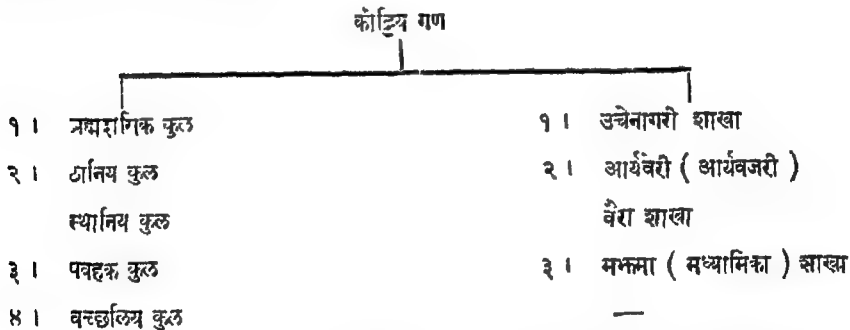
यह लेखाचित्र पूर्णतया केवल उन्हीं लेखों के आधार पर खींचा गया है जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। मुस्थित और सुप्रतिबुद्ध द्वारा सम्पादित कल्पसूत्र७ मे भी कोट्टिय गण और उनके कुल शाखाओं इत्यादि का उल्लेख है। उसके अनुसार कोट्टिय गण की उचेनागरी, विद्याधरी, वजरी और मध्यामिका शाखायें तथा ब्रह्मलिप्तक, वात्सलीय (प्राकृत—वच्छालिज्ज), वनिय (प्राकृत—वानिज)

४ एपिग्राफिया इन्डिका न० ७ पृष्ठ ३८६।

५ यही जिल्द २ न० १२ पृष्ठ २०२।

६ यही न० २२।

७ सेक्रेड बुक आफ दी ईस्ट, जिल्द २२ पृष्ठ २९२।

और प्रश्नवाहनक कुल थे। अब लेखों के ब्रह्मदासिक कुल की तुलना कल्पसूत्र के ब्रह्मलिसक, वच्छलिय की वात्सलीय, पवनक की प्रश्नवाहनक तथा ठानिय अथवा स्थानिय कुल की तुलना कल्पसूत्र के वानीय कुल से की जा सकती है। ठानिय की आर्य वेरी और स्थानिय की वैरा शाखा एक ही कुल की शाखा है। यद्यपि इनके प्रत्यक्ष रूप में कुछ पार्थक्य प्रतीत हो किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि स्थानिय अथवा ठानिय एक ही कुल है और उनकी शाखायें वैरा और आर्यवेरी भी एक ही शाखा के दो रूप हैं। कल्पसूत्र की उचेनागरी और मध्यामिका शाखा का ब्रह्मदासिक और पवहक कुल के साथ सम्बन्ध लेखों द्वारा पूर्णतया प्रमाणित है। वच्छलिय कुल की शाखा का नाम उस लेख में मिट गया है। कल्पसूत्र से यह प्रतीत होता है कि विद्याधरी नामक भी एक शाखा थी। इसलिये वच्छलिय कुल के साथ यदि विद्याधरी शाखा का सम्बन्ध दिखाया जाय तो यह भूल न होगा। कल्पसूत्र में भी केवल चार कुलों का उल्लेख है इसलिये वच्छलिय (वात्सलीय) कुल का विद्याधरी शाखा के साथ सम्बन्ध पूर्णतया निश्चित है।

उस गण के अतिरिक्त मथुरा में वारण नामक गण भी था। डाक्टर ब्यूहलर८ ने इस गण की तुलना कल्पसूत्र के चारण गण से की है। कुषाणकालीन कई एक ब्राह्मी लेख मथुरा में मिले हैं जिनसे इस गण का, उसके कुल और शाखाओं का भी पता चलता है। इस सम्बन्ध में हम केवल कुछ मुख्य मुख्य कुषाण लेखों पर विचार करेंगे जिनमें भिन्न २ कुलों और शाखाओं का उल्लेख है।

मथुरा में एक जिन मूर्त्ति के पाये पर लिखे लेख९ से पता चलता है कि ग्रहहथि की लड़की ने दत्त के शिष्य गहप्रविक की प्रार्थना पर उस मूर्त्ति का दान किया था। दत्त, वारण गण और पुष्यमित्रीय कुल का सदस्य था। यह लेख कुषाण संवत् के २९वें वर्ष का है।

इसके अतिरिक्त एक और लेख१० कुषाण संवत् ५४ का महाराज हुविष्क के समय का है। वारण गण, अर्यचेटिय कुल (अर्यचेटिक) और हरीतमालकढी (हरीतमालगढी) शाखा के वाचक हर्गिनन्दि के शिष्य नागसेन द्वारा यह दान दिया गया था।

एक और पद्मासन में बैठी जिन मूर्त्ति पर लिखे लेख११ में वारण गण और पेतिवामिक कुल का उल्लेख है।

डाक्टर फ्यूहरर का एक लेख१२ मथुरा में मिला था जिसमें वारण गण के कनयसिक कुल

८ दि इन्डियन सेक्ट आफ दी जैनस पृष्ठ ५९।

९ एपिग्राफिया इन्डिका जिल्द १ नं० ६ पृष्ठ ३८५।

१० यही पुस्तक नं० ९ पृष्ठ ३८७।

११ यही पुस्तक नं० २० पृष्ठ ३९१।

१२ यही पुस्तक १ नं० २१ पृष्ठ ३९२।

का उल्लेख है। इस लेख में यद्यपि शाखा का नाम मिट गया है फिर भी उस नाम के प्रथम दो अक्षर 'ओद' अब भी स्पष्ट हैं।

वारण गण के एक और कुल अय्य-हाट्टिय का भी उल्लेख मथुरा में बैठी हुई एक जिन मूर्त्ति पर लिखे लेख[१३] से मिलता है। इस कुल की वजणागरी (वार्जनगरी) शाखा और आर्य शिरिकिय सभोग का भी वर्णन है। इस कुल का उल्लेख कुषाण सवत् के चतुर्थ वर्ष में लिखे[१४] गये एक और लेख में भी किया गया था।

इनके अतिरिक्त एक और लेख[१५] में वारण गण के वाचक धुक की शिष्या सादिता द्वारा प्राप्य दान का उल्लेख है। यह वाचक वारण गग के नादिक कुल का था। शाखा का नाम मिटा हुआ है।

अन्तिम लेख कुषाण[१६] सवत् पचास का है। इसमें ममदि की शिष्या अय्यजिन-दासी द्वारा दिये गये दान का वर्णन है। इस लेख में अय्यभ्यिस्त कुल, सम्कासिया शाखा और शिरिग्रह (श्री ग्रह) सभोग का उल्लेख है। इन प्रधान लेखों के सिवाय और भी बहुत से लेख हैं जिनमें वारण अथवा चारण गण के इन्ही कुल और शाखाओं का वर्णन है। कोट्टिय गण की तरह इन लेखों के आधार पर वारण अथवा चारण गण का भी रेखाचित्र खींचा जा सकता है :—

वारण (चारण) गण

१। पुष्यमित्रिय कुल	१। — —
२। आर्य चेटिय कुल	२। हरीतमालकढी शाखा
३। पेतिवामिक कुल	३। — —
४। कनियसिक कुल	४। ओद···शाखा
५। अय-हट्टिय कुल	५। वजनागरी शाखा
६। नाटिक कुल	६। — —
७। अय्यभ्यिस्त	७। सकासिया

अब कल्पसूत्र[१७] के अनुसार यह प्रकट होता है कि वारण गण सात कुल और चार शाखाओं

१३ एपिग्राफिया इण्डिका जिल्द नं० २४ पृष्ठ २०७।

१४ वही पुस्तक जिल्द २ नं० ११ पृष्ठ २०१।

१५ वही पुस्तक जिल्द २ नं० २८ पृष्ठ २०६।

१६ वही पुस्तक नं० ३६ पृष्ठ २०९।

१७ सैकरेड बुक आफ दी ईस्ट जिल्द २२ पृष्ठ २९१।

में विभाजित था। ये वात्सलीय (प्राकृत—वच्छलिज्ज), प्रीतिधर्मिक, हारिद्रक (प्राकृत—हलिज्ज) पुष्यमित्रिक, माल्यक (प्राकृत—मालिज्ज), आर्यचेड्य और कण्हसह कुल थे। शाखाओं में सकाशिक, वज्जनागरी, गवेधुका और हारियमालागारी नामक चार शाखायें थीं।

लेखों और कल्पसूत्र में लिखे वारण (चारण) गण के कुलों की समानता आसानी से दिखाई जा सकती है। लेखों में लिखे कुलों में पुश्यमित्रिय की पुष्यमित्रिक (पुशमितिज), आर्य चेटक की आर्यचेड्य, कणियसिक की कण्हसह, पेतिवामिक की प्रातिधर्मिक और अय-हाट्टिय की हारिद्रक कुल के साथ तुलना की जा सकती है। अय-हाट्टिय और हारिद्रक कुलों की समानता का कारण उन दोनों की समान शाखा वजनागरि अथवा वज्जनागरी है। अब केवल दो कुलों की समानता दिखलानी है—ये अर्यभ्यस्त और नाड्कि कुल हैं। लेख में अर्यभ्यस्त कुल की शाखा का नाम सम्कासिया लिखा है किन्तु नाड्कि कुल की शाखा का नाम मिटा हुआ है। कल्पसूत्र में सम्कासिका शाखा का सबन्ध वच्छलिज कुल के साथ है इसलिये अर्यभ्यस्त कुल की समानता वच्छलिज कुल के साथ मान लेना चाहिये। अन्तिम कुल नाड्य है जिसकी समानता अन्त में कल्पसूत्र के मालिज्ज कुल के साथ करनी होगी। एपिग्राफिया इन्डिका१८ में इस लेख की छाप के देखने से यह पता चलता है कि कुल और शाखा के बीच में चार अक्षरों की जगह है। ये अक्षर किसी शाखा के लिये हैं। चारण गण की चार शाखाओं में से अब केवल एक ही शाखा बच गई जिसकी समानता लेखों के किसी शाखा से न दिखला जा सकी। यह शाखा गवेधुक है। यहां पर यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि इस शाखा का नाड्य कुल के साथ सबन्ध था या नहीं। पर यदि हम नाड्कि कुल की तुलना कल्पसूत्र के मालिज्ज कुल के साथ करें तो यह सम्भवतया ठीक होगा।

इन दो गणों के अतिरिक्त कुषाण लेखों से आर्य-उदेकीय नामक गण का भी पता चलता है। इस गण का उल्लेख केवल दो लेखों में पाया जाता है। एक बड़े पद्मासन में बैठी जिन मूर्ति के पाये पर लिखे लेख१९ से पता चलता है कि वाचक आर्यमघिक के शिष्य आर्यबुद्धश्री के उद्योग से अर्योदेहिकिय (आर्य-उद्देहिकीय) गण और अर्य्य-नाग भूतिकिय (आर्य-नाग भूतिकीय) कुल के हितार्थ यह दान दिया गया था। यह लेख महाराज राजातिराज देवपुत्र षाहि कनिष्क के सप्तम वर्ष का है।

इनके सिवाय एक दूसरा लेख२० श्री देवदत (देवदत्त) की प्रार्थना पर देहिकीय (उद्देहिकीय)

---

१८ एपिग्राफिया इण्डिका जिल्द २ नं० २८ पृष्ठ २०६।

१९ यही पुस्तक जिल्द २ नं० १९ पृष्ठ २०१।

२० इण्डियन एण्टीक्वेरी १९०४ नं० २३ पृष्ठ १०८।

गण, पन्धासिक कुल और पेतपुत्रिआ (पैतापुत्रिका) शाखा के हितार्थ किया गया था। लेख की तिथि महाराज वासुदेव के काल में कुषाण संवत् ९८ है।

कल्पसूत्र२१ के अनुसार कश्यप गोत्र के आर्यरोहन ने इस उद्देहगण की स्थापना की थी। यह छः कुल और चार शाखाओं में विभाजित था। शाखाओं के नाम उदुमबरिका (प्राकृत—उदुम-बरिज्जआ), मासपूरिका, मतिपत्रिका और पूर्णपत्रिका (प्राकृत—पुन्नपत्तिआ) थे। कुलों में नागभूत, सोमभूत, उल्लगच्छ (अथवा अद्रकच्छ ?), हस्तिलिप्त (प्राकृत—हत्थिलिज्ज), नान्दिक (प्राकृत—नान्दिज्ज) और परिहासक ये सात कुल थे। लेखों में लिखे नागभूतिय और परिहासक कुलों की समानता कल्पसूत्र के नागभूत और परिहासक कुल के साथ की जा सकती है। लेख में केवल एक ही शाखा का उल्लेख है। इस शाखा का नाम पेतपुत्रिक है जिसकी तुलना कल्पसूत्र की पूर्णपत्रिक शाखा से की जा सकती है।

इन तीन गणों के अतिरिक्त लेखों मे एक और गण का भी पता चलता है। प्रत्यक्ष-रूप से इस गण का कहीं उल्लेख नहीं है किन्तु दो लेखों में एक कुल का उल्लेख मिलता है जो कल्पसूत्र के अनुसार वेशवाडिय गण का एक कुल था। इसी आधार पर हम वेशवाडिय गण का होना मान सकते हैं। कुषाण संवत् के १५वें वर्ष का एक लेख२२ मथुरा में मिला है जिसमें मेहिक कुल के जयभूति की शिष्या सङ्गमिका की शिष्या वसुला की प्रार्थना पर दिये गये दान का वर्णन है। दूसरा लेख२३ एक पद्मासन में बैठी छोटी जिन मूर्त्ति के पाये पर है। यह कुषाण संवत् ८६वें वर्ष का है। यद्यपि इसमें किसी कुल का उल्लेख नहीं किन्तु सङ्गमिका और उनकी शिष्या वसुला के नाम होने के कारण डाक्टर ब्यूहलर२४ ने अनुमान किया था कि यह लेख भी मेहिक कुल का हो। परन्तु यह कहां तक ठीक हो सकता है यह कहना कठिन है क्योंकि इन दोनों लेखों की तिथियों में कोई ७१ वर्ष का अन्तर है। जो कुछ भी हो प्रथम लेख से यह बात स्पष्ट है कि उस समय मेहिक कुल भी किसी जैन गण में था।

कल्पसूत्र२५ के आधार पर कामर्धि नामक कुण्डलगोत्रिय ने वेशवाटिक गण की स्थापना की थी। इस गण की चार शाखायें थीं और उसके चार कुल थे। शाखाओं के नाम श्रावस्तिका, राज्यपालिका (प्राकृत—रज्जपालिअ), अन्तरिजिका (प्राकृत—अन्तरिज्जिआ) और क्षेमलिजिका (प्राकृत—खेम-लिज्जिआ) और कुलों के नाम गणिक, मेघिक, कामर्धिक और इन्द्रपुरक थे। मेघिक कुल की तुलना लेख के मेहिक कुल के साथ की जा सकती है।

---

२१ सेकरड बुक आफ दी ईस्ट जिल्द २२ पृष्ठ २९०।

२२ एपिग्राफिया इण्डिका जिल्द १ नं० २ पृष्ठ ३८२।

२३ वही पुस्तक जिल्द १ नं० १२ पृष्ठ ३८२।

२४ दि इण्डियन सेक्ट आफ दी जैनस पृष्ठ ६०।

२५ दि सेकरेड बुक आफ दी ईस्ट जिल्द २२ पृष्ठ २९१।

इन लेखों पर विचार करने के पश्चात् यह प्रतीत होता है कि कल्पसूत्र के आठ गणों में से केवल चार गणों का पता मथुरा के कुषाण ब्राह्मी लेखों से लगता है। यह भी सम्भव है कि उस समय आठ गण हों पर उन चार शेष गणों का पता लेखों द्वारा नहीं लगता। इन लेखों से उन जैन गणों के विधान और कार्यक्रम पर भी कुछ प्रकाश डाला जा सकता है। सब से पहले यह मालूम पड़ता है कि गण के सदस्य पुरुष और स्त्री दोनों ही हो सकते थे। वे गणिन कहलाती थीं। सदस्य केवल वही हो सकता था जिसने गृह त्याग दिया हो। गृहस्थ जीवन त्याग कर ज्ञानमार्ग में प्रवेश करके उनका ध्येय ज्ञानज्योति प्राप्त करना था। हर एक जैन गुरु के पुरुष और स्त्री—दोनों ही शिष्य और शिष्या होते थे। शिष्यों का यह धर्म होता था कि वे गृहस्थ पुरुषों से दान करवाये। यह दान वर्द्धमान अथवा किसी और जैन तीर्थंकर की मूर्त्ति की स्थापना के रूप में प्रायः रहता था। इतने कुषाण लेखों में कोई दस लेखों में वर्द्धमान महावीर की मूर्ति की स्थापना का वर्णन है, चार में कोई चतुर्भुज मूर्त्ति का, तीन में अरागपत का और एक-एक लेख में शान्तिनाथ, पारसनाथ, ऋषभनाथ, सरस्वती और सुमुख को मूर्त्ति स्थापित करने का वर्णन है। यहां पर यह आश्चर्य लगता है कि जैन धर्म्मावलम्बी भी क्या सरस्वती की मूर्त्ति की स्थापना करते थे? यह हो सकता है कि उस समय लक्ष्मी की भांति सरस्वती का भी मान था।

इन जैन सङ्घों के विधान के विषय में इतना कहना उपयुक्त होगा कि सङ्घ प्रकृत और सङ्घ प्रमुख[२६] नामक इनके अधिकारी होते थे। पहले शब्द का अर्थ है सङ्घ के बड़े बड़े लोग जिनका सङ्घ के शासन में हाथ था किन्तु सङ्घ प्रमुख का अर्थ सङ्घ का पूर्णाधिकारी है[२७]। संभवतया हर एक गण का सङ्घप्रमुख अलग अलग रहता था। यहां पर पूर्ण प्रमाणों के अभाव के कारण हम जैन सङ्घों के शासन और विधान पर संपूर्ण रूप से प्रकाश नहीं डाल सकते। पर यह ठीक है कि मथुरा में जैन लेख बहुतायत में मिले हैं जिनसे पता लगता है कि उनके सङ्घ समृद्धशाली थे। हर एक सङ्घ के सदस्य का यह कर्त्तव्य था कि वह गृहस्थ से दान के लिये प्रार्थना करे।

---

२६ फोगेल—कैटालग आफ मथुरा म्यूजियम नं० p २१ और p ३७।

२७ आप्टे—संस्कृत शब्दकोष पृष्ठ १५५।

हिन्दू मन्दिरों की उत्पत्ति

डा० पी० के० आचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी-लिट०

मूर्त्ति पूजा एवं मन्दिरों की उत्पत्ति भारतवर्ष या दूसरे किसी भी देश में एक ही समय नहीं हुई थी। 'देवायतन' शब्द पूजास्थल में मूर्त्ति की आवश्यकता सूचित नहीं करता। पूर्व-वैदिक काल के प्रकृति-पूजकों को प्राकृतिक दृश्यों एवं वस्तुओं में ही परमेश्वर की स्थिति मिली थी। बाद में परमेश्वर की कल्पना लोग सर्वशक्तिशाली या सर्वव्यापी की तरह सहस्रलोचन या सहस्र-पाद के रूप में करने लगे। लेकिन इससे यह सूचित नहीं होता कि वैदिक काल में प्रारम्भिक-महाकाव्य-युग की तरह जब कि सीता की स्वर्णमूर्त्ति बनाई गई थी—देवमूर्त्ति बना ली गई। इससे यह भी सोच बैठना ठीक न होगा कि जब तक मूर्त्ति की प्रतिष्ठा नहीं हुई थी लोग पूजा नहीं करते थे। ब्राह्मणों में यज्ञों का वर्णन विस्तार-पूर्वक दिया हुआ है और इस विषय में यह लिखना निरर्थक है कि बिना मूर्त्ति के ही उस समय विधिपूर्वक याज्ञिक कर्म सम्पन्न किये जाते थे। उस समय यज्ञादि क्रिया क्या वृक्षों के नीचे या किसी खुले मैदान में होता था अथवा ऐसे किसी स्थान में जो कि मजबूती के साथ बनाया गया था? यदि ऐसा हो तो उसे हम मन्दिर कह सकते हैं क्योंकि मन्दिर शब्द का अर्थ है—"पूजा के लिये निर्धारित स्थान"। बौद्ध-कब्र और बौद्ध-मन्दिरों में कुछ सादृश्य था जिनमें बाद में बुद्ध-मूर्त्ति स्थापित की गई थी; लेकिन वेदी से ही हिन्दू-मन्दिरों की उत्पत्ति हुई थी। इसे हम धार्मिक प्रतिष्ठान कह सकते हैं। "चैत्य" या कब्र से मन्दिरों का कोई सम्पर्क नहीं था।

कल्पसूत्र के कुछ अंश को शुल्भसूत्र कहते हैं जिसमें वेदी बनाने की रीति और उसकी लम्बाई वगैरह दी हुई है। इसमें 'अग्नि' या ईंटों से बनी हुई बड़ी बड़ी वेदियों के बनाने की रीति का वर्णन है। ये वेदी सोम यज्ञ की थीं जिनका निर्माण वैज्ञानिक तौर पर हुआ था। सम्भवतः यहीं से मन्दिर-निर्माण का सूत्रपात होता है।

वेदी कई तरह की बनाई जाती थी और उनका सर्वप्रथम उल्लेख तैत्तिरीय संहिता (ख० ४, ११) में है। उसी के आधार पर बौधायन और अपस्तम्ब में विविध चिति (वेदियों) के आकार का वर्णन दिया हुआ है।

एक वेदी 'चतुरश्र-श्येनचित' है। इसका ऐसा नामकरण चील के सदृश्य होने के कारण है। यह वर्गाकार ईंटों से बनाई जाती थी। कंकचित[1] वेदी बगुले के आकार की थी। परों के सिवाय

---

1 Compare Burnell, Catalogue 29, of a carrion Kite, and Thibaut, J. A. S. B., 1875 part I.

वह वेदी दूसरी बातों में श्येनचित से मिलती जुलती थी। 'प्रौगचित' का आकार सम (बाहु) त्रिभुज का-सा था। 'उभयतः प्रौगचित' की बनावट उसी तरह के दो आधार पर जुड़े हुए त्रिभुजों की-सी थी। 'रथचक्रचित' गोल चक्के की-सी बनी हुई होती थी जिसमें (अ) स्पोक (Spoke) नहीं रहते थे और (ब) १६ स्पोक रहते थे। 'द्रोणचित' वेदी वर्गाकार या गोल क्यूब के आकार की थी। 'परिचय्यचित' के चारों ओर एक वृत्ताकार परिधि रहती थी और वह साधारणतः रथचक्रचित की सी थी। उसमें केवल ईंटों की सजावट में हेरफेर था। 'समुह्यचित' ईंट और ढीली मिट्टी की एक गोल वेदी थी। 'कूर्मचित' वेदी कछुए के आकार की त्रिकोण या गोलाकार बनाई जाती थी।

उपर्युक्त प्रत्येक वेदी में ईंटों के पांच तह रहते थे इसलिये उनकी उंचाई घुटने तक की होती थीं। कहीं कहीं ईंटों के दस या पद्रह तहों का वर्णन भी मिलता है। अतः उन वेदियों की उंचाई अधिक रहती थी। प्रत्येक तह में २०० ईंट उपयोग किये जाते थे इसलिये एक अग्नि (वेदी) के लिये १००० ईंटों की आवश्यकता थी। उसी तरह पहली, तीसरी और पांचवीं तह २०० विभागों में विभाजित थी, दूसरी और चौथी का विभाजन भिन्न था, इसलिये एक ईंट उसी आकार के दूसरे पर नहीं रखा जाता था। पहली वेदी की आयत साढ़ेसात पुरुष थी यानें साढ़ेसात वर्ग जिसका आधार एक पुरुष था—अर्थात् ऊर्द्ध्वबाहु पुरुष की लम्बाई का। प्रत्येक चिति की आयत चाहे वह किसी भी आकार का क्यों न हो चील, गोलाकार या कूर्म—साढ़ेसात वर्ग पुरुष होता था।

चितियों का आकार हिन्दू मन्दिरों की वेदी की तरह था जो बौद्ध तथा जैन मन्दिरों के अतिरिक्त मस्जिद और गिरजों में भी पाये जाते हैं। यही नहीं उनसे हिन्दू मन्दिरों की शिखर, गिरजों का ऊपरी भाग और मस्जिदों के गुम्मजों की कल्पना की जा सकती है। धीरे-धीरे मन्दिर उंचाई और आकृति में बढ़ते गये। वेदियों के सामने क्रमशः 'भोग-मण्डप', 'नृत्य-मण्डप' और अन्यान्य मण्डपों की परिकल्पना की जाने लगी।

धीरे-धीरे यही बारह मंजिल मन्दिर बन गये। उन्हें हम केवल गगनचुंबी नहीं कह सकते —वे ऊंचे तो थे ही और साथ साथ चौड़े भी थे। क्रमशः उनकी उन्नति होती गई—मन्दिर सजाये जाने लगे—उनकी रक्षा के लिये कुछ जगह छोड़ देना आवश्यक जान पड़ा। जाति, छन्द, विकल्प और आभास में पांच आंगन होते थे जहां विष्णु, शिव, बुद्ध और महावीर की आराधना करने के लिये हजारों सन्यासी एकत्र होते थे। भीतरी आंगन 'अन्तर-मण्डल' कहलाता था। उसके बाहर क्रमशः 'अन्तर मिहार', 'मध्यमहारा', 'प्राकार' और महामर्यादा' (आंगन) होते थे जिनमें क्रमशः द्वारशोभा, द्वारशाला, द्वार-प्रासाद, द्वार-हर्म्य और महागोपुर रहता था। छठवें और सातवें आंगन में मन्दिर की रक्षा के लिये सैनिक रहते थे।

चितियों की उंचाई क्रमशः बढ़ती गई। ये मजबूत तो होते ही थे, लोगों ने और भी

ऊंची चिति बनाने की ठान ली जिससे बारह मंजिल मन्दिर और १७ मंजिल गोपुरम बनने लगे। जब उंचाई इस तरह बढ़ गई तब विज्ञान और कला के दृष्टिकोण से उनकी चौड़ाई भी बढ़ाई जाने लगी ताकि वे मन्दिर वर्षों तक जैसे के तैसे खड़े रह सकें। कारीगरी की पुस्तक 'मानसार' में मन्दिरों की रक्षा और निर्माण के लिये नीचे लिखे विविध पैमाने आदि दिये गये हैं :—

१। शान्तिक—इसकी लम्बाई और चौड़ाई बराबर रहती है।

२। पौष्टिक (मजबूत)—इसकी लम्बाई चौड़ाई से सवा गुना अधिक है।

३। जयद (आनन्द दायक)—इसकी लम्बाई चौड़ाई से डेवढ़ी है।

४। चौथे के दो नाम हैं—सर्वकामिक और धनद। इसकी लम्बाई चौड़ाई से पौने दो गुना अधिक है।

५। अद्‌भुत्—लम्बाई चौड़ाई से दुगुनी है। यह देखने में सुन्दर होता है।

उपर्युक्त मन्दिर चाहे किसी भी तरह के क्यों न हों उनकी छत चपटी, बन्द या गोलाकार होती है। चपटी छत गुफाओं के आकार पर बनी हुई है। उसके बाद बन्द छतें बनने लगीं और अन्त में गोलाकार छतों की सृष्टि हुई। गोलाकार छत चार भागों में विभाजित हैं—शिखर, शिखा, शिखान्त और शिखा मणि। शिल्पशास्त्र में विष्णु, शिव, ब्राह्मण, बौद्ध और जैन मन्दिरों के शिखर की बनावट में कोई भेद नहीं दिया है, हां उंचाई में भेद अवश्य मिलता है। हिन्दू शिखर, गिरजाघर का ऊपरी हिस्सा और मस्जिद के गुम्मजों से हिन्दू, ईसाई और मुसलमानों के वैज्ञानिक ज्ञान, उनकी कारीगरी, रुचि आध्यात्मिक आकांक्षा आदि का पता चलता है।

इन चितियों से ही क्रमशः विभिन्न आकार और प्रकार के हिन्दू मन्दिरों की उत्पत्ति हुई थी। मन्दिर पांच प्रकार के हैं—चतुष्कोण जो कि आयत या वर्गाकार हैं, अष्टकोण, अण्डाकार, गोल और वृत्ताकार। ये मन्दिर उनमें प्रतिष्ठित देव-देवियों के आधार पर पुल्लिंग और स्त्रीलिंग हैं। स्थानक (खड़े-हुए), आसन (बैठे हुए) और शयन आदि नाम देवताओं के खड़े, बैठे या सोते हुए आकार पर निर्भर हैं। शुद्ध, मिश्र और संकीर्ण का विभाग मन्दिर के मसाले पर—ईंट, पत्थर या लकड़ी पर निर्भर है। जाति, छंद, विकल्प और आभास नाप के पैमाने पर निर्भर हैं जो कि चौबीस, पचीस, छब्बीस और सत्ताइस अंगुल के हैं। संचित, असंचित और अपसंचित उंचाई, लम्बाई और चौड़ाई के पैमाने हैं। इमारत तीन प्रकार के बनाये जाते थे—नागर (उत्तरी), वेसर (पूर्वी) और द्राविड़ (दक्षिणी)। नागर चतुष्कोण होते थे, वेसर का ऊपरी भाग गोल रहता था और द्राविड़ मंदिरों का ऊपरी हिस्सा अष्टकोण रहता था। इसका एक विभाग अंध्र था जिसका ऊपरी भाग साधारणतः षटकोण हुआ करता था।

क्या हिन्दू धर्म में पुनः प्रवेश न्याय्य है ?

डा० डी० आर० भण्डारकर, एम० ए०, पी-एच० डी०, एफ० आर० ए० एस० बी०

कुछ ही वर्ष पहले जब आर्य-समाज के स्वनामधन्य प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द जी जीवित थे मुस्लिम धर्मावलम्बी मलकान राजपूतों का हिन्दू धर्म में पुनः प्रवेश की खबर पाकर हिन्दू समाज में खलबली मच गई थी। सनातन धर्मावलम्बी कट्टर हिन्दू इस समाचार से चौंक गये। कारण यह सर्वथा व्यवहार-विरुद्ध था। वे इसमें शास्त्रीय प्रमाण के विषय में पूछताछ करने लगे।

इसमें सन्देह नहीं कि मलकान राजपूतों ने विवश होकर मुस्लिम धर्म को स्वीकार किया था और वे अब भी हिन्दुओं की रीति-रिवाजों को मानते आते थे; केवल वे बाह्य रूप से मुस्लिम धर्म के अनुयायी थे और सदा से यह चाहते थे कि अगर सम्भव हो तो फिर भी वे हिन्दू धर्म में ले लिये जाँय। ये सब उपादान मलकान राजपूतों के पक्ष में थे परन्तु उनका हिन्दू धर्म में पुनः प्रवेश कट्टर सनातनी तथा धर्म्मोपजीवियों को बुरा लगता था। वे समझते थे कि जन्मतः हिन्दू ही हिन्दू हैं और हिन्दू धर्म से पतित हिन्दू पवित्र तथा पुनः प्रविष्ट नहीं हो सकते।

भारतीय इतिहास के प्रत्येक वेत्ता को यह बात मालूम है कि प्राचीन समय में अनेक विदेशी तथा आदिम जाति हिन्दुत्व को स्वीकार कर हिन्दू जनता में प्रविष्ट हो गई थी। यह प्रथा हिन्दू जाति के अस्तित्व के लिये नितांत आवश्यक होती हुई भी व्यवहार के बाहर हो गई और हिन्दू जाति कट्टरता को अपनाती गई, यहां तक कि वह यह समझने लगी कि जन्मतः हिन्दू ही हिन्दू है। प्रमादवश या विवशता के कारण हिन्दू-धर्म-विच्युत हिन्दू भी फिर हिन्दू धर्म में प्रवेश नहीं पा सकते—वे सदा के लिये हिन्दू धर्म से पतित हो गये।

किसी भी शुद्धि क्रिया द्वारा पवित्र होकर वे हिन्दुत्व को नहीं पा सकते। अभी भी बहुत से हिन्दुओं का, विशेषतः पुरोहित हिन्दुओं का ऐसा विचार है। यहां यह प्रश्न उठता है कि क्या भारतवर्ष में मुसलमानी-साम्राज्य के पहले भी यह व्यवस्था थी? अर्थात् ज्ञानतः अथवा अज्ञानतः पतित हिन्दू की पुनः शुद्धि हो सकती है? इसी प्रश्न का उत्तर यहां यथासम्भव संक्षेप में दिया जाता है।

वर्त्तमान शुद्धि आन्दोलन का जन्मदाता आर्य-समाज है। जब मलकान हिन्दू पुनः हिन्दू धर्म में लाये जा रहे थे हिन्दू समाज में उथल-पुथल मच गई। आर्य-समाजियों ने भी इस शुद्धि क्रिया को शास्त्रविहित साबित करने के लिये धर्मशास्त्रों की खोज की। इसी अभिप्राय से उन्होंने स्मृति-साहित्य की समालोचना जारी की। अन्त में उनका प्रयास सफल हुआ और उन्होंने अनेक प्रमाणों

को प्रकाशित किया। पण्डित् जे० बी० चौधरी ने उन प्रमाणों को संगृहीत कर "शुद्धि-सनातन है" नाम की पुस्तक १९३० में प्रकाशित की। इस पुस्तक में अनेक विषय हैं। उसमें देवलस्मृति, अत्रिसंहिता, अत्रि तथा वृहयनस्मृति के अनेक उद्धरण हैं। उससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि शुद्धि उन दिनों में भी शास्त्रानुकूल थी। इस विषय में देवलस्मृति सर्वप्रधान है। हम इसी ओर समाजसुधारकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

यह कहा जाता है कि देवल ऋषि 'सिन्धु' के किनारे रहते थे। एक समय कई दूसरे मुनि ऋषि उनके पास गये और शुद्धि के विषय में उन्होंने उनसे प्रश्न किया। इस प्रकार देवल-स्मृति का जन्म होता है। उन्होंने पूछा—ऐ महानुभाव! वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र किस प्रकार शुद्ध हो सकते हैं जो म्लेच्छों के द्वारा अपहृत हो चुके हैं? उनके लिये क्या विधि है? क्या शुद्धि है? क्या उन्हें तप करना चाहिये? कृपा कर आप सविस्तार कहिये? इन्हीं प्रश्नों के उत्तरस्वरूप स्मृति है। यहां हमें देखना चाहिये कि यह स्मृति उस हिन्दू समस्या पर किस प्रकार प्रकाश डालती है जिसके विषय में हम प्रायः अनभिज्ञ हैं।

हम देख चुके हैं कि देवलस्मृति का प्रधान लक्ष्य ऐसे पतित हिन्दुओं की शुद्धि की ओर है जो म्लेन्छों के पंजे में आकर समाजच्युत हो चुके हैं। यहां प्रश्न यह उठता है कि किस दुर्दैव से वे इस दशा में पड़ गये? इस प्रश्न का उत्तर हमें यही मिलता है कि सदा सहवास पाकर वे उस दशा में परिवर्तित हुए थे। यही उनके पतन का कारण है और इस प्रकार उनकी शुद्धि आवश्यक कोटि में पड़ती है। याथार्थतः उनके पतित होने के कारण अधोनिर्दिष्ट हैं। म्लेच्छों, चाण्डालों तथा दस्युओं के द्वारा बलपूर्वक अपहृत होने पर कई एक अनुचित कर्म उनको करने पड़े थे यथा—(१) गौ तथा अन्य पशुओं की हिंसा (२) उनका उच्छिष्ट भोजन ग्रहण (३) गदहे, ऊंट तथा अन्य जानवरों का मांस भक्षण (४) उनकी स्त्रियों के साथ सहवास तथा भोजन आदि। इस प्रकार उनका अधःपतन होता है।

परन्तु अब यह विचारणीय है कि म्लेच्छ शब्द से यहां किसका बोध होता है? आकृति से वे मुसलमान हैं। स्मृति पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि उस समय हिन्दुओं का मुसलमानों द्वारा अपहरण एक साधारण घटना थी। यह तभी सम्भव था जब मुसलमानों की शक्ति भारत में जोर पकड़ रही थी। यह अनुमान आगे जाकर और भी दृढ़ हो जाता है जब हम देखते हैं कि वह अपने माता-पिता को पिण्ड न देकर पितामह आदि को देता है। परन्तु मुसलमानों की शक्ति के विस्तार के पूर्व उनका म्लेच्छ कर्म स्वीकार करना नहीं देखा जाता। बहुत से विदेशी लुटेरे यहां आकर देश के भिन्न भिन्न प्रान्तों पर अपनी सत्ता जमा लिये थे और वे हिन्दू धर्म में सम्मिलित होकर हिन्दू समाज में मिल गये थे। मुसलमानों के आने पर ही हिन्दू जाति म्लेच्छ होती सुनी जाती है। स्मृति में भी म्लेच्छ सभा का उल्लेख है और म्लेच्छ सभा में चिरकाल से रहने

वाले हिन्दुओं की शुद्धि की भी चर्चा है। इसके साथ यह भी देखा जाता है कि वह हिन्दू जो म्लेच्छों से अपहृत हुआ था अपने देश को लौट कर पश्चात्ताप करता है। इन घटनाओं से यह निर्णय होता है कि उस समय तक मुसल्मानों ने सीमा प्रान्त में घुस कर वहां के अनेक मण्डलों को पराजित कर उस स्थान को दखल कर लिया था। आगे वे नहीं बढ़ सके थे। यह बात स्मृति द्वारा भी सिद्ध होती है। स्मृति में इन सीमाप्रान्तों के विषय में भी उल्लेख है। उनमें से दो सिन्धु तथा सौविर हैं जिनमें शुद्धि के बाद हिन्दू प्रयाण कर सकता है। हम जानते हैं कि अलमसूदी के समय (९४३ ई०) मुस्लिमों की प्रभुता छोटी रियासतें मनमुरा तथा मुल्तान तक ही सीमित थी जो सिन्धु तथा सौविर हैं। इस प्रकार हम देवलस्मृति को १०वीं शताब्दी के प्रारम्भ की मान लें तो गलती नहीं होगी। हम देख चुके हैं कि जब मुनि ऋषि महर्षि देवल के पास शुद्धि की बातें जानने के लिये उपस्थित हुए तब महर्षि देवल सिन्धु के तट पर थे। वह सिन्धु सिन्ध की नहीं क्योंकि वह पहले ही मुसल्मानों के अधिकार में आ गया था, बल्कि पंजाब को इन्डस (सिन्धु) है जहां मुसल्मान विधर्मियों को स्वधर्म में परिवर्त्तन करने के लिये नाना प्रकार की चेष्टायें कर रहे थे। ये चेष्टायें बड़ी कष्टकर थीं। यह कार्य मुसलमानों द्वारा अधिकृत प्रदेश दक्षिण मुल्तान तथा पश्चिम अफ़ग़ानिस्तान में हो रहा था। फिर यहां यह भी देखना है कि हमारे स्मृतिकर्त्ता देवल स्मृति की टीकाओं द्वारा उपकृत देवलऋषि से भिन्न हैं। उदाहरणार्थ याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार विज्ञानेश्वर ने (१०७६-११२६ ई०) देवल ऋषि के अनेक श्लोकों का उद्धरण किया है, परन्तु वे श्लोक प्रकृत स्मृति में नहीं दिखाई पड़ते। इससे यह मालूम होता है कि यहां दो देवलस्मृति हैं। एक विज्ञानेश्वर को मालूम थी और दूसरी शुद्धि-क्रिया प्रतिपादिका हमारी प्रकृत स्मृति है जो म्लेच्छों के सहयोग से पतित हिन्दुओं की शुद्धि का प्रतिपादन करती है। यह अन्तिम स्मृति मुसल्मानों को कष्टदायक चेष्टा से अभिभूत हिन्दुओं की आवश्यकता के अनुकूल बनाई गई थी। यह उस समय की बात है जब मुसल्मान विधर्मियों को स्वधर्म में लाने का भगीरथ प्रयत्न कर रहे थे तथा हिन्दू समाज कष्ट में था।

इससे यह ज्ञात होता है कि यह देवलस्मृति जिसका कि यहां विचार किया गया है मुसल्मानों के संसर्ग से दूषित हिन्दुओं की समस्या को हल करने के लिये निश्चित हुई थी। उसमें यह स्पष्टतया कहा गया है कि स्त्री तथा पुरुष, चाहे वे स्वस्थ हों चाहे रुग्ण, चाहे वे ८० वर्ष के बूढ़े हों चाहे ११ वर्ष के बालक, इस शुद्धि विधि का पालन करें। यह सामाजिक शुद्धिक्रिया यथार्थ में वर्त्तमान थी, काल्पनिक नहीं। इस विषय में मुसलमान इतिहासवेत्ताओं ने भी विचार प्रकट किये हैं जिसपर ए० एस० अल्टेकर ने हाल ही में हमारा ध्यान आकर्षित किया है। उदाहरण के लिये जब हिशाम ७२४ ई० में खलीफ थे जुनाद सिन्ध का गवर्नर था। उसीने भारतवर्ष के भीतरी हिस्से में आक्रमण किया था तथा उसने राजपूताना और गुजरात में खलबली मचा दी। जुनाद के बाद तमीम और उसके बाद हकीम आया।

बालाधुरी ने भी लिखा है कि हकीम के शासनकाल में अलहिन्द की जनता उस धर्म को छोड़कर पुनः मूर्त्ति-पूजक बन गई थी। इससे यही मालूम होता है कि वे हिन्दू जो मुसल्मानों के आधीन होकर मुसल्मान बन गये थे उस शक्ति के ह्रास के साथ ही साथ पुनः हिन्दू हो गये। इस तरह की घटना अल्बरनी के समय तक जारी रही। वह लिखता है कि मुझे ज्ञात है कि जब मुसलमानों के देश में हिन्दू उनके पंजे से छुटकारा पाकर अपने देश को भाग निकले और उन्होंने पुनः हिन्दू धर्म को ग्रहण किया तब वहां के हिन्दुओं ने उनको प्रायश्चित्त और उपवास करने के लिये कहा। बाद उन्होंने गौ के गोबर, गो-मुत्र और गो-दुग्ध में उन्हें डाला। उबले हुए के समान हो जाने पर वे निकाले गये। उन्हें उसी तरह की चीजें खाने को भी दी गई[१]। यह सत्य है कि अलबरनी ने तत्कालीन ब्राह्मणों से इस सबन्ध में पूछा था, परन्तु उन्होंने इसको अस्वीकार किया। यह बात सभव हो सकता है क्योंकि इन विषयों में उस समय मुसल्मान बहुत कट्टर थे। हिन्दुओं की स्वीकृति उस समय उन मुसल्मानों को धर्मोन्मत बना देती थी और हिन्दू उनके कोप के भाजन बन सकते थे। इसमें सन्देह नहीं कि अलबरुनी के समय में शुद्धिक्रिया जोरों से चल रही थी। अगर ऐसा नहीं होता तो यह कैसे संभव था कि अनेकों बार उनसे कहा गया था कि हिन्दू जो दास बन गये थे अपने देश लौटने पर पुनः हिन्दू हो जाते थे तथा इनके द्वारा वर्णित शुद्धिक्रिया किस प्रकार देवलस्मृति में उक्त शुद्धिक्रिया के साथ समान दीख पड़ती ? इसलिये इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि मुसलमान तथा ईसाई जो प्रारम्भ में हिन्दू थे हिन्दू धर्म में प्रविष्ट होते थे।

निस्सन्देह यह देवलस्मृति का कथानक बड़ा आकर्षक तथा सुन्दर है। फिर भी यह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जिसका उल्लेख अभी तक नहीं किया गया है। ऊपर कही गई शुद्धिक्रिया पुरषों की है। इसमें स्त्रियों का विशेषरूप से वर्णन नहीं है। हमें जानना चाहिये कि केवल पुरष ही नहीं स्त्रियां भी मुसल्मानों के ससर्ग में आकर स्वधर्म च्युत हुई होंगी। स्त्रियां भी पकड़ी गई होंगी। स्वभावतः उनके लिये भी शुद्धिक्रिया का विधान था इसलिये स्त्रियों के लिये भी शुद्धिक्रिया देवल द्वारा प्रोक्त हुई थी। स्त्रियों की शुद्धिक्रिया पुरषों की शुद्धिक्रिया से विशेष भिन्न नहीं है परन्तु स्त्रियां तो स्त्रियां ही हैं, इस कारण उनकी शुद्धिक्रिया भी पुरषों की शुद्धिक्रिया से कुछ भिन्न अवश्य है।

यदि वे म्लेच्छों के द्वारा बलपूर्वक हर ली जांय और वे वहां गर्भवती हो जांय तो उनको शुद्ध करने के लिये क्या उपाय होगा ? इस विषय में यह देखना है कि देवल ने क्या कहा है ? उसका कथन किस प्रकार का है ? इस छोटे से लेख में उसका दिग्दर्शन-मात्र किया जाता है। देवल ने लिखा है कि अगर स्त्रियां म्लेच्छों द्वारा हरी जांय और वे गर्भवती न हों तो वे तीन दिन के उपवास से शुद्ध हो

---

[१] Sachau, Alberuni's India Vol II pp 162—63.

सकती हैं, परन्तु वे यदि गर्भवती हो जांय तो उनके सम्बन्धियों को बच्चे के जन्म तक प्रतीक्षा करनी होगी। जन्म के बाद उस बच्चे को दूसरे किसी के पास सौंप देना चाहिये। न सौंपने से वर्णशङ्कर होने का डर है। उसके बाद स्त्रियां आवश्यक शुद्धिक्रिया करेंगी और जाति में ले ली जायंगी।

देवल ऋषि का कहना है कि वह भ्रूण उस रमणी के गर्भ में कण्टक के समान रहता है। जब वह उसके गर्भ से निकल जाता है तब मासिक-धर्म के बाद वह रमणी मलशुद्ध सुवर्ण की तरह पवित्र हो जाती है। इस विषय के देवल-कृत पद्यों का उल्लेख अत्रि-स्मृति तथा अत्रिसंहिता में भी है। इस प्रकार रमणियों की प्रायश्चित्तक्रिया में केवल देवल और अत्रि ही नहीं बल्कि विज्ञानेश्वर ने भी याज्ञवल्क्यस्मृति पर विचार करते हुए इस विषय की पूरी विवेचना की है। वहां अनेक स्मृतियों के प्रमाणों को उद्धृत कर विज्ञानेश्वर ने दिखलाया है कि म्लेच्छों, चाण्डालों तथा पुक्कसों से दूषित फिर भी जाति में आ सकती है। यदि विज्ञानेश्वर इससे सहमत नहीं होता तो वह सती प्रथा की तरह इसका भी खुल्लमखुल्ला विरोध करता। सती के विरुद्ध जितने स्मृति पाठ हैं उन सबों की व्याख्या वह करता है और बलात, अपहरण तथा दूषित स्त्रियों के विषय में उसने अनेक स्मार्त प्रमाण दिखलाये हैं कि वे पुनः हिन्दू जाति में प्रवेश पा सकती हैं। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि १२वीं शताब्दी तक अर्थात् विज्ञानेश्वर के काल तक यह प्रथा उत्तर तथा दक्षिण भारत में युक्ति-युक्त समझी जाती थी कि म्लेच्छों द्वारा अपहृत स्त्रियां पुनः शुद्धि द्वारा जाति में लाई जायँ। इससे उन समाजसुधारकों का पथ निष्कण्टक हो जायगा जो म्लेच्छों द्वारा कन्याओं के अपहरण से (जो इस देश में अराजकता की तरह दुःखदायी है) तङ्ग आ गये हैं। यह बात सच है कि इस प्रकार की घटना छोटी जातियों में विशेषतः पाई जाती है परन्तु उच्च जातियों में भी यह बात दीख पड़ती है। हमें ज्ञात है कि प्रथम जाति में तो कन्यायें पुनः जाति में ली जाती हैं किन्तु दूसरी में तो अनाथ निर्दोष कन्यायें सदा के लिये अपने पति से निर्वासित की जाती हैं। उनके मा-बाप उन्हें अङ्गीकार करें तो उन्हें भी समाज विवेकरहित होकर जाति से बहिष्कार कर देता है। आज का हिन्दू समाज कठोर बन गया है। उसमें इस प्रकार के अन्याय आज नजर आते हैं। शास्त्र में इस विधान के रहने पर भी हिन्दू समाज इस प्रकार के अन्याय का दोषी है। इस प्रकार की घटना आपको किसी भी समाज में चाहे वह यहूदी, मुसलमान या ईसाई क्यों न हो नहीं दिखाई देगी। हिन्दू समाज का पतन है। एक समय था जब जो कोई भी विदेशी-जाति भारत में आई वह हिन्दुत्व को ग्रहण करती गई। यहां तक कि आत्माभिमानी ग्रीक जाति भी जिसे अपने धर्म का घमण्ड था और जो विदेशियों को असभ्य कह कर पुकारती थी, बौद्धों तथा वैष्णवों से मिल गई। यह बात सातवीं शताब्दी तक जारी थी जब कि इस्लाम का आक्रमण भारत में जोर पकड़ रहा था और हिन्दू मुसलमानों के धर्म में परिवर्तित किये जाते थे। इस प्रकार हिन्दू समाज को भयभीत करने वाले सामाजिक विप्लव के बाद भी

हिन्दू धर्म शताब्दियों तक मुसल्मानी धर्म में प्रविष्ट हिन्दुओं का पुनरुद्धार करता हुआ प्रगतिशील था। इसका पतन शुरू हुआ और धीरे-धीरे यह शक्तिहीन होता गया। अपने में अन्तर्हित करने की जो शक्ति एक समय हिन्दू जाति में जाज्वल्यमान रूप में जागृत थी, वह दिनानुदिन क्षीण और संकुचित होती गई। अन्त में हिन्दू समाज कहने लगा कि जन्मतः हिन्दू ही हिन्दू हैं। इसके अलावा अपने प्रतिद्वन्दी मुसल्मान तथा ईसाई धर्म के दुर्दम्य उत्साही धर्मप्रचारक संस्थाओं द्वारा हिन्दू धर्म दिनानुदिन. शक्तिहीन किया जा रहा है।

यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि हिन्दू समाज आज मृत प्राय हो गया है। हिन्दू नेता तथा हिन्दू महासभा ने इस त्रुटि को दूर करने के लिये कौन-सा उपाय किया है? केवल व्यवस्थापिका सभाओं में भोट देने से ही काम तमाम नहीं होता। इसके लिये महान् उद्योगियों की आवश्यकता है जो हिन्दुओं की सामाजिक स्थिति को मौलिक रूप में परिणत कर दें अन्यथा आप देखेंगे हिन्दू समाज शीघ्र ही एक मृत सस्था बन जायगा।

अनुवादक :—
साहित्याचार्य वेचन झा बी० ए० (आनर्स)

पाञ्चरात्र

पं० कृष्णदत्त भारद्वाज, एम० ए०, आचार्य, शास्त्री, साहित्यरत्न

विष्णु भगवान् के उपासक सत्वगुणाभूयिष्ठ होते थे। अपने यज्ञ-याग में वे पत्र-पुष्प-फल-जल-घृत-दुग्ध-हविष्यान्न का ही उपयोग करते थे। वे पशुहिंसा[१] के तो विरोधी थे ही, अतएव वे 'सत्त्ववत्' कहलाये। सत्त्ववत् से ही 'सत्वत्'[२] शब्द बना है और इस पद का प्रयोग ऐतरेय और शतपथ में भी हुआ है जैसा कि निम्नांकित उद्धरणों से स्पष्ट है :—

तदेतद् गाथयाऽभिगीतम्, शतानीकः समन्तासु मेध्यं सात्राजित हयम्। आदत्त यज्ञं काशीनां भरतः सत्वता मिवेति (शतपथ १३-५-४-२२)। भरताः सत्त्वतां विर्त्ति प्रयन्ति (ऐतरेय २-२५)।

सत्वतों का धर्म हुआ सात्वत। इस धर्म के दो उपभेद[३] हुए (१) पाञ्चरात्र और (२) वैखानस। पाञ्चरात्र नाम की शाखा बड़ी थी और वैखानस नाम की छोटी।

पुरुषसूक्त द्वारा पुरुषमेध नामक यज्ञ में यज्ञ-पुरुष विष्णु के आराधन में पांच[४] दिन लग जाते थे। इस प्रकार पञ्चरात्र (पुरुषमेध) का अनुष्ठान और उसके अनुष्ठाता पाञ्चरात्र कहलाये। विखना अर्थात् जगत्स्रष्टा द्वारा उपदिष्ट होने के कारण छोटी शाखा का नाम वैखानस पड़ा। इस का अधिक प्रचार और विस्तार नहीं हुआ किन्तु पाञ्चरात्र इतना लोक-प्रिय हुआ कि वह सात्त्वत धर्म का पर्याय बन गया।

पाञ्चरात्र शब्द की उत्पत्ति किस प्रकार हुई यह ऊपर कहा जा चुका है किन्तु कालान्तर में वर्णसादृश्य[५] को लेकर इस शब्द की और और भी निरुक्तियां हुई यथा :—

१। योग, सांख्य, बौद्ध, आर्हत और कापाल नामक पांच शास्त्र जिसके सम्मुख फीके पड़ जायँ वह पाञ्चरात्र[६] है।

---

१ पुरुष मेध भी हिंसा-रहित होता था। पुरुष की हिंसा का विचार किया गया तो आकाशवाणी हुई 'पुरुष मा सन्तिष्ठिपो यदि संस्थापयिष्यसि पुरुष एव पुरुष मत्स्यति (शतपथ)'। तब पुरुष-पशुओं को छोड़ दिया गया व घृत की आहुतियां दी गई 'तद्देवत्या आहुती रजुहोत्। आज्येन जुहोति तेजो वा आज्यम् (शतपथ)'।

२ इस प्रकार वर्ण-नाश अंग्रेजी भाषाशास्त्र में हैप्लालाजी (haplology) कहलाता है।

३ तत्स्माद् द्विधा पाञ्चरात्र वैखानस विभेदतः (ईश्वरसंहिता)।

४ स एतं पुरुषमेध पञ्चरात्र यज्ञक्रतुमपश्यत् (शतपथ)।

५ अथाप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्र त्वेव न निर्ब्रूयात् (यास्क निरुक्त द्वितीयाध्याय, १)।

६ पञ्चेतराणि शास्त्राणि रात्रीयन्ते महान्त्यपि।
तत्सन्निधौ समाख्यासौ तेन लोके प्रवर्त्तते (पद्मतन्त्र)।

२। सूर्य के उदय होने पर जिस प्रकार रात्रि पञ्चत्व को प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार जिस शास्त्र के उदय होने पर अन्यान्य शास्त्र पञ्चत्व को प्राप्त हो जायँ, वह पाञ्चरात्र७ है।

३। रात्रि नाम ज्ञान का है और वह (तत्त्व, मुक्तिप्रद, भक्तिप्रद, यौगिक और वैषयिक भेद से) पांच प्रकार का है, अतएव ज्ञान प्रतिपादक शास्त्र का नाम पाञ्चरात्र८ है।

४। रात्रि नाम अज्ञान का है और पञ्च का अर्थ है नाश। अतएव अज्ञान विनाशक शास्त्र को पाञ्चरात्र९ कहते हैं।

५। परमेश्वर के (पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा भेद से) पांच रूपों का निरूपण करने वाला शास्त्र पाञ्चरात्र१० है।

६। परमेश्वर को प्राप्त कर जीव की पांच रात्रियां अर्थात् भौतिक शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध, नष्ट हो जाती हैं; इस विषय को समझाने वाला शास्त्र पाञ्चरात्र११ है।

७। नारायण ने पांच रात्रियों में क्रमशः अनन्त, गरुड़, विष्वक्सेन, ब्रह्मा और रुद्र को जो उपदेश दिया था, उसका नाम पाञ्चरात्र है।

८। अपने पांच आयुधों के अंशस्वरूप शाण्डिल्य, औपगायन, मौञ्जायन, कौशिक और भारद्वाज को जगत्प्रभु भगवान् ने प्रत्येक को पृथक् पृथक् जिस शास्त्र को पढ़ाया था वह पाञ्चरात्र१२ है।

---

७ पंचत्व मथवा यद्वद दीप्यमाने दिवाकरे।
गच्छन्ति रात्रयस्तद्वदितराणि तदन्तिके (पद्मतन्त्र)॥

८ रात्रं च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम्।
तेनेदं पंचरात्रं च प्रवदन्ति मनीषिणः॥
(नारद पञ्चरात्र)

९ रात्रि रज्ञान मित्युक्तं पचेत्यज्ञाननाशकम् (श्रीप्रश्न)।

१० तत्पर व्यूह विभव स्वाभावादि निरूपणम्
पाञ्चरात्राह्वयं तन्त्र मोक्षैकफललक्षणम् (अहिर्बुध्न्य)।

११ रात्रयो गोचराः पंच शब्दादि विषयात्मिकाः
महाभूतात्मका वाऽत्र पंचरात्र मिदं ततः।
प्राप्य तु परं तेजो यत्रैताः पंच रात्रयः
नश्यन्ति पंचरात्रं तत् सर्वाज्ञान विनाशनम् (विष्णुसंहिता)॥

१२ पञ्चायुधांशास्ते पंच शाण्डिल्यश्चौपगायनः
मौञ्जायनः कौशिकश्च भारद्वाजश्च योगिनः।
पंचापि पृथगेकैकं दिवारात्रं जगत्प्रभुः
अध्यापयामास यतः ततस्तन्मुनिपुंगवाः॥
शास्त्रं सर्वजनैर्लोके पंचरात्र मितीर्यते (ईश्वर संहिता)।

इस प्रकार की निरुक्तियां संस्कृत साहित्य में बहुधा मिलती हैं। 'महत्त्वात् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते'—यह महाभारत शब्द की निरुक्ति भी इसी कोटि की है।

पाञ्चरात्र न केवल वेदमूलक[१३] है प्रत्युत स्वयम् 'एकायन[१४] वेद' के नाम से अभिहित है। महर्षि शाण्डिल्य ने इसी एकायन वेद को द्वापर के अन्त में और कलियुग के आदि में स्वयम् सङ्कर्षण से प्राप्त कर सुमन्तु, जैमिनि, भृगु, औपगायन और मौञ्ज्यायन को पढ़ाया था।

महाभारत में पाञ्चरात्र को महोपनिषद् कहा गया है जैसा कि 'इदं महोपनिषदं सर्ववेदसमन्वितम्' इस वचन से स्पष्ट है। इस से सिद्ध है कि इस सिद्धान्त का कितना आदर सम्मान था। माहात्म्यातिशय का हेतु है इसका नारायण भगवान् के मुखारविन्द[१५] से निर्गमन। महोपनिषद् के अतिरिक्त इस के लिये शास्त्र[१६], तन्त्र, आगम शब्दों का भी प्रयोग होता है यथा पाञ्चरात्र शास्त्र, पाञ्चरात्र तन्त्र, पाञ्चरात्रागम।

पाञ्चरात्र पर अनेक मुनियों ने ग्रन्थ बनाये। उन मुनियों के नाम के अनुसार पाञ्चरात्र का नाम पड़ता गया। नारद पाञ्चरात्र में सात प्रकार के पाञ्चरात्रों का उल्लेख है यथा ब्राह्म, शैव, कौमार, वासिष्ठ, कापिल, गौतमीय और नारदीय। अग्नि पुराण में पचीस नाम मिलते हैं यथा :—

हयशीर्ष, त्रैलोक्यमोहन, वैभव, पौष्कर, प्रह्लाद, गार्ग्य, गालव, नारदीय, श्रीप्रश्न, शाण्डिल्य, ऐश्वर, सत्योक्त, शौनक, वासिष्ठ, ज्ञानसागर, स्वायम्भुव, कापिल, तार्क्ष्य, नारायणीय, आत्रेय, नारसिंह, आनन्द, आरुण, बौधायन और अष्टाङ्ग।

---

१३ श्रुतिमूलमिदं तन्त्रं प्रमाणं कल्पसूत्रवत् (पद्मतंत्र)।

१४ मोक्षायनाय वै पन्था एतदन्यो न विद्यते।

(अ) तस्मादेकायनं नाम प्रवदन्ति मनीषिणः (ईश्वरसंहिता)।

(आ) वेदमेकायनं नाम वेदानां शिरसि स्थितम्।
तदर्थकं पाञ्चरात्रं मोक्षदं तत्क्रियावताम्।
यस्मिन्नेको मोक्षमार्गो वेदे प्रोक्तः सनातनः।
मदाराधनरूपेण तस्मादेकायनं भवेत् (श्रीप्रश्नसंहिता)।

(इ) एष एकायनो वेदः प्रख्यातः सर्वतो भुवि (ई० सं०)।

१५ (अ) नारायणमुखोद्गीतं नारदोऽश्रावयत् पुनः (महाभारत)।

(आ) पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम्।

१६ एतेषां सात्वतं शास्त्रमुपदिष्टं त्वमर्हसि (ईश्वरसंहिता)।

पाञ्चरात्र के चार विभागों[१७] का इस प्रकार वर्गीकरण है—मन्त्रसिद्धान्त, आगमसिद्धान्त, तन्त्रसिद्धान्त, तन्त्रान्तरसिद्धान्त।

पाञ्चरात्र सम्बन्धीय उपदेश और प्रवचनों के संग्रह संहिताओं के नाम से प्रसिद्ध हैं। ग्रन्थों की संख्या बढ़ते बढ़ते दो सौ से भी अधिक हो गई है किन्तु साम्प्रदायिकों में १०८ संहिताओं का ही आदर है जिनमें से १०१ नाम पद्मतन्त्र के अनुसार इस प्रकार हैं :—

पाद्म, पद्मोद्भव, मायावैभव, नलकूबर, त्रैलोक्यमोहन, विष्णुतिलक, परम, नारदीय, ज्ञानदीय, वाशिष्ठ, पौष्कर, सनत्कुमार, सनक, सत्य, विश्व, सनन्द, महीप्रश्न, श्रीप्रश्न, तत्त्वसागर, वागीश, सात्त्वत, तेजोद्रविण, श्रीकर, संवर्त्त, विष्णुसद्भाव, विष्णुसिद्धान्त, विष्णुतत्त्व, कौमार, विष्णुरहस्य, विष्णुवैभव, सौर, सौम्य, ईश्वर, अनन्त, भागवत, जय, मूल, पुष्टितन्त्र, शौनक, मारीच, दक्ष, उपेन्द्र, योगहृदय, हारीत, पारमेश्वर, आत्रेय, आङ्गिरस, विष्वक्सेन, अर्शनस, वैखानस, विहगेन्द्र, भार्गव, पर पुरुष, याज्ञवल्क्य, गौतम, पौलस्त्य, शाकल, ज्ञानार्णव, जामदग्न्य, याम्य, नारायण, पाराशर्य, जाबाल, कापिल, वामन, कात्यायनीय, वाल्मीक, औपगायन, हिरण्यगर्भ, आगस्त्य, बोधायन, भारद्वाज, नारसिंह, उत्तरगार्ग्य, शातातप, काश्यप, पैंगल, त्रैलोक्यविजय, योग, वायवीय, वारुण, कृष्ण, आग्नेय, मार्कण्डेय, महासनत्कुमार, व्यास, विष्णु, अहिर्बुध्न्य, राघव, मार्कण्डेय, पारिषद, ब्रह्मनारद, शुकनारद, उमामहेश्वर, दत्तात्रेय, शर्व, वराहमिहिर, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, कल्किराघव, प्राचेतस।

पाञ्चरात्र संहिताओं के सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन वर्ग हैं। इनमें से भगवत्-प्रोक्त संहिताओं को दिव्य कहा जाता है। एक-सौ-आठ-संहिता-माला में तीन संहिताएँ सुमेरु-मणि के समान हैं। वे हैं सात्त्वत[१८]संहिता, जयाख्य संहिता और पौष्कर संहिता। ईश्वर[१९][illegible]ता है

---

१७ चतुर्धा भेदभिन्नोऽयं पञ्चरात्राख्य आगमः।
पूर्वं आगम सिद्धान्तं द्वितीयं मन्त्रसंज्ञितम्।
तृतीयं तन्त्र मित्युक्तं मन्यत् तन्त्रान्तरं भवेत् (ई०सं०)।

१८ सात्वतं पौष्करं चैव जयाख्यं तन्त्रमुत्तमम्
रत्नत्रय मिति ख्यातं तद्विशेष इहोच्यते।
सार सात्वत शास्त्रस्य रहस्यं प्राज्ञसम्मतम्
रत्नत्रयमिदं साक्षाद् भगवद्वक्त्र निःसृतम्॥

१९ तन्त्रं व्यष्टोत्तरशते पारमेश्वर संहिता
पौष्करार्थ विवरणी व्याख्यारूपावतारिता।
सात्वतस्य विवरणार्थमीश्वरं तन्त्रमुत्तमम्
जयाख्यस्यास्य तन्त्रस्य व्याख्यानं पाद्म मुच्यते।

सात्वतसहिता का व्याख्यान रूप ; पाद्मसंहिता, जयाख्यसंहिता का विवरण है और पारमेश्वरसंहिता भाष्य है पौष्करसंहिता का। सात्वत, जयाख्य और पौष्कर तीन होकर भी एक[२०] शास्त्र हैं। उनमें पारस्परिक विरोध नहीं है।

यदुशैल[२१] पर सात्वतसंहिता का, श्रीरङ्ग में पौष्कर का और हस्तिशैल में जयाख्य का मान है, एवम् हस्तिशैल में पाद्म के, श्रीरङ्ग में पारमेश्वर के और यादवाद्रि में ईश्वरसंहिता के आदेशानुसार विधि-विधान होता है।

सब संहिताएँ कदाचित् उपलब्ध नहीं हैं। लगभग ३० संहिताएँ हस्तलिखित प्राप्त हैं जिनमें से लगभग पन्द्रह मुद्रित हैं।

सहिताओं के अतिरिक्त पांचरात्र-सम्बन्धीय कुछ और भी ग्रन्थों का साहित्य में निर्देश है यथा—पंचरात्र नैवेद्यविधान, पंचरात्र पवित्रविधान, पंचरात्र प्रायश्चित्त, पंचरात्र रक्षा, पांचरात्र प्रायश्चित्त-विधान, पांचरात्र मन्त्र, पांचरात्र रहस्य, पांचरात्र वचन, पांचरात्र श्रीचूर्ण-परिपालन, पांचरात्र संग्रह, पांचरात्रस्थापन, पांचरात्राराधन।

इस प्रश्न पर विद्वानों को अभी प्रकाश डालना है कि अमुक अमुक सहिता किस पांचरात्र की है। उदाहरण के लिये प्रश्न यह हो सकता है कि उपेन्द्रसंहिता नारद पांचरात्र की है वा हयग्रीव पांच-रात्र की अथवा कपिल पांचरात्र की ?

पांचरात्र का महान् साहित्य लुप्त प्राय हो रहा है। इतस्ततः विकीर्ण सामग्री को भी यदि एकत्र कर लिया जाय तो भी उसकी सुरक्षा संभव है। रघुनन्दन ने अपने ग्रन्थ में महाकपिल-पांचरात्र का उल्लेख किया है और कुण्डमण्डप-सिद्धि में हयग्रीव पंचरात्र का निर्देश है।

अब तक मुद्रित-अमुद्रित संहिताओं में ब्रह्मतन्त्र का कदाचित् उल्लेख नहीं है। इस नाम का एक ग्रन्थ अवश्य रहा होगा क्योंकि सम्प्रति उपलब्ध 'जितन्तेस्तोत्र' की पुष्पिका में यह लिखा मिलता है कि "इति श्री पांचरात्रागमे महोपनिषदि ब्रह्मतन्त्रे श्रीमदष्टाक्षरकल्पे जितन्तेस्तोत्रे पञ्चमोध्यायः।" यह बहुत प्राचीन है और आचार्य-प्रवर यामुन और रामानुज की रचनाओं पर इस स्तोत्र का प्रभाव स्पष्ट है।

---

२० मूलव्याख्यान रूपत्वादुपजीव्यं परस्परम्।
तन्त्रत्रय मिदं विद्यादेकशास्त्रं तथा बुधः॥

२१ सात्वतं यदुशैलेन्द्रे श्रीरंगे पौष्करं तथा
हस्तिशैले जयाख्यं च साम्राज्य मधितिष्ठति।
पाद्मतन्त्रं हस्तिशैले श्रीरंगे पारमेश्वरम्
ईश्वरं यादवाद्रौ च कार्यकारि प्रवर्तते॥

पांचरात्र में जिन विषयों पर प्रकाश डाला गया है वे ये हैं :—

१। ज्ञान=दार्शनिक तत्त्व, मन्त्र एवं यन्त्र का ज्ञान।

२। योग=ध्यानविधि।

३। क्रिया=मूर्त्ति-मन्दिर-निर्माण-विधि।

४। चर्या=व्रतोत्सवादि-विधि।

पाञ्चरात्र वैष्णवशास्त्र है। इसका प्रतिपाद्य-विषय प्रधानतः भगवत्प्राप्ति ही है। रामानुजादि वैष्णव सन्तों और आचार्यों ने पांचरात्र को प्रमाण माना है तथा उन्होंने उस पर की गई दुरालोचनाओं की समालोचना की है।

अब तक पांचरात्र पर बहिरङ्ग दृष्टि से विचार किया गया है। किसी दूसरे लेख में अन्तरङ्ग दृष्टि से उसके दार्शनिक तत्त्वादि की विवेचना की जायगी।

देवी-दुर्गा

श्री सतीशचन्द्र शील, एम० ए०, बी० एल०

संज्ञा :—सृष्टि-स्थिति-संहारकारिणी आद्यशक्ति ही देवीदुर्गा के नाम से प्रसिद्ध है। दुर्गा के सहस्र नाम हैं, यथा—उमा, कात्यायनी, काली, हैमवती, ईशानी, सती, नारायणी, चण्डी, महिषमर्दिनी, चामुण्डा, महामाया, अन्नपूर्णा, जगद्धात्री, वासन्ती, महालक्ष्मी, महासरस्वती इत्यादि। प्रत्येक नाम का एक या उससे अधिक अर्थ है जैसे दुर्गा नाम का अर्थ है—(अ) जिन्होंने स्मरणमात्र ही इन्द्रादि देवों की दुर्गम शत्रु से रक्षा की थी (देवीपुराण २७ अ०)। (ब) जिन्होंने दुर्गा नामक महासुर की हत्या की थी वे देवीदुर्गा हैं (मार्कण्डेयपुराण, देवी माहात्म्य)। (स) दुर्गा नामक दैत्य, महाविघ्न, संसार बन्धन, कर्म, दुःख, नरक, जन्म, महाभय आदि का जो देवी नाश करती हैं उन्हीं का नाम दुर्गा है (ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, प्रकृति खण्ड, ५७ अ०) आदि। देवीदुर्गा के विभिन्न नामों का अर्थ ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के प्रकृतिखण्ड (५७ अध्याय) और देवीपुराण के ३७वें अध्याय में समझाया गया है।

देवी-स्वरूप :—आप परमाप्रकृति हैं। सांख्य दर्शनानुयायी पुरुष और प्रकृति ही सृष्टि के मूल तत्त्व हैं। यही प्रकृति शक्तिस्वरूपा देवी है। वेदान्त दर्शन के अनुसार जब निर्गुण ब्रह्म के साथ माया या शक्ति के योग से सगुण ब्रह्म की उत्पत्ति होती है तब उसी सगुण ब्रह्म से ही सृष्टि की स्थिति और लय हुआ करता है। वे ही परम पुरुष विष्णु हैं। जिस प्रकार अग्नि और उसकी दग्ध करने की शक्ति अलग अलग नहीं दीख पड़ती उसी प्रकार ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति में भेद नहीं है। यही महाशक्ति देवीदुर्गादि नामों से प्रसिद्ध है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में देवी की विभिन्न शक्तियों का परिचय मिलता है जैसे देवीदुर्गा ही तपस्वियों की तपस्या, भक्तों की भक्ति-शक्ति, मुक्तों की मुक्ति और सांसारिक लोगों की मायाशक्ति हैं—वे ही बुद्धि और मेधा-शक्ति हैं। इसी देवी की करुणा से भक्ति और मुक्ति मिल सकती है।

वर्त्तमान युग के वैज्ञानिक पहले परमाणुवाद का प्रचार किया करते थे लेकिन आजकल इसी परमाणुवाद से शक्तिवाद का प्रचार हुआ है। जड़ प्रकृति अणु और परमाणु के संयोग से बना है और यह परमाणु केवल शक्तियों (energy) की समष्टि है। इस जड़प्रकृति के अन्तर्भूत जो शक्ति है वही परमाशक्ति—देवी की विकासशक्ति है। वे चैतन्यस्वरूपा हैं, जड़ या अज्ञान नहीं। शक्ति विकास का तारतम्य ही जड़, अज्ञान या अचैतन्य है। जड़ और चैतन्य (matter and spirit) में स्वरूपतः कोई पार्थक्य नहीं केवल विकास का तारतम्य है।

देवीदुर्गा ही इस अनन्त शक्ति की आधारभूता महादेवी हैं। विभिन्न शक्तियों के विकास में आपके विभिन्न नाम हैं।

दुर्गादेवी का इतिहास :—मैक्समूलर आदि कई विद्वानों की यह राय है कि देवीदुर्गा वैदिक देवी नहीं अनार्यों की देवी हैं। आर्य-अनार्य सम्मिश्रण के बाद आप की पूजा आर्य-देवी की तरह होने लगी थी। लेकिन वैदिक-साहित्य के अध्ययन से यह ठीक नहीं मालूम पड़ता। ऋग्वेद (१, १३६, ३) में यह लिखा हुआ है कि यजमान ज्योतिष्मती ने एक सम्पूर्णलक्षणा स्वर्गप्रदायिनी वेदी तैयार की थी। उस समय अर्थात् वैदिक युग के प्रारम्भ में ऋषि वेदी या कुण्ड के सामने बैठ कर तपस्या किया करते थे। उस समय वेदी में आग नहीं जलाई जाती थी—ऐसा बाद में होने लगा और उसके लिये हविः (घी) आदि दानों की व्यवस्था हुई। दक्ष ने कई यज्ञ किये थे इसलिये यज्ञवेदी या कुण्ड 'दक्ष-तन' (दक्ष-तनया) कहलाने लगा (ऋ० ३, ३, ९)। अग्निदेवता का वैदिक नाम रुद्र या महादेव है। वेदी आलिङ्गन किये रहने के कारण परवर्त्तीकाल में यज्ञवेदी या दक्षतनया का अग्निदेव-महादेव की स्त्री के रूप में प्रचार हुआ। इसलिये यह स्पष्ट है कि वैदिक युग में देवीदुर्गा की मूर्त्ति-कल्पना न रहने पर भी यज्ञवेदी और अग्निदेव 'रुद्र' में ही उनकी बीज छिपी हुई थी।

यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि यज्ञ-वेदी और अग्नि से देवीदुर्गा की कल्पना किस तरह हुई ? —अग्नि देवताओं के पास यज्ञ-हव्य ले जाते थे इसलिये उनकी अधिष्ठात्री देवी हव्यवाहिनी कहलाईं। ये हव्यवाहिनी ही बाद में दुर्गा मूर्त्ति में परिणत हुई। यज्ञकुण्ड की दस दिशाएँ दुर्गा के दस हाथ हैं। अग्नि के पीले रङ्ग (पीतवर्ण) से दुर्गा के पीत-वर्ण की कल्पना हुई। यज्ञवेदी में दूसरे देवताओं की स्थापना करने की व्यवस्था थी, जैसे एक देवी यज्ञज्ञानदात्री या मूर्त्तिमत् वेदज्ञान थीं—ये ही बाद में सरस्वती हुईं ; दूसरी देवी यज्ञानुष्ठान की अर्थ-व्यवस्था करती थीं—आप लक्ष्मी कहलाईं। इसी तरह परवर्त्तीकाल में 'दशभुजा दुर्गा' के साथ सरस्वती, लक्ष्मी, कार्त्तिक, गणेश आदि की व्यवस्था की गई। तैत्तिरीय आरण्यक (१०, १८) में ही महादेव, दुर्गा, कार्त्तिक, गणेश, नन्दि आदि का समावेश मिलता है। ऋग्वेद के खिलसूक्त (२५) में और तैत्तिरीय आरण्यक (१०, १) में देवीदुर्गा का वर्णन रात्रिदेवी के रूप में है। इस तरह गवेषणा करने से यह सिद्ध होता है कि देवीदुर्गा अनार्यों की नहीं बल्कि वैदिक आर्यों की ही देवी हैं। परवर्त्ती पौराणिक युग में उनकी स्तुति, मूर्त्ति कल्पना, पूजा, आराधना आदि की प्रथा चल पड़ी। वैदिक साहित्य में ही कई दुर्गा गायत्री हैं जैसे—कात्यायनाय विद्महे कन्याकुमारिम् धीमहि तन्नो दुर्गि प्रचोदयात् (तै० आ० ९वां अनु०) इत्यादि। इन्हीं से बाद में दुर्गा-ध्यान-मन्त्र बनाये गये। इसके बाद बह्वृच् उपनिषद् और देवी उपनिषद् से देवी की पूर्ण शक्ति का परिचय मिलता है। महाभारत और हरिवंश में जो वर्णन दिया हुआ है वह भी उपर्युक्त उपनिषदों के वर्णनों से मिलता जुलता है।

कालिकापुराण (४'५ अ०), देवी-भागवत (८।८ अ०) आदि में देवी का पौराणिक परिचय मिलता है। कालिकापुराण में यह लिखा हुआ है कि ब्रह्मा, विष्णु और महादेव परब्रह्म (सगुणब्रह्म) की विभिन्न शक्तियों के आंशिक रूप में आविर्भूत हुए। ब्रह्मा और विष्णु ने सृष्टि और स्थिति के लिये अपनी अपनी शक्तियों (पत्नियों) को ग्रहण किया लेकिन महादेव ऐसा न कर ध्यानमग्न रहे। तब ब्रह्मा ने अपने मानसपुत्र दक्ष से कहा "दक्ष ! तुम जगन्माता की पूजा करो ताकि वे तुम्हारी कन्या के रूप में जन्म लेकर महेश्वर की पत्नी बनें"। तदनुसार दक्षप्रजापति ने सहस्र वर्ष की घोर तपस्या की। महामाया आविर्भूता हुईं और उन्होंने कहा "मैं तुम्हारी कन्या के रूप में जन्म ग्रहण कर शङ्कर की पत्नी बनूंगी और जब तुम मुझे स्नेह न करोगे तब मैं देह त्याग करूंगी"। तदनुसार देवी ने दक्षपत्नी बारिणी के गर्भ में जन्म लिया और महादेव को सतुष्ट कर वे उनसे जा मिलीं।* वे कैलाशशिखर और हिमालय के पास महाकौषी नामक नदी प्रपात के पास रहने लगे। कुछ समय बीतने के उपरान्त दक्ष ने एक महायज्ञ किया और वहां महादेव का अपमान होने पर दक्षकन्या सती प्राण त्याग दीं। महादेव सती की लाश कंधे पर रख विलाप करते हुए पूर्व की ओर चल पड़े। तब ब्रह्मा, विष्णु और शनि ने सती की देह में प्रवेश कर उसे टुकड़े २ कर दिया। जिन स्थानों में सती-अङ्ग के टुकड़े गिरे थे वे बाद में तीर्थस्थान बन गये। इस तरह भारतवर्ष में ५१ तीर्थस्थान बने। प्रकृतस्थ होकर महादेव पुनः योगासीन हुए। उस समय हिमालयराज-पत्नी मेनका ने पुत्र की कामना में २७ वर्ष तक महामाया की पूजा की। उनकी पूजा से सन्तुष्ट होकर देवी आविर्भूता हुईं। मेनका ने उनसे १०० वीर पुत्र और एक भुवन-मोहिनी कन्या के लिये प्रार्थना की। भगवती ने उनकी कन्या रूप में जन्म ग्रहण किया। वसन्त ऋतु के मृगशिरा नक्षत्र में नवमी तिथि के रोज अर्धरात्रि में देवी मेनका-कन्या रूप में अविर्भूता हुई। हिमालयराज ने उनका नाम काली रखा और मित्रों ने पार्वती। एक दिन नारद ने आकर हिमालयराज से कहा कि उनकी कन्या तपस्या के बल से महादेव को प्रसन्न करने पर सुवर्ण की तरह गौराङ्गी बनेंगी और उन्हें पति रूप में महादेव मिलेंगे। उस समय महादेव हिमालय के ओषधिप्रस्त नामक नगर के पास तपस्या कर रहे थे। पिता के साथ पार्वती वहां पहुँची और वे उनकी पूजा करने लगीं। उसी समय तारकासुर ने देवताओं को हरा कर स्वर्गराज्य में अपना अधिकार जमाया। देवता ब्रह्मा के शरणागत हुए। आप ने कहा कि महादेव के औरसपुत्र के सिवाय कोई तारकासुर का वध नहीं कर सकेगा। देवताओं ने मदन और रति को महादेव के पास भेजा। रोषानल में मदन भस्म हुए; पार्वती की विरह-ज्वाला बढ़ उठी। पञ्चविध तपस्या कर वे कमजोर हो गईं। महादेव उन पर प्रसन्न हुए और उन्होंने पार्वती से विवाह किया और वे कैलासपर्वत पर रहने लगे। उसी समय उर्वशी को देख कर एक दिन महादेव ने 'भिन्नाञ्जन श्यामले कालि' कह पर्वती का उपहास किया। रुष्टा होकर महाकौषी प्रपात नामक स्थान में जाकर पार्वती सौ वर्ष तक तपस्या की जिसके फलस्वरूप उन्हें बाहर और भीतर महादेव-दर्शन होने

लगा। तब आकाशगङ्गा के पानी में नहाकर वे बिजली की तरह गौरवर्णा हुईं। बाद में उनके कार्त्तिक और गणेश नामक पुत्र हुए। संक्षेप में हिमालयप्रदेश में देवी की आविर्भाव कहानी यही है। हरिद्वार के पास कंखल नामक स्थान में दक्ष की राजधानी थी और वहीं दक्षयज्ञ हुआ था। लेकिन हिमालयराज की राजधानी कहां थी इसका कोई लिखित प्रमाण नहीं मिलता। सम्भवतः वह गढ़वाल के अन्तर्गत टेहरी के आस-पास थी।

देवी-दुर्गा देवताओं के सङ्कटों को दूर करने के लिये और असुरों का वध करने के लिये कई बार विभिन्न रूपों में आविर्भूता हुई थीं। देवी-भागवत, मार्कण्डेय चण्डी आदि ग्रन्थों में इस विषय में बहुत कुछ दिया हुआ है। महाभागवत, बृहन्नन्दिकेश्वरपुराण, बृहद् धर्मपुराण आदि में उनके आविर्भाव की कहानियां मिलती हैं।

पूजा प्रचलन :—श्रीरामचन्द्र जी ने सबसे पहले दुर्गादेवी की पूजा की थी। रामचन्द्र जी की दुर्गापूजा का संक्षिप्त वर्णन महाभारत के वनपर्व (२८-३० अध्याय) में मिलता है। रावण वध के लिये शरत् ऋतु में आपने नवरात्र-व्रत का अनुष्ठान कर दुर्गादेवी की पूजा की थी। बृहन्नन्दिकेश्वरपुराण, महाभारत आदि में भी रामचन्द्र की दुर्गा पूजा का उल्लेख है। १०८ नील कमलों से देवी की पूजा करने के लिये आप तैयार हुए लेकिन उनकी परीक्षा करने के लिये देवी ने एक कमल छिपा लिया। इस पर श्रीरामचन्द्र जी अपनी एक आंख निकाल कर उसकी पूर्ति करने पर ही थे कि देवी उन पर संतुष्ट हुईं। रावण ने वसन्त ऋतु में दुर्गादेवी की जो पूजा की थी उसे वासन्ती पूजा कहते हैं और रामचन्द्र जी की पूजा को शारदीया पूजा कहते हैं। कई लोग शरत्ऋतु की पूजा को 'अकाल' पूजा कहते हैं लेकिन वैदिक युग में भी शारदीया पूजा होती थी। वाजसनेयसंहिता (२१।२६), तैत्तिरीयब्राह्मण (२६।१९।१२), मैत्रायणी संहिता (३।११।१२ और १५९।७) इत्यादि के "शारदेन ऋतुना देवाः" आदि वाक्यों से यह सूचित होता है कि शरत्ऋतु ही देवार्चन के लिये ठीक समय है। वैदिक युग में शरत्ऋतु में भी शारदीया पूजा होती थी जिसे एकाष्टका पूजा कहते थे। उसी से बाद में अष्टभुजा मूर्त्ति की पूजा होने लगी। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण (६१।५५) में यह दिया हुआ है कि समाधि वैश्य और सुरथ राजा ने शरत्ऋतु में दुर्गादेवी की पूजा की थी। चण्डी में लिखा हुआ है कि वे कई वर्षों तक दुर्गादेवी की आराधना और तपस्या में निमग्न थे। सम्भवतः शरत्ऋतु में ही यह पूजा होती थी। वसन्तऋतु में देवी की पूजा का प्रथम उल्लेख ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में है। श्रीकृष्ण ने मधुमास के वसन्तऋतु में गोलोक में उनकी पूजा की थी। बाद में विष्णु ने भी मधुमास में मधुकैटभ वध के लिये उनकी पूजा की। तदनन्तर महादेव ने त्रिपुरा-नाश के लिये दुर्गा-पूजा की। फिर इन्द्र ने नवरात्र व्रत का अनुष्ठान कर उनकी पूजा की। उसी समय से देवी की पूजा प्रचलित हुई थी। इसके बाद विश्वामित्र भृगु, वशिष्ठ और कश्यप ऋषियों ने नवरात्र व्रत का अनुष्ठान किया (देवी-भागवत ३।३०।२५)। मिट्टी

की मूर्त्ति बना कर उसकी पूजा करना और पूजा हो जाने पर देवी-विसर्जन कर देने की प्रथा राजा सुरथ के समय से चल पड़ी। राजा सुरथ ने मेधस ऋषि के आश्रम में पूजा की थी और समाधि वैश्य ने नदी किनारे। उसके बाद युधिष्ठिर, अर्जुन आदि ने भी दुर्गादेवी को पूजा की थी। उस समय वे विन्ध्यवासिनी देवी की पूजा किया करते थे। महाभारत युग में भी दुर्गापूजा प्रचलित थी—यह बात महाभारत में दुर्गा मूर्ति और पूजा के वर्णन से सिद्ध होती है। उस समय दुर्गा की विभिन्न मूर्त्तियों की पूजा प्रचलित थी जैसे कुमारी, काली, कृष्णपिङ्गला, कात्यायनी आदि। इन बातों से यह सिद्ध होता है कि भारतवर्ष में दुर्गा पूजा का प्रचार प्राचीनकाल से ही होता आ रहा है और शरत् तथा वसन्त ऋतुओं में यह पूजा हुआ करती थी। दोनों प्रकार की पूजाएँ एक सी हैं, पार्थक्य केवल इतना ही है कि शरत् ऋतु की पूजा को अकालपूजा कहते हैं इसलिये 'बोधन' इस पूजा का एक विशेष अङ्ग है। अकाल शब्द का क्या अर्थ है? माघ से आषाढ़ माह तक को उत्तरायण कहते हैं और श्रावण से लेकर पौष तक को दक्षिणायण। शास्त्रानुसार देवता उत्तरायण में जगे हुए रहते हैं और दक्षिणायण में वे सोते रहते हैं। यह कहना निरर्थक है कि मनुष्यों का एक साल देवताओं के लिए एक दिन का होता है। देवता जब जगे रहते हैं वह समय 'काल' कहलाता है और जब वे सोते रहते हैं उस समय को अकाल कहते हैं। यही कारण है कि शारदीया पूजा को लोग अकालपूजा कहते हैं और देवताओं को जगाने के लिये बोधन की आवश्यकता होती है। नवरात्र व्रत ही बोधन है।

पूजा-विधि :—शारदीया पूजा के चार प्रधान अङ्ग हैं—स्नपन, पूजन, होम और बलिदान। यह पूजा तीन दिनों तक होती है—आश्विन माह की शुक्ला (सुदी) सप्तमी, अष्टमी और नवमी। इस पूजा के लिये सात कल्प (समय) निर्धारित हैं—(१) नवम्यादि कल्प—भाद्र माह की कृष्णा (बदी) नवमी से लेकर आश्विन माह की महानवमी तक जो पूजा होती है उसे नवम्यादि कल्प कहते हैं। (२) प्रतिपदादि कल्प—आश्विन शुक्ला प्रतिपद से महानवमी तक। (३) षष्ठ्यादि कल्प—आश्विन शुक्ला षष्ठी से महानवमी तक। (४) सप्तम्यादि कल्प—महासप्तमी से महानवमी तक। (५) अष्टम्यादि कल्प—महाष्टमी और महानवमी (६) अष्टमी कल्प—केवल महाष्टमी का दिन (७) नवमी कल्प—केवल महानवमी का दिन। इसके सिवाय यह पूजा सात्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार की है—जप, यज्ञादि तथा भगवती-माहात्म्य पाठ देवी सूक्त आदि सात्विकी पूजा हैं, बलिदान आदि राजसिक पूजा और बिना जप तथा यज्ञ के केवल सुरामांसादि उपहारों से देवी की जो पूजा होती है उसे तामसिक पूजा कहते हैं। इस पूजा को लोग घृणा की दृष्टि से देखते हैं।

सप्तमी के दिन दो-पहर को केला, अनार, धान, हल्दी, मानक, कुइयां, बेल, अशोक और जयन्ती के पत्तों से 'नवपत्रिका प्रवेश' हुआ करता है। इसके बाद मिट्टी की मूर्त्ति में प्राण प्रतिष्ठा करने की पद्धति है। तदनन्तर नाना उपचारों से पूजा शुरू होती है। अष्टमी और नवमी के सन्धि समय में

आंखें हैं। देह का रङ्ग सोने का-सा है। आप सर्वाभरणों से सुसज्जिता उग्र त्रिभङ्ग मूर्त्ति में खड़ी हुई हैं। दस हाथों में आयुध हैं। दाहिने हाथ में क्रमशः त्रिशूल, खड्ग, चक्र, तीक्ष्ण बाण (सर) और शक्ति हैं। बांए हाथ में क्रमशः खेटक, धनुष, पाश, अंकुश, घण्टा और फरसा (परशु) हैं। आप का दाहिना पैर सिंह के ऊपर है और बांया पैर महिषासुर के ऊपर। देवी उग्रचण्डा, प्रचण्डा, चण्डोग्रा, चण्डनायिका, चण्डी, चण्डवती, चण्डरूपा, और अतिचण्डा इन आठ शक्तियों से घिरी हुई हैं। आजकल बङ्गाल में इन आठ शक्तियों के बदले में बांई ओर सरस्वती और कार्त्तिक तथा दाहिनी ओर लक्ष्मी और गणेश की मूर्त्तियां रहती हैं।

बङ्गाल और बङ्गाल के बाहर कई स्थानों में कई प्रकार की मूर्त्तियां मिलती हैं लेकिन उन मूर्त्तियों का परिचय इस छोटे से लेख में नहीं दिया जा सकता। आगमशास्त्र में नौ प्रकार की दुर्गा मूर्त्ति का उल्लेख है— नीलकण्ठी, क्षेमकरी, हरसिद्धि, रुद्रांशदुर्गा, वनदुर्गा, अग्निदुर्गा, जयदुर्गा, विन्ध्यावासीदुर्गा और रिपुमारीदुर्गा। प्रत्येक मूर्त्ति में विभिन्न रूप और गुणों का विकास है जैसे नीलकण्ठी दुर्गा ऐश्वर्य और सुख देने वाली हैं और उनके चार हाथ हैं। क्षेमंकरी दुर्गा बल और वीर्य देने वाली हैं, हरसिद्धि दुर्गा काम्यवस्तु (मांगी हुई वस्तु) देने वाली हैं इत्यादि। इनके अतिरिक्त दुर्गा की और भी कई प्रकार की मूर्त्तियां हैं जैसे नन्दा, नवदुर्गा, भद्रकाली, महाकाली, अम्बा, अम्बिका, मङ्गला, सर्वमङ्गला, कालरात्री, ललिता, गौरी, उमा, पार्वती, रम्भा, त्रिपुरा, भूतमाता, योगनिद्रा, वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, काली, रक्तचामुण्डा, योगेश्वरी, शिवदूती आदि।

यही है संक्षेप में जगन्माता दुर्गादेवी की मूर्त्ति का परिचय।

कोऽहम् ?

(पूर्वानुवृत्ति)

श्रीमत्स्वामी श्री शंकरतीर्थ जी महाराज

वेद कहते हैं—"तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुंजादिवेषीकां धैर्येण ।" अर्थात् जैसे मुंजतृण के गर्भ से नूतन कोमल पत्र को आवरक स्थूलपत्रों से कौशलपूर्वक पृथक् कर उद्धृत किया जाता है वैसे अधिकारी धीर पुरुष त्रिविध शरीर से अन्वय व्यतिरेक द्वारा विचारपूर्वक आत्मा को पृथक् करने पर परब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं ।

"यथा मुंजादिषीकैवमात्मा युक्त्या समुद्धृतः ।
शरीर त्रितयाद्धीरैः परंब्रह्मैव जायते" ॥

दूसरी बात यह है कि आत्मा ही परमप्रेमाधार है। परमप्रेमाधार होने के कारण आत्मा परमानन्दस्वरूप है। जो आनन्दमय स्थान है वहां आनन्दमय कोष है। अस्थायित्व हेतु आनन्दमय कोष को भी आत्मा नहीं कहा जा सकता। अतः आत्मा पचकोषातीत है। निविष्ट मन से निरन्तर विचार द्वारा पचकोष से आत्मा की स्वतन्त्रता अवगत होने से आत्मसाक्षात्कार होता है।

"अन्वय व्यतिरेकाभ्यां पचकोष विवेकतः
स्वात्मानं तत उद्धृत्य पर ब्रह्म प्रपद्यते" ॥
"पचकोषविवेकेन लभन्ते निर्वृतिं पराम्" ।

उपर्युक्त युक्तियों से मैं (जीवात्मा) सत् (नित्य) चित् (ज्ञानस्वरूप) और परमानन्दस्वरूप निश्चय होता है और उपनिषदों में भी परब्रह्म को सत्-चित्-परमानन्दस्वरूप कहा है। अतः जीवात्मा (मैं) और परमात्मा अभिन्न हैं ।

सत्यं ज्ञानमनन्तं च ब्रह्मलक्षण मुच्यते ।
सत्यत्वाज् ज्ञानरूपत्वादनन्तत्वात् त्वमेव हि ॥"
"जीवश्च परमात्मा च पर्यायो नात्र भेदधीः" ।
"तस्मात् कदाचिन्नेक्षेत भेदमीश्वर जीवयोः" ।

चिदानन्दमय परब्रह्म का प्रतिबिम्ब जिसमें वर्त्तमान है वही प्रकृति है। सत्व, रजः, तमः इन तीनों गुणों से प्रकृति शरीर गठित है। "प्रकृतिः गुणत्रय-वपुः"। इसी की मूर्त्ति स्थूलतः द्विविध है—एक माया और दूसरी अविद्या। जो प्रकृति का धर्म शुद्ध सत्वगुण है वही माया है और जो

प्रकृति का धर्म रजस्तमोगुणयोग से मलिनीकृत सत्त्वगुण है उसी का नाम 'अविद्या' है। माया में प्रतिबिम्बित चिदानन्द ब्रह्म ही 'ईश्वर' है और माया ईश्वर के वशीभूत रहने के कारण ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वैश्वर्यवान् है। अविद्या में प्रतिबिम्बित ब्रह्म ही 'जीव' है। अविद्या के वशीभूत रहने से अविद्या की नैर्मल्य और मालिन्य के तारतम्यहेतु देव, मनुष्य, गौ, अश्व, कीट प्रभृति जीव भी बहु प्रकार के हैं। जीव विद्या योग से अविद्या छेदन कर ईश्वरत्व प्राप्त कर सकता है।

"चिदानन्दमय ब्रह्म-प्रतिबिम्बसमन्विता।
तमे रजः सत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा॥
सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः॥
अविद्या वशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा"।
"देहभेदात् जीव भेदभ्रान्तिः"।

इस प्रबन्ध का आलोच्य विषय है 'मैं' कौन हूँ। पञ्चकोष तत्त्वविचार से यह मालूम हुआ कि 'मैं' नामक पदार्थ पञ्चकोषातीत है एवं सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है। परन्तु जब ब्रह्म भी सत्-चित् आनन्दस्वरूप है तब फिर 'मैं' और 'ब्रह्म' में भेद क्यों प्रतीत होता है? इसका उत्तर यह है कि 'मैं' कर्मवश अविद्या-वशीभूत होने से अपने को नहीं जान सकता। अविद्या के प्रभाव से जीवरूपी 'मैं' कर्म करता है। कर्म का परिणाम सुख-दुःखादि भोग है। पुनः सुख-दुःखादि भोग का परिणाम कर्म है। ब्रह्म का कर्म नहीं है और 'मैं' का कर्म है। केवल मात्र इसी एक प्रधान कारण से ब्रह्म से 'मैं' स्वरूपतः पृथक् न होने से भी अपने को ब्रह्म से पृथक्वत् उपलब्धि करता है। तात्त्विक पुरुष तत्त्वविचार द्वारा क्रमशः अविद्या प्रभाव से पार पा सकता है और तब अपने को ब्रह्म से अभिन्न जानता है। जो लोग बाह्यदृष्टिपरायण और आत्मज्ञान वर्जित हैं वे नदी के आवर्त्त में पतित कीट पतङ्ग वत् एक कर्म से और कर्म में नीत होकर कदाच अविद्या के हाथ से निष्कृति नहीं पाते। पञ्च-कोषावृत 'मैं' स्वीय स्वरूप विस्मरण फल से निरन्तर संसार चक्र में विचरता रहता है।

"ते पराग्दर्शिनः प्रत्यक् तत्त्वबोध विवर्जिताः।
कुर्वते कर्मभोगाय कर्म कर्तुं च भुंजते॥
नद्यां कीटा इवा वर्त्तादावर्त्तान्तिरमाशुते।
व्रजन्तो जन्मनो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिम्॥"

स्थूल देह से आनन्दमय कोष पर्यन्त तत्त्वविचार से यह जाना गया है कि वे कोषसमूह आत्मा नहीं हैं अर्थात् 'मैं' नहीं। तब आत्मा अर्थात् 'मैं' क्या है? 'मैं' स्वयं ज्ञानस्वरूप है इस कारण वह ज्ञेयस्वरूप नहीं है। जैसे शर्करा के साथ शर्करा मिलाने से द्वितीय शर्करा प्रथम शर्करा के मधुर रस को

बढ़ाती वा घटाती नहीं पर अम्ल के साथ शर्करा मिलने से अम्ल को मधुररसान्वित करती है, वैसे आत्मा भिन्न अगर पृथक् ज्ञाता और ज्ञान का अस्तित्व न रहने के कारण आत्मा का स्वतः सिद्ध नित्य ज्ञान उपलब्धिगोचर नहीं होता। परन्तु आत्मा अज्ञेय होने से भी उसके स्वतः सिद्ध नित्य ज्ञानस्वरूप को कुछ हानि नहीं होती।

"माधुर्यादिस्वभावानामन्यत्र स्वगुणार्पिणाम्।
स्वस्मिंस्तदर्पणापेक्षा नो नचास्त्यन्यदर्पकम्॥
अर्पकान्तरराहित्येऽप्यस्तेषां तत्स्वभावता।
माभूत्तथानुभाव्यत्वं बोधात्मा तु न हीयते॥"

ज्ञान का साधन मन ज्ञेय को प्रकाश नहीं कर सकता, ज्ञातृस्वरूप आत्मा को प्रकाश करने में मन का सामर्थ्य नहीं है "न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा"। जिस विषय के अवलम्बन से ज्ञान होता है तत्तद्विषयों का त्याग करने से जो ज्ञानमात्र अवशेष रहता है वह है 'मैं' वा ब्रह्म,—ऐसा निश्चय ही 'ब्रह्म निश्चय' है। पञ्चकोष परित्याग करने से अर्थात् पञ्चकोषों में अनात्मत्व निश्चय होने से अवशेष जो साक्षिस्वरूप ज्ञान रहता है, वह मैं का अर्थात् आत्मा का—ब्रह्म का स्वरूप है। साक्षिबोध-रूप आत्मा का शून्यत्व असम्भव है। असन्नेव स भवति ; असद् ब्रह्मेति वेदचेत् ; अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः" ; "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" ; स देव सोम्येदमग्र आसीत्" इति उपक्रम्य "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" इत्यादि श्रुति आत्मा की सत्यता प्रतिपादन करने से वह आत्मा संपूर्ण भ्रम का अधिष्ठान है अतः आत्मा शून्य नहीं हो सकती। इस विषय में वेदान्तकारिकाकार ने कहा है :—

"यस्मिन् यस्मिन्नस्ति लोके बोधस्तत्तदुपेक्षणे,
यद्बोधमात्रं तद्ब्रह्मेत्येव धीर्ब्रह्मनिश्चयः।
पंचकोषपरित्यागे साक्षिबोधावशेषतः,
स्व स्वरूपं स एव स्यात् शून्यत्वं तस्य दुर्घटम्॥"

परमात्मा का आभासस्वरूप जीवसमूह का ही संसार है। परमात्मा के साथ संसार का कोई भी संबन्ध नहीं। यदि परमात्मा के साथ उसका कुछ संबन्ध रहता तो संसार 'नित्य' हो जाता। ऐसे विवेचन को ही 'ज्ञान' कहा जाता है, विचार से ही ज्ञान लाभ होता है। अतः सर्वदा जगत्, जीव और परमात्मा के स्वरूप विचार करना अवश्य कर्त्तव्य है क्योंकि विचार से जीव और जगत् का नश्वरभाव विशेष रूप से बोधगम्य होने पर अविद्यास्वरूप माया प्रास होता है और अवशेष नित्य शुद्ध परब्रह्मज्ञान प्रकाशित रहता है।

"आत्माभासस्य जीवस्य ससारोनात्मवस्तुतः ।
इति बोधो भवेद्विया लभ्यतेऽसौ विचारणात् ॥
सदा विचारयेत्तस्माज्जगज्जीव परात्मनः ।
जीवभावजगद्भाव बाधे स्वात्मैव शिष्यते ॥"

मेरे साथ मेरे देह का क्या सम्बन्ध है ? लौकिक दृष्टि से विवेचना की जा रही है। गृहस्थ के साथ गृह का जो सम्बन्ध रहता है मेरे साथ मेरे देह का सम्बन्ध उससे अधिक नहीं अपितु न्यून है। कच्ची इमली में आवरण के तन्मध्यस्थ इमली का जो सम्बन्ध होता है, मेरे साथ मेरे देह का सम्बन्ध बाह्यदृष्टि से तद्रूप है अर्थात् साथ लगा हुआ है। जब जीव तत्त्वविचार द्वारा शरीर को अपने से पृथक् अनुभव कर लेता है तब वह देख पाता है। सुपक्क इमली जैसे आवरण से अलग रहती है वैसे वह भी शरीर से अलग—पृथक् है। यह ठीक है कि पकने के पहले इमली आवरण के साथ संपृक्त रहती है किन्तु पक जाने से आवरण पर इमली आप से स्वतन्त्र हो जाती है,—ठीक उसी प्रकार अविद्याभिभूत जीव प्रथमतः अपने को देह के साथ अभिन्न देखता है, बाद में क्रमशः तत्त्वविचार द्वारा बुद्धि मालिन्य नष्ट होने से 'मैं' के साथ देह का पृथक्त्व अनुभव करने लगता है। यह जो देह के साथ आत्मा को घनिष्ठता वा अभेद ज्ञान है यह ज्ञान एक जन्म की साधना से दूरीभूत नहीं होता। पञ्चदशीकार ने कहा है :—

"बहुजन्म दृढाभ्यासात् देहादिष्वात्मधीक्षणात् ।
पुनः पुनरुदेत्येव जगत् सत्यत्वधीरपि ॥"

परिदृश्यमान जगत् सत्य है। पहले बहु जन्मों में इसका दृढ़रूप से अभ्यास किया गया है इसलिये वह संस्कार पुनः पुनः उदय होता है। शास्त्रों में ऐसे व्यवहार को 'विपरीत भावना' कहा है। जिस वस्तु का जो स्वभाव है उसका यथार्थ तथ्य न जानकर उसको और वस्तुरूप ज्ञान करना यह है 'विपरीत भावना', जैसे समयानुसार पिता को भी शत्रु ज्ञान करना, शुक्ति को रजत जानना आदि। उसी प्रकार आत्मा स्वरूपतः देहेन्द्रियादि से भिन्न है एव जगत् मिथ्या है, तथापि आत्मा को देहादि से अभिन्न और जगत् को सत्य रूप ज्ञान करना विपरीत भावना का व्यवहार है।

"यद् यथा वर्त्तते तस्य तत्त्वं हित्वान्यथा त्वधीः ।
विपरीता भावना स्यात् पित्रादावरिधीर्यथा ।
आत्मा देहादिभिन्नोऽयं मिथ्या चेदं जगत्तयोः ।
देहाद्यात्मत्वसत्यत्वधीर्विपर्यय भावना ॥"

फिर विचार द्वारा जो ज्ञानोत्पत्ति होती है वह भी द्विविध है—एक परोक्ष, दूसरी अपरोक्ष। सर्वकारण, ज्ञानस्वरूप, एकमात्र (अद्वितीय) परब्रह्म है, ऐसा जो निश्चित अवधारण है उसका नाम 'परोक्ष

ज्ञान' है। वेदवाक्य द्वारा अथवा गुरुमुख से सुनकर जो निश्चय होता है वह ज्ञान शास्त्र अथवा गुरु से प्राप्त होने से अर्थात् अपने से भिन्न 'पर' से लब्ध होने पर उसको 'परोक्ष' कहा जाता है और निरन्तर तत्त्व विचार के फल से 'मैं ही नित्य शुद्ध मुक्त स्वरूप परब्रह्म हूँ' इत्याकार दृढ़ प्रतीतिबोधक जो ज्ञान हृदय में प्रकाश पाता है उसका नाम 'अपरोक्ष' ज्ञान है अर्थात् पर से लब्ध नहीं—प्रत्यक्ष ज्ञान है। यावत् इस अपरोक्ष ज्ञान में स्थिति नहीं होती, तावत् जीव ठीक ठीक नहीं समझ सकता कि आत्मा के साथ देह का क्या सम्बन्ध है। गीतास्मृति के एकस्थल में कहा गया है :—

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्ज्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारुढानि मायया॥"

हे अर्ज्जुन! शरीर रूप यंत्र में आरूढ़ हुए संपूर्ण प्राणियों को अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी माया से उनके कर्मों के अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूत प्राणियों के हृदय में स्थित है। यहां पर सर्वभूत शब्द का अर्थ है—विज्ञानमयकोष। "विज्ञानमय कोषोऽय जीव इत्यागया जगुः"। विज्ञानमय कोष ही सब प्राणियों के हृदय में स्थित है। ईश्वर उसी का उपादान कारण स्वरूप है। ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में स्थित रहकर विज्ञानमय के विकार से विकृतवत् होता है, परन्तु स्वरूपतः वह है अविकारी। यहां देहादि को यन्त्र कहा गया है और तत्तदेह में आत्मा का जो अभिमान है उसको 'आरोहण' कहा है और विहित वा निषिद्ध कर्म में उसकी जो प्रवृत्ति है उसका नाम 'भ्रमण' है।

जगत् में ऐसे कई पदार्थ हैं जो केवलमात्र बाह्येन्द्रियों के गोचर हैं,—वैसे वहिरिन्द्रियों के गोचर होने को 'इन्द्रिय प्रत्यक्ष' कहा जाता है ओर जो सब व्यापारों से बाह्येन्द्रियों के प्रत्यक्षीभूत नहीं हैं वे अनुमानसिद्ध होते हैं। अनुमान मानस व्यापार है अतः अन्तरिन्द्रियों के ग्राह्य है। अन्तरिन्द्रियों का नाम मनः है। वैसे मन की ग्रहण सामर्थ्य को 'मानस प्रत्यक्ष' कहते हैं। आगे जिस विषय को मन भी ग्रहण नहीं कर सकता उसी विषय को प्रत्यक्ष करने के लिये आप्तोपदेश का आश्रय लेना पड़ता है। भ्रमप्रमादपरिशून्य वेदवाक्य का नाम आप्तोपदेश है। तत्त्वार्थदर्शी मन्त्रद्रष्टा ऋषि योग बल से जो अज्ञेय तत्त्वों का परिणाम विशदरूप से अन्तर में उपलब्धि करके अधिकारियों को उपदेश दिये थे वह है आप्तोपदेश वा वेदवाक्य।

यावत् हम अपरोक्ष ज्ञान बल से तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप निर्णय नहीं करेंगे, तावत् शास्त्रशासन श्रद्धापूर्वक शिरोधार्य करके आगे बढ़ना चाहिये। फिर अपरोक्ष ज्ञान से जब जान लेंगे कि देह से 'मैं' स्वतन्त्र है उस समय ही हम समझेंगे शास्त्र सत्य है या असत्य। इस विषय में अपरोक्ष ज्ञान ही शास्त्र की सत्यता निर्णायक कसौटी है।

विविध-विषय

(१)

राज्यश्री

आज से प्रायः साढ़े तेरह सौ वर्ष पूर्व थानेश्वर में प्रभाकरवर्धन नामक एक प्रसिद्ध राजा राज्य करता था। उसके दो पुत्र थे। बड़े पुत्र का नाम राज्यवर्धन था और छोटे का हर्षवर्धन। जब राज्यवर्धन छः वर्ष का हुआ और हर्ष करीब दो वर्ष का, तब इनकी माता यशोवती ने राज्यश्री को जन्म दिया। यह कन्या चाँदनी के समान सब की आँखों को आनन्द देती थी। सङ्गीत आदि कलाओं से जब राजकुमारी का परिचय दिन-दिन बढ़ने लगा और वह तरुणी हुई, तब तत्कालीन राजाओं ने दूत-प्रेरण आदि से उसकी याचना की।

बेटी की बढ़ती हुई उम्र को देख कर राजा अधिकाधिक चिन्तित हुआ। अन्त में बहुत सोच-विचार के बाद उन्नत मौखरी-वंश के राजा अवन्तिवर्मा के गुणी और तेजस्वी पुत्र ग्रहवर्मा की याचना स्वीकृत हुई। उसी के साथ राजकुमारी का विवाह होना निश्चित हुआ। कई महीनों में राजकुल सुसज्जित हुआ। प्रकाण्ड ज्योतिषियों द्वारा निर्धारित शुभ मुहूर्त में वैदिक विधि से विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ। फिर, सब का दिल दुखाकर ग्रहवर्मा वधू के साथ स्वदेश को लौट गया। राजकुमारी राज्यश्री मौखरी-वंश की रानी हुई।

कुछ ही समय के बाद प्रभाकरवर्धन की मृत्यु हुई। पति की मृत्यु से पूर्व ही देवी यशोवती सती हुई। राज्यवर्धन और हर्षवर्धन माता-पिता के शोकानल से जल ही रहे थे कि राज्यश्री के परिचारक संवादक ने आकर उनसे रोते हुए निवेदन किया—"देव, जिस दिन राजा के मरने की बात फैली, उसी दिन दुरात्मा मालव-राज ने अपने पुण्य-सहित देव ग्रहवर्मा को इस संसार से पृथक् कर दिया। राजकुमारी राज्यश्री भी, जिसके चरणों को लोहे की काली बेड़ियों ने चूमा, चोर-स्त्री की भाँति बाँधी जाकर कान्यकुब्ज की कारा में डाल दी गई।" इस समाचार से सिंह के समान क्रुद्ध होकर राज्यवर्धन योद्धा भण्डि के साथ शत्रु से बदला लेने को चला। उसने शत्रु को पराजित किया किन्तु नीच गौड़-राज ने विश्वासघात कर राज्यवर्धन का वध कर डाला। यह हृदय-विदारक समाचार सुन कर हर्षवर्धन को अत्यन्त क्रोध आया। उसने पृथ्वी को निर्गौड़ तथा दिग्विजय करने की प्रतिज्ञा की।

दिग्विजय के लिये प्रस्थान करने पर मार्ग में हर्ष की भण्डि से भेंट हुई जो राज्यवर्धन के साथ मालव-राज के विरुद्ध युद्ध करने के लिये गया था। जब हर्ष ने भण्डि से राज्यश्री का हाल पूछा तब उसने बतलाया—"राज्यवर्धन के स्वर्गीय होने पर तथा गुप्त नामक व्यक्ति द्वारा कान्यकुब्ज लिये जाने

पर बन्धन से निकल कर देवी राज्यश्री ने विन्ध्य-वन में प्रवेश किया, यह बात मैंने लोगों से सुनी। उसकी खोज में अनेक जन भेजे गये किन्तु वे अब तक नहीं लौटे।" यह सुन कर हर्ष ने कहा—"अन्य अन्वेषकों से क्या ? जहां वह है, वहां अन्य सभी काम छोड़ कर मैं स्वयं जाऊँगा। आप भी सेना लेकर गौड़ की ओर बढ़ें।"

विन्ध्य-वन पहुँचने पर हर्ष को भेंट निर्घात नामक एक युवक-शबर से हुई। वह वन का पत्ता पत्ता जानता था। उस शबर ने कहा—"वन की गिरि-नदी के तट पर दिवाकरमित्र नामक एक भिक्षु रहता है। कदाचित् वह राज्यश्री का वृत्तान्त जानता हो।" यह सुन कर राजा ने सोचा—सुना है कि स्वर्गीय ग्रहवर्मा के बाल-मित्र ने, जो मैत्रायणी शाखा के अध्येता तथा द्विजों में श्रेष्ठ थे, त्रयी (=वेदों) को छोड़ कर युवावस्था में ही काषाय ग्रहण किया था। भगवती प्रव्रज्या मूर्ख को भी सम्माननीय बना देती है, फिर विद्वान् का क्या कहना ? इन्हें देखने को हमारा हृदय सदा से उत्सुक है।

निर्घात के बताये हुए रास्ते से जाकर वह दिवाकरमित्र के आश्रम पर पहुँचा। विविध मतों के शिष्यों से वह भिक्षु घिरा था। यहां चपल एवं हिंसक जन्तु चपलता और हिंसा छोड़ कर बौद्ध धर्म में रत हो गये थे। यहीं पर सुग्गे भी (वसबन्धु-कृत अभिधर्म-)कोश का उपदेश देते थे। भिक्षु से सम्मानित हो कर राजा ने राज्यश्री का हुलिया बता कर उसके बारे में जिज्ञासा की। यह सुन कर एक दूसरे भिक्षु ने उठ कर निवेदन किया—"यहां से कुछ दूर पर इसी गिरि-नदी के तीर पर युवती-वृन्द सहित एक बाला अग्नि में प्रवेश कर रही है। उनमें से एक युवती ने मुझ से करुणा-पूर्ण शब्दों में कहा—"भगवन्, प्रव्रज्या सब जीवों पर दया करती है। बौद्ध दूसरों के दुःख दूर करने के लिए गृहीत व्रत पालन करने में निपुण होते हैं। शाक्य मुनि का उपदेश करुणा का कुल-गृह है। बौद्ध सज्जनता सब का उपकार करने के लिये तैयार रहती है। लोग प्राण-रक्षा से बढ़ कर दूसरा कोई पुण्य नहीं बताते विपत्तियों से अभिभूत हमारी यह स्वामिनी अग्नि में प्रवेश कर रही है,—बचाइये।" तब मैंने उत्तर दिया—"आप जो कुछ कहती हैं सब सच है। यदि मुहूर्त भर भी इसकी रक्षा की जा सके तो यह प्रार्थना व्यर्थ न होगी। बुद्ध भगवान् के समान मेरे गुरु समीप ही हैं। यह समाचार सुन कर वह परमदयालु दुःखरूप-अन्धकार नाश करने वाले बौद्ध सुभाषितों से तथा दृष्टान्तपूर्ण अपनी निपुण वाणी से इस पुण्यशीला को ज्ञान-मार्ग पर लावेंगे।"

यह सुनते ही उस भिक्षु के द्वारा बतलाये रास्ते से भदन्त दिवाकरमित्र के साथ हर्ष राज्यश्री के लिये बनाई गई चिता के पास गया। वह अनशन एवं शोक से मूर्च्छिता थी। युवती-वृन्द का आलाप हृदय-विदारक था। भाई के शीतल हस्त-स्पर्श से राज्यश्री ने अपनी आंखें खोल दीं। बहिन और भाई देर तक रोते रहे। फिर भदन्त द्वारा शिष्यों से कमल के पत्तों में मंगाये गये जल से भाई ने पहले बहिन की आंखें पोंछीं और पीछे अपनी।

शोक का वेग कुछ कम होने पर राज्यश्री ने अपनी परिचारिका पत्रलता द्वारा भाई से कहलाया —"अबलाओं का अवलम्ब पति या अपत्य है। जो दोनों से रहित हैं उनके लिये शोकानल से जलता हुआ जीवन धारण करना केवल ढिठाई है। मैंने मरने के लिये जो यत्न किये वह आर्य के आगमन से रुक गया। अतः काषाय-ग्रहण की आज्ञा से इस अपुण्यात्मा व्यक्ति को अनुगृहीत करें।"

तब आचार्य ने धीरे-धीरे राज्यश्री से कहा—"शोक पिशाच का दूसरा नाम है, अपस्मार का दूसरा रूप है, अन्धकार का यौवन है, एक प्रकार का विष है। सब लोगों के यहां जन्म-जरा-मरण रूपी घटी-यन्त्र की लम्बी रस्सी दिन-रात ससर रही है। यह सारा विश्व नश्वर है। इस पुरातन स्थिति को कोई नहीं टाल सकता। ऐसा समझ कर अपने मृदु मन में तम का अति-प्रसार मत होने दो। काषाय-ग्रहण के लिये आप के मङ्गलमय सङ्कल्प का सम्मान कौन नहीं कर सकता? भगवती प्रव्रज्या समस्त मानसिक ताप शान्त करती है। किन्तु श्रीमान् हर्ष अभी तुम्हारा मनोरथ भग्न कर रहे हैं। बड़े भाई का आदेश पालन करना चाहिये।"

राजा ने भदन्त से कहा—"आप संसार की दारुण विपत्ति में आश्रय-स्तम्भ हैं। मोहान्धकार ध्वंस करने वाले धर्म-प्रदीप हैं। आप के प्रणय-प्रदान से दुर्विनीत हुआ मैं आप से कुछ याचना करता हूँ—मेरी यह बाल-बहिन अत्यन्त दुःखी है, अतः सब काम की अवहेलना से होने वाली क्षति सह कर भी मुझे अभी इसका लालन करना होगा; और मैंने भ्रातृ-हन्ता शत्रु के कुल का नाश करने के लिये सब के सामने प्रतिज्ञा की है। प्रथम अपमान को न सह सकने के कारण मैंने अपनी आत्मा कोप को सौंप दी है। अतः आर्य भी कुछ समय तक अपने को मेरे काम में नियुक्त करें। आज से जब तक यह व्यक्ति अपनी प्रतिज्ञा पूरी करता है तब तक मेरी बहिन आप के समीप रहे और आप धार्मिक कथाओं से, ज्ञान-प्रद विमल उपदेशों से, शील-शान्ति देने वाली शिक्षाओं से तथा क्लेश नाश करने वाले ज्ञान से इसे प्रतिबोध कराते रहें, यही मेरी इच्छा है। जब मैं अपना काम समाप्त कर चुकूँगा तब मेरे ही साथ यह काषाय ग्रहण करेगी (इयं तु ग्रहीष्यति मयैव सम समाप्तकृत्येन काषायाणि)।"

भदन्त ने उत्तर दिया—"छोटे या बड़े काम में इस निरुपयोगी (व्यक्ति) का उपयोग आप गुणवान् के अधीन है*।

—सूर्यनारायण चौधरी, एम० ए०।

---

* बाण कृत हर्षचरित के एक अप्रकाशित हिन्दी—अनुवाद के आधार पर।

(२)

जरथुस्त्र

पारसियों के धर्मप्रवर्त्तक जरथुस्त्र के जन्म काल पर मत भेद है। साधारणतः पाश्चात्य विद्वानों की राय में (खास कर हर्टेल आदि) आप ने ६६०—५८३ ई० पू० में जन्म ग्रहण किया था। कोई कोई तो उन्हें ई० पू० चौदहवीं शताब्दी से लेकर ई० पू० ग्यारहवीं शताब्दी के बीच का बतलाते हैं। पारसियों के धर्मपुस्तक को अवेस्ता कहते हैं। इसकी गाथायें पद्य में हैं और वे जरथुस्त्र की बनाई हुई हैं। अवेस्ता के दूसरे अंशों की भाषाओं से गाथाओं की भाषा में पार्थक्य है। इससे यह पता चलता है कि जरथुस्त्र स्पितम परिवार के अन्तर्गत पौरुष्य के पुत्र थे। सबसे पहले आपके कोई भाई (Cousin) आपके शिष्य बने; तदनन्तर वहीं के कोई राजपुत्र विस्तास्प भी आपके शिष्य बन गये। इसी प्रकार क्रमशः उनके शिष्य बढ़ते गये। इसका परिणाम यह हुआ कि दूसरे धर्मावलम्बियों से जरथुस्त्र और उनके शिष्यों की खींचातानी होने लगी। बीच-बीच में युद्ध भी होने लगा। इसी तरह के एक युद्ध में जरथुस्त्र मारे गये थे।

जरथुस्त्र के पुत्र सोशियस् थे। पारसियों का यह विश्वास है कि भविष्य में सोशियस् फिर आविर्भूत होकर जगत् की दुर्नीति का दमन करेंगे और यहां शान्ति स्थापित करेंगे।

जरथुस्त्र के सिद्धान्त को हम द्वैतवाद कह सकते हैं। आपकी राय में जगत् में हमेशा सत्य और असत्य में द्वन्द्व चल रहा है। यह सत्य अहुर्मज्दा और असत्य अहमन या अंग्रमैन्युस् कहलाता है। सत्य की विजय होगी। असत्य का एक दूसरा नाम अहुर है।

ऋग्वेद और अवेस्ता की भाषा मिलती-जुलती है। यदि कोई ऋग्वेद के 'स' को 'ह' मानकर पढ़े तो ऐसा मालूम पड़ेगा कि वह अवेस्ता पढ़ रहा है। इसका क्या कारण है? डा० अविनाश चन्द्र दास ने अपनी पुस्तक (Rigvedic India) में यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि वैदिक युग में आर्य और आजकल के पारसियों के पूर्व पुरुष एक ही आर्य जाति की सन्तान की तरह उत्तर भारतवर्ष में रहते थे। उसके बाद कट्टर सनातन और उदारपन्थी दलों की सृष्टि हुई। क्रमशः दोनों में विवाद होने के कारण उदारपन्थियों ने सप्तसिन्धु (उत्तर भारत) को छोड़ दिया। वे भारतवर्ष को छोड़कर ईरान नहीं पहुँचे बल्कि काबुल, कन्दहार, समरकन्द, बल्ख आदि देशों में घूमते हुए अन्त में वे ईरान पहुँचे और वहीं बस गये। क्रमशः उनके वंशधरों ने यूनान आदि दूर देशों में घूम कर 'अग्नि-उपासना' का प्रचार किया। अवेस्ता के वेन्दिदाद में इस तरह के १६ प्रदेशों के नाम दिये हुए हैं। परवर्ती काल में ईरान के शाह ने कई पारसियों को वहां से भगा दिया और वे सन्० ७१७ ई० में गुजरात

में आकर रहने लगे। गुजरात के हिन्दू राजा ने तीन शर्तों पर उन्हें अपने राज्य में रहने दिया :—(१) गौ-मांस खाना छोड़ना पड़ेगा, (२) हिन्दू रीति-रिवाज के अनुसार विवाहादि करना पड़ेगा और (३) गुजराती उनकी मातृभाषा बनेगी। बम्बई से ६० मील की दूरी पर संजान नामक स्थान में वे पारसी बस गये और क्रमशः व्यवसाय करते हुए वे सारे भारतवर्ष में फैल गये। आजकल ईरान में भी कई पारसी हैं।

पहले पारसियों की बस्ती भारतवर्ष में थी यह राय मैक्समूलर और डा० मार्टिन हौग भी स्वीकार करते हैं (मैक्समूलर—Science of Language vol II, p. no. 170, 5th ed. ; Chips from a German Workshop p. 83 :—डा० मार्टिन हौग की पुस्तक Religion of the Parsees आदि देखिये)। इन पारसियों में आज भी वैदिक युग की कई प्रथायें प्रचलित हैं। सोमरस के बदले वे हौमरस पीते हैं। स्त्री-पुरुष दोनों का उपनयन (जनेऊ) हुआ करता है (नौजे अर्थात् नवजीवन सस्कार)। वैदिक युग में स्त्रियों का उपनयन होता था।

इसलिये यह स्पष्ट है कि पारसियों और आर्यों की अग्नि उपासना, होम, यज्ञ आदि एक ही तरह के थे और जरथुस्त्र जरत्-त्वष्ट्र (अग्नि अंश) के अवतार थे।

—सतीशचन्द्र शील।

---

(३)

दोनों लोक सुधारने का उपाय

माया तू ठगनी भई, ठगत फिरे सब देश।
जा ठग ने ठगनी ठगी, ता ठग को आदेश॥
मोटी माया सब तजें, झीनी तजे न कोय।
पीर, पैगम्बर, औलिया, झीनी सब को खाय॥

जैसे माहिगीर अपना जाल नदी में फैला कर मछलियां फँसाता है और उस जाल में आई हुई मछलियां ही दुस्सह, असराहनीय कष्ट पाकर तड़प तड़प कर जान दे देती हैं वैसे ही इस संसार समुद्र के जीव माया (स्त्री, धन) के जाल में फँसे हुए नाना प्रकार के भयङ्कर दुःख भोगते हुए अपने

जीवन को समाप्त कर देते हैं। परन्तु जैसे माहिगीर के जाल में फँसी हुई मछलियों में से जो मछलियां उसकी जांघ की ओर चली जाती हैं वे जाल से सहज ही निकल कर (क्योंकि उस तरफ जाल पकड़ने के कारण छिद्र रह जाता है) आनन्दपूर्वक जल-विहार करती हैं। इसी तरह जो जीव इस घोर संसार समुद्र में अनादि, सत, सनातन, हरिप्रिया सम्प्रदाय के सन्त महात्माओं के द्वारा परब्रह्म परमात्मा की शरण ग्रहण करते हैं, वे गो-खुर वत् सहज ही में ससार समुद्र को पार करते हुए इस लोक के सुख को भोगकर परलोक में असीम, अक्षय आनन्द भोग करते हैं। दीक्षित मनुष्य के सम्पूर्ण सञ्चित पाप नष्ट हो जाते हैं और वह अपना और अपने पितरों का ससार समुद्र से उद्धार कर सकता है। ऐसा कहा भी है :—

मन्त्रोपदेश मात्रेण नरौ मुक्तश्च भारत्।
पूर्वैश्च कोटि पुरुषै परे सार्द्धं हरे रहो॥
कोटि जन्मार्जितान् पापान् मन्त्रग्रहण मात्रतः।
मुक्तः शुद्धन्ति यत्पूर्वं कर्म निर्मूलयन्ति च॥

अब अदीक्षित मनुष्य की दशा का वर्णन किया जाता है :—

गुरूपदेश रहितस्वीय प्रज्ञा समन्वितः।
घृताज पुच्छ मयुक्त गो-पुच्छ इव मज्जति॥

अर्थात् :—जिसने गुरु से उपदेश नहीं लिया और जो अपने आप ही ज्ञानवान् बन बैठा है उसकी ऐसी दशा होती है जैसे कि किसी ने गङ्गा आदि नदी के पार करने के लिये गौ की पूंछ को त्याग कर बकरी की पूंछ को ग्रहण किया है—वह पार नहीं पहुँच सकता बल्कि डूब जाता है।

अब पूर्व प्रसङ्ग को लेकर परलोक का सुख-वर्णन किया जाता है। इस पृथ्वी मण्डल में यदि एक चक्रवर्ती राजा हो जो निरोग, पुष्ट और बलिष्ट शरीर वाला हो तथा युवा अवस्था और सद् विद्या द्वारा सम्पन्न हो तो उसको जो सुख प्राप्त होता है उसे एक मनुष्य का सम्पूर्ण आनन्द कहते हैं। उससे सौ गुना अधिक सुख पितरों को होता है। पितरों से सौ गुना अधिक सुख गन्धर्वों को होता है। गन्धर्वों से सौ गुना अधिक सुख अजान देवताओं को होता है। अजान देवताओं से सौ गुना अधिक सुख कर्म देवताओं को होता है। कर्म देवताओं से सौ गुना अधिक सुख अग्नि देव को होता है। अग्नि देव से सौ गुना अधिक सुख इन्द्र को होता है। इन्द्र से सौ गुना अधिक सुख वृहस्पति को होता है। वृहस्पति से सौ गुना अधिक सुख कश्यप को होता है। कश्यप से सौ गुना अधिक सुख ब्रह्मादिक को होता है। ब्रह्मादिक से अनन्त गुना सुख विष्णुभगवान का है। विष्णु जी से अनन्त कोटि गुना अधिक सुख आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र का है। श्री कृष्णचन्द्र से असीम गुना सुख सर्वेश्वर श्री राधिका जी का है, यही वृन्दावन का सुख है—इस सुख को निम्बार्क सम्प्रदाय के वैष्णव अनुभव किये हैं।

धनवन्ते दुखिये भये, निर्धन दुख का रूप।
साधू सुखी इक सन्त कहे, जो भये सन्त स्वरूप ॥

ब्रह्मचारी सर्वेश्वरदास, प्रचार मन्त्री, अखिल भारतवर्षीय
श्री निम्बार्क महासभा, वृन्दावन।

---

(४)

विश्व के कुछ प्राचीन विश्वविद्यालय

विश्व में कई विश्वविद्यालय हैं। उन सब की सूची यदि दी जाय तो कई पृष्ठ लग जावेंगे। नीचे कुछ प्राचीन विश्वविद्यालय और उनके स्थापित होने का समय दिया जा रहा है :—

पाविया (इटली)	...	सन् ८२५ ई०
पैरिस विश्वविद्यालय	...	सन् ११४०-११७० ई०
नेपल्स	...	सन् १२२४ ई०
पदुया	...	सन् १२२८ ई०
कैम्ब्रिज	...	सन् १२५७ ई०
आक्सफोर्ड	...	सन् १२६६ ई०
प्राग (बोहेमिया)	...	सन् १३४८ ई०
हाइडेलबर्ग (जर्मनी)	...	सन् १३८० ई०
सेंट एंड्रूज़ (स्काटलैंड)	...	सन् १४११ ई०
उप्साल (स्वीडन)	...	सन् १४७७ ई०
कोपन हेगन (डेनमार्क)	...	सन् १४७८ ई०
लीडेन (हालैंड)	...	सन् १५७५ ई०
मास्को (रूस)	...	सन् १७५५ ई०

यहां भारतवर्ष के प्राचीन विश्वविद्यालयों—तक्षिला, नालन्दा, विक्रमशीला आदि—का उल्लेख न हो सका क्योंकि उनका आज अस्तित्व नहीं है।

—कालिदास मुकरजी।

सम्पादकीय मन्तव्य

"प्राचीन भारत" की सातों संख्याओं को विद्वानों ने खूब अपनाया। इसके लेखों पर सबों की दृष्टि आकर्षित थी। आठवीं संख्या भी विद्वानों के कर-कमलों में है। आशा है इसे भी वे पूर्वतः अपनावेंगे।

खेद के साथ यह सूचित करना पड़ता है कि कागज़ को कीमत बढ़ने पर भी "प्राचीन भारत" का काम किसी तरह चलता रहा लेकिन अब बाजार में पैसा देने पर भी कागज़ नहीं मिलता। अतः "प्राचीन भारत" का एक फर्मा कम कर दिया गया। विवशता है। आशा है विद्वान् पाठक क्षमा करेंगे।

*   *   *   *

विश्वभारती को एक विश्वविद्यालय बनाने के लिये कई विद्वान् उसके पीछे पड़े हुए हैं। लेकिन ऐसा करने से उसकी विशिष्टता न रहेगी। इस विषय में रवीन्द्रनाथ का दूसरा ही उद्देश्य था। किस आदर्श पर विश्वभारती को प्रतिष्ठा हुई है इस विषय पर कवि-गुरु ने कई बार कई स्थानों में कहा है और विश्वभारती की २९वीं सख्यक पुस्तिका में उनका उद्देश्य प्रकाशित किया गया है। विश्व-भारती को आन्तर्जातिक शिक्षा और संस्कृति-केन्द्र बनाना और आन्तर्जातिक विश्वविद्यालयों का मिलन-क्षेत्र करना ही उसकी विशिष्टता है।

*   *   *   *

भारतवर्ष की संस्कृति और कृष्टि का पता हस्तलिखित प्रतियों से लगता है। ये हस्तलिखित प्रतियां भारतवर्ष और उसके बाहर फैली हुई हैं। उनमें से कुछ ही प्रकाशित हैं। युद्ध के कारण सम्भवतः वे प्रतियां हमेशा के लिये लोप हो जायँ। हम भारत सरकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट करते हैं कि यदि एक कमेटी बना कर उन प्रतियों की रक्षा की जाय तो अच्छा होगा।

पुस्तक-समालोचना

आचार्यपुष्पाञ्जलि ग्रन्थ :—इस ग्रन्थ की रचना डा० डी० आर० भण्डारकर, एम० ए०, पी-एच० डी०, एफ० आर० ए० एस० बी० के अभिनन्दनार्थ हुई है। इसके सम्पादक हैं डा० बी० सी० लॉ, एम० ए०, बी० एल०, पी-एच० डी०, एफ० आर० ए० एस० बी०, एफ० आर० जी० एस०। श्री सतोशचन्द्र शील, एम० ए०, बी० एल० द्वारा यह ग्रन्थ इण्डियन रिसर्च इन्स्टिट्यूट से प्रकाशित हुआ है।

आलोच्य ग्रन्थ में केवल हिन्दुस्थान के ही नहीं बल्कि पाश्चात्य विद्वानों के एक से एक बढ़ कर लेखों का समावेश है। मोती कीमती और सुन्दर तो होता ही है लेकिन जब कई मोतियों की एक माला बन जाती है जिसमें एक के बाद एक मोती गुथे हुए रहते हैं तो वे मोतियां और भी अधिक सुन्दर प्रतीत होते हैं और उनकी कीमत और भी अधिक हो जाती है। यही हाल है इस ग्रन्थ का। इसमें एक से एक प्राचीन भारत को संस्कृति और कृष्टि के लेख सजे हुए हैं। लेखकों में कुछ हैं डा० गङ्गानाथ झा, एम० ए०, डी-लिट०, सी० आइ० ई० ; डा० एस० के० दे, एम० ए०, डी-लिट ; डा० आनन्द के० कुमारस्वामी डी० एस० सी ; डा० ए० एस० अल्टेकर, एम० ए०, एल० एल० बी०, डी-लिट ; डा० स्टेनकनाओ आदि। इस ग्रन्थ का मूल्य उस समय और भी बढ़ जाता है जब कि यह कहा जाय कि पाश्चात्य विदुषियों ने भी इसमें आग्रहसहित लेख भेजा है। इस ग्रन्थ के कुछ लेखों के शीर्षक ये हैं—भारतवर्ष पर आर्यों की चढ़ाई, हस्तलिखित प्रतियों की खोज, भारत के तपस्वियों पर गवेषणा, पालकाप्य, भारतीय दर्शन में अलङ्कार, विजयनगर में वैष्णव धर्म, यूनानी साम्राज्य और भारतीय साहित्य आदि।

इस ग्रन्थ की और अधिक समालोचना क्या हो सकती है? लेखक और लेख सराहनीय हैं।

—कालिदास मुकरजी।

Women in Ṛgveda :—भगवत शरण उपाध्याय, एम० ए०, पृष्ठ २४१, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटि प्रेस, १९४१।

हर्ष की बात है कि आलोच्य पुस्तक का द्वितीय संस्करण आठ वर्षों के बाद प्रकाशित हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि हमारे देशवासियों का ध्यान यहां की संस्कृति की ओर धीरे-धीरे आकृष्ट होता जा रहा है। सूचना से यह मालूम होता है कि लेखक ने इसे फिर से लिखा है लेकिन खेद है कि इसमें कई त्रुटियां रह गई हैं। उन सब त्रुटियों का यहां उल्लेख करना ठीक न होगा तिस पर भी दो एक विषय पर कुछ कहना भी शायद बुरा न होगा। 'देवऋकामा' शब्द को ही लीजिये। इसका उल्लेख पृष्ठ ९४ और ९७ में किया गया है। लेकिन यह शब्द ऋग्वेद का नहीं। उपाध्य जी ने जिस स्थान का उल्लेख किया है (ऋ० १०।८५।४४) वहां ऋग्वेद के जितने संस्करण मुझे देखने को मिले देवकामा शब्द ही मिलता है। ओल्डेनबर्ग ने भी इसी पाठ के लिये *Textkritische und exegetische Noten* (Vol II, p. 289) में कहा है। पृष्ठ १२९ में उपाध्य जी ने उसी का ठीक पाठ दिया है। फिर दानस्तुति विषयक पाठ (ऋ० १।१२६।७) ६१वें पृष्ठ में बिलकुल गलत है।

खैर ऐसी कुछ भूल-चूक होने पर भी आलोच्य पुस्तक अपने ढङ्ग की अच्छी है।

—बटकृष्ण घोष।

श्री निम्बार्कावतरण :—ले० दानबिहारी लाल शर्मा, प्रकाशक वैष्णव श्री रामचन्द्र दास, वृन्दावन, संवत् १९८९ वि, मूल्य १), श्रील श्रीयुत पण्डित श्री किशोरदास जी महाराज को समर्पित।

आलोच्य पुस्तक 'नाटक' है। इसकी रचना रङ्गमञ्च पर खेलने के लिये नहीं हुई जैसा कि लेखक ने सूचित किया है। इसे हम भक्ति सूचक पुस्तक (नाटक) कह सकते हैं। भक्ति के दृष्टिकोण से यह पुस्तक अच्छी है लेकिन जब यह समालोचनार्थ मेरे पास भेजी गई है उस पर दो-चार बातें लिखना बुरा न होगा।

नाटक के पात्र श्रीकृष्ण, अरुण मुनि, निम्बार्क मुनि और नारद, ब्रह्मा से लेकर 'उलूकानन्द

तथा मूर्खानन्द' भी हैं। यह नाटक तीन अंकों और कई दृश्यों में विभाजित है। पुस्तक के प्रारम्भ में ११ पृष्ठों की भूमिका है।

नाटक में गीतों की भरमार है। यद्यपि ये गीत विशेषतः आराधना आदि रूपों में हैं तथापि इनकी संख्या कुछ कम होने से अच्छी होती। कहीं कहीं एक ही पात्र का कथन एकाधिक पृष्ठों तक है (पृ० ६९-७०, ८८-८९ आदि)। भाषा स्थान स्थान पर बे-ठिकाने की है यथा, "...... इस प्रकार भगवान से प्रार्थना करना जिससे इह और पारलौकिक उन्नति हो, परस्पर प्रेम और एकता बढ़े, समाज में सुख और शान्ति की वृद्धि हो, कोई किसी से ईर्षा द्वेष न करें......" (पृष्ठ० १६२)

यदि यह रङ्गमञ्च पर खेला जाय तो शुरू से लेकर आखिर तक जादू ही जादू-सा लगेगा।

आजकल के पाखण्डी साधुओं का चित्र ठीक ही खींचा गया है लेकिन स्थान स्थान पर अश्लीलता की पराकाष्ठा तक पहुँच है। धार्मिक पुस्तकों में यह खटकता है। विविध तार्किक सिद्धान्त अच्छी तरह से सुलझाये गये हैं।

—कालिदास मुकरजी।

नई पुस्तकें

Administration and Social life under Vijayanagar—
T. V. Mahalingam Madras, University Historical Series, Madras.

The Travancore Tribes and Castes; Vol. III—The Aborigines of Travancore—T. Krishna Iyer, M. A. Trivandrum.

Modern Economic Problems—
Prof. Baljit Singh, Cawnpore

लड़खड़ाती दुनिया—पं० जवाहर लाल नेहरू।

कोंपल—भगवती प्रसाद चंडोल।

बाङ्गला भाषा ओ बाङ्गला साहित्य-एर कथा (बङ्गला)—
डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, एम० ए०, पी-आर० एस०, डी-लिट०।

श्री श्री नित्यानन्द धाम दर्शन (बंगला)—अनादि रञ्जन भारती भक्तिभूषण।

निशिथ (गुजराती)—उमाशङ्कर जोशी।

केतको नव पुष्पो (गुजराती)—नवलराम जे० त्रिवेदी।

ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन (कन्नड)—डी० रेनुकाचार्य।

पुरानी-पत्रिकाएं

कालिदास मुकरजी द्वारा सङ्कलित

The Indian Antiquary Vol. III, 1874.

Prof. H Kern's dissertation on the Era of Buddha and the Asoka Inscriptions—J. Muir, D. C L, L. L D. Ph. D Edinburgh.

दक्षिण के बौद्धों का यह कहना है कि ५४३ ई० पू० में बुद्धदेव को महानिर्वाण मिला था। प्रो० कर्न का भी यही कहना है। लेकिन टर्नर (Turnour) और लेसेन (Lessen) का यह कहना है कि यदि चन्द्रगुप्त के समय को लेकर बुद्धदेव के महानिर्वाण का समय निर्धारित किया जाय तो उसमें ६० वर्ष का हेर-फेर रह जायगा। इस लेख में अशोक के शिलालेखों की परीक्षा कर यथार्थ समय की खोज करने का प्रयास है।

Kalidas, Sri Harsha and Chanda—Kashinath Trimbak Telang, M. A L. L. B., Advocate High Court Bombay.

इस लेख में कालिदास, श्रीहर्ष और चन्द के आविर्भाव काल पर समालोचना की गई है। किसी किसी लेखक की राय में कालिदास का जन्म ईसा के सौ वर्ष बाद हुआ था और चन्द छठवीं शताब्दी के थे। श्रीहर्ष का जन्म चन्द के बाद हुआ था। उनके खण्डन नामक ग्रन्थ में कुमारिल भट्ट का उल्लेख है। कुमारिल भट्ट छठवीं-सातवीं शताब्दी के थे। हर्ष और चन्द समसामयिक थे।

Dr. Leitner's Buddhistic Sculptures—इस लेख में लेखक ने बौद्ध-कालीन-स्थापत्य-शिल्प का चित्र खींच कर उनका परिचय दिया है।

Notes on the Shrine of Sri Sapta-kotisvara—J. Gerson da chunha, M. R. C. S &C Bombay

सप्तकोटिश्वर का मन्दिर गोआ (पोर्त्तुगीज़) के अन्तर्गत नारोग्राम में है। इस लेख में सप्तकोटिश्वर की उत्पत्ति और उसका संक्षिप्त इतिहास दिया हुआ है।

सामयिक-साहित्य

मधुकर—ग्वालियर के किले की कुछ जैन-मूर्त्तियां—श्री कृष्णानन्द गुप्त ।

" —मेहवा के भग्नावशेष—श्री भगवान दास श्रीवास्तव ।

" —भूमि को देवत्व प्रदान—श्री वासुदेव शरण अग्रवाल, एम० ए०, एल० एल० बी० ।

नागरी प्रचारिणी पत्रिका—ईरानी सम्राट् दारा का शूषा से मिला हुआ शिलालेख—

श्री वासुदेव शरण अग्रवाल ।

" —शब्दाङ्क अर्थात् संख्या-सूचक शब्द-संकेत—श्री अगरचन्द नाहटा ।

" —घनानन्द का एक अध्ययन—श्री शंभु प्रसाद बहुगुना ।

पुरुषार्थ (मराठी)—हिंसा-अहिंसावाद—श्री वी० स० वाकसकर ।

" —मराठ्यांचा उदय व ह्रास—श्री विद्यानिधि सिद्धेश्वर शास्त्री ।

" —विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टागोर—श्री श्री० ह० शहाणे ।

तरुणजैन—धर्म में सुधार—काका कालेलकर ।

" —ओसवाल जाति की उत्पत्ति—मुनि श्री ज्ञानसुन्दर जी ।

" —शास्त्रों की बातें—श्री बच्छराज सिंघी ।

सामयिक संवाद

रामगोपाल घोष का दान :—रामगोपाल घोष की मृत्यु आज से ७५ वर्ष पहले हुई थी। उनकी मृत्यु के बाद उनकी विधवा पत्नी की मृत्यु अभी हाल ही में ७५ वर्ष के बाद हुई है। घोष महाशय डेढ़ लाख रुपये अपनी पत्नी के नाम पर जमा कर गये थे जिसका पंचमांश कलकत्ता विश्वविद्यालय के लिये था। ७५ वर्षों के बाद कलकत्ता विश्वविद्यालय को वे रुपये मिले हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि आज से ७५ वर्ष पहले जब कि कलकत्ता विश्वविद्यालय को स्थापित हुए कुल ९ ही वर्ष हुए थे, घोष महाशय की यह दृढ़ धारणा थी कि कलकत्ता विश्वविद्यालय के लिये रुपयों की आवश्यकता है।

राष्ट्रभाषा :—दीनबन्धु ऐन्ड्रूज़ का यह कहना है कि भारतीय-राष्ट्रभाषा में दक्खिनी भाषाओं (जैसे तामिल, तेलुगु, कन्नड़ आदि) के भी कुछ शब्द रहना चाहिये।

माध्यमिक शिक्षा बिल :—माध्यमिक शिक्षा बिल का लोगों ने खूब विरोध किया, इसलिये सरकार और विरोधी दल की ओर से कुछ सदस्य चुने गये हैं जो कि पहले की बनी कमेटी में शामिल होकर कार्य करेंगे।

परिधीमस्तु न कुर्वीत गृह्याकर्मसु याज्ञिकः।
उदकाञ्जलयस्तिस्रस्ते वै परिधयः स्मृताः ॥९६॥

सान्वय-शब्दार्थ—(याज्ञिकः) यज्ञ करने वाला (गृह्याकर्मसु) गृह्यकर्मानुष्ठानों में (परिधीम्+तु) परिधि का विधान भी (न) न (कुर्वीत) करे, क्योंकि गोभिल आचार्य के मत में जो (तिस्रः) तीन (उदकाञ्जुलयः) अञ्जुली भर जल छिड़का जाता है (ते+वै) वे ही (परिधयः) परिधियां (स्मृताः) कही गई हैं ॥९६॥

भावार्थ—गोभिलगृह्यसूत्र में कहा गया है कि :—

'परिधीनप्येके कुर्वन्ति शामीलान पार्णान वा' ॥ प्र० १ ख० ७ सूत्र १६ ।

अर्थात् जिन २ आचार्यों ने शमीकाष्ठ अथवा पलाश काष्ठ की सीमा स्थापन का विधान किया है उसका करना गोभिल आचार्य के मत से आवश्यक नहीं क्योंकि उनके मतानुसार और वेदी की चारों ओर 'अदितेऽनुमन्यस्व' आदि मन्त्रों का उच्चारण कर तीन बार जल छिड़का जाता है उन्हें ही परिधियां समझना चाहिये ॥९६॥

सर्वेषा मेव होमानाम् समिदादौ विधीयते।
कर्म्मान्ते चैव मेव स्यात् स्वाहां तत्र न कारयेत् ॥९७॥

सान्वय-शब्दार्थ—(सर्वेषाम+एव) समस्त ही (होमानाम्) होमों में (आदौ) सब से पहले (समित्) इन्धन देने का (विधीयते) विधान किया जाता है। (च) और (कर्म) होमकर्म की (अन्ते) समाप्ति पर भी (एव) इसी प्रकार अर्थात् इन्धन देने का विधान (स्यात्) होता है (तत्र) उस स्थल पर (स्वाहाम्) स्वाहा शब्द का उच्चारण (न) नहीं (कारयेत्) करावे ॥९७॥

भावार्थ—होम के आदि और अन्त में समिधाधान किया जाता है। इस क्रिया में स्वाहा शब्द का उच्चारण नहीं किया जाता ॥९७॥

इध्म मष्टादश दारु प्रवदन्ति विचक्षणाः।
दर्शे च पौर्णमासे च क्रियास्वन्यासु विंशतिः ॥९८॥

सान्वय-शब्दार्थ—(दर्शे) दर्श (च) और (पौर्णमासे) पूर्णमासी की इष्टियों में

(विचक्षणाः) पण्डितगण (अष्टादश) अठारह (दारु) लकड़ियों का (प्रवदन्ति) विधान बतलाते हैं। तथा (अन्यासु) दूसरे (क्रियासु) क्रियाओं में (विंशतिः) बीस लकड़ियां बताई गई हैं ॥९८॥

भावार्थ—दर्श और पूर्णिमा की इष्टियों में अठारह संख्यक लकड़ियों का विधान है तथा अन्यान्य कर्मों में बीस संख्यक लकड़ियां कही गई हैं ॥९८॥

प्रादेशमात्रं कुर्वीत मेक्षणम् समिधस्तथा।
इध्मः समानवृक्षाणां द्विप्रादेशप्रमाणतः ॥९९॥

सान्वय-शब्दार्थ—(मेक्षणम्) मेक्षण (तथा) और (समिधः) समिधायें (प्रादेशमात्रम्) प्रादेशमात्र परिमाण के (कुर्यात्) करना चाहिये और (इध्मः) लकड़ियां (समान+वृक्षाणाम्) एक ही प्रकार के वृक्षों की (द्वि+प्रादेश+प्रमाणतः) दो प्रादेश परिमाण की होनी चाहिये ॥९९॥

भावार्थ—हाथ के अगूठे तथा पहिली अगुली की दूरी को प्रादेश कहते हैं। मेक्षण पात्र चम्मच के सदृश होता है। इसकी लम्बाई प्रादेशमात्र होनी चाहिये और समिधायें भी इतनी ही लम्बी हों परन्तु इध्म अर्थात् लकड़ियां दो प्रादेश लम्बी हों और एक ही प्रकार के वृक्ष के हों जैसे आम की हो तो सब आम की हों और आम तथा पलाश आदि की मिश्रित न हों ॥९९॥

प्रागग्राः समिधो देयास्ताश्च काम्येष्वपाटिताः।
शान्त्यर्थेषु सशक्ताऽर्द्रा विपरीता जिघांसति ॥१००॥

सान्वय-शब्दार्थ—(समिधः) समिधाओं के (प्रागग्राः) अगले भाग को सामने कर अग्नि में (देयाः) डालनी चाहिये (च) और (ताः) वे समिधायें (काम्येषु) काम्य कर्मों के सम्पादन में (अपाटिताः) बिना फटी हुई याने समूची होनी चाहिये ; तथा (शन्ति+अर्थेषु) शान्ति के उद्देश्य वाले कर्मों में वे समिधायें (सशक्ता) समर्थ अर्थात् सवीर्य और (आर्द्रा) गीली होनी चाहिये और इसकी (विपरीताः) प्रतिकूल समिधायें अर्थात् जो शुष्क तथा निर्वीर्य हों वे कार्यकर्त्ता के (जिघांसति) हनन करने की इच्छा करती हैं ॥१००॥

भावार्थ—काम्यकर्मों के सम्पादन में समिधायें टूटी-फूटी न हों और समिधाओं के अगले भाग को सामने कर अग्नि में डालनी चाहिये और शान्ति के उद्देश्य से जो कर्म किये जायं उनमें समिधायें सवीर्य तथा गीली होनी चाहिये। निर्वीर्य तथा शुष्क समिधाओं से यजमान की हानि होती है ॥१००॥

इध्मः सन्नहनादानं चरुश्रपण मेव च।
तूष्णी मेतानि कुर्वीत समस्तश्चेध्म माददेद् ॥१०१॥

सान्वय-शब्दार्थ—(इध्मः) पूर्वकथित समिधायें और (सन्नहन्+आदानम्) आंख बंद करने तथा हविष ग्रहण की क्रियायें (च+एव) और ऐसी ही (चर+श्रपणम्) खीर पकाने की क्रिया (एतानि) इन सबको (तूष्णीम्) मौन रहकर (कुर्वीत) करनी चाहिये (च) और (समस्तम्) सब (इध्मम्) समिधाओं को अग्नि में (आ+ददेत्) डाल दे ॥१०१॥

भावार्थ—'सन्नहन' – गोभिल गृह्यसूत्र में प्रतिपादित 'परिहणन' क्रिया ही को 'सन्नहन' कहते हैं। उक्त सूत्रग्रन्थ के प्र० [३, ख० २, के ३५ सूत्र में इसका उल्लेख इस प्रकार हुआ है :—

'कसमपां पूरयित्वा सर्वौषधीः कृत्वा हस्ताववधाय प्रदक्षिणमाचार्योऽहतेन वसनेन परिणह्येत्'

अर्थात् आचार्य एक कांसे के पात्र में जल भर कर और उ में सब प्रकार की औषधियां डाल ब्रह्मचारी के हाथों को उसमें डुबावे और उसकी दोनों आखों को बायें से आरम्भ कर दाहिनी को एक नये वस्त्र से बांधे इसी क्रिया का नाम 'परिणहन्' है। आचार्यपुत्र ने इसी 'परिणहन्' क्रिया को 'सन्नहन्' कहा है अतः सन्नहन हविष का ग्रहण करना तथा खीर का पकाना आदि क्रियायें मौन रहकर ही करनी चाहिये और अग्नि में एक ही प्रकार के वृक्ष की लकड़ियां एक ही बार डालनी चाहिये ॥१०१॥

आचार्य्यानुमतं वाक्य मेकीयं गृह्यते क्वचित्।
शेषाण्येकीयवाक्यानि आचार्यो न प्रशंसति ॥१०२॥

सान्वय-शब्दार्थ—(क्वचित्) जहां कहीं गोभिलाचार्य ने अन्य बहुत से आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है वहां (आचार्य+अनुमतम्) गोभिल आचार्य द्वारा अनुमोदित (वाक्यम्) वही वाक्य (गृह्यते) ग्रहण किया जाता है जिस वाक्य का (एकीयम्) एक मतयुक्त प्रतिपादन किया गया है (च+एव) और ऐसे जो (शेषाणि) शेष (वाक्यानि) वाक्य हैं (आचार्यः) गोभिलाचार्य उनकी (न+प्रशंसति) प्रशंसा नहीं करते ॥१०२॥

भावार्थ—गोभिल आचार्य ने अपने गृह्यसूत्र में दूसरे बहुत से आचार्यों के वाक्यों का उल्लेख किया है। अब उनमें यह शङ्का होती है कि गोभिलाचार्य ने उन बहुत से वाक्यों में से किस वाक्य का अनुमोदन कर अपना मत स्थिर किया है? इसका उत्तर यह है कि जिस वाक्य का आचार्य ने एक

करके वर्णन किया है, अर्थात् 'जिस वाक्य में बहुतों का एक मत है वही वाक्य आचार्य का अपना मत है यथा :—गौभिल गृह्यसूत्र प्र० ३ ख० १० का ४था सूत्र है :—

'चतुरष्टको हेमन्तस्ताः सर्वाः समांसाश्चिकीर्षेदिति कौत्सः ॥४॥

अर्थात्—हेमन्तऋतु के चार महीनों में चार अष्टक होते हैं उन्हें मांस सहित सम्पादन करने की इच्छा करे यह कौत्सऋषि का मत है।

पुनः सूत्र ५ में है :—

त्र्यष्टकइत्यौद्गाहमानिस्तथा गौतम वार्कखण्डी ॥५॥

अर्थात्—औदगाहमानि, गौतम और वार्कखण्डी आचार्यों के मत में हेमन्तऋतु में तीन ही अष्टक होते हैं।

अब ऐसे स्थल में शङ्का होती है कि गोभिल आचार्य का अपना मत क्या है? हेमन्तऋतु में कौत्स के मतानुसार चार अष्टक अभिमत हैं वा औदगाहमानि, गौतम तथा वार्कखण्डी आचार्यों के मतानुसार तीन अष्टक ही अभिमत हैं। इसका उत्तर यह है कि हेमन्तऋतु में तीन अष्टकों का होना ही आचार्य द्वारा अनुमोदित है क्योंकि इस पक्ष में कई आचार्यों के एक मत हैं ॥१०२॥

द्रव्याणा मुपक्लृप्तानाम् होमीयानां यथाविधि।
प्रसिञ्चेन्मेक्षणं कुर्य्यादद्भिरभ्युक्षण मेव च ॥१०३॥

सान्वय-शब्दार्थ—(होमीयानाम्) यज्ञ में होम करने योग्य (उप+क्लृप्तानाम्) प्रस्तुत किये हुए (द्रव्याणाम्) द्रव्यों का (यथा+विधि) शास्त्र में प्रतिपादित विधि के अनुसार जल द्वारा (प्रसिञ्चन) सिञ्चन करे (च) और इनको (वीक्षणम्) अवलोकन करे (एव) ऐसे ही जल द्वारा इनको (अभ्युक्षणम्) छिड़के ॥१०३॥

भावार्थ—यज्ञ करने के लिये जो हवन-सामग्री प्रस्तुत की गई है उनको भलीभांति अवलोकन कर ले कि वे शुद्ध हैं और उन पर जल सिञ्चन करे ॥१०३॥

पवित्र मन्तरे कत्वा स्थाल्या माज्यम् समावपेत्।
एतत् सम्पूयनं नाम पश्चादुत्पवनं स्मृतम् ॥१०४॥

(क्रमशः)

हिन्दी-सभा

सभापति—श्रीयुत घनश्यामदास जी बिड़ला।

सह० सभापति—(२) श्रीयुत बंशीधर जालान।

(३) „ भागीरथ कानोडिया।

अन्यान्य सदस्य

(४) काका कालेलकर।
(५) डा० डी० आर० भंडारकर।
(६) महामहोपाध्याय सकलनारायण शर्मा।
(७) डा० सुनीति कुमार चटर्जी।
(८) श्रीयुत बहादुर सिंह सिंघी
(९) श्रीयुत मूलचन्द अग्रवाल।
(१०) डा० बेनीमाधव बड़ुवा।
(११) श्रीयुत शिवप्रसाद गुप्त।
(१२) पं० अम्बिका प्रसाद बाजपेयी।
(१३) श्रीयुत देवीप्रसाद खेतान।
(१४) „ लक्ष्मीनिवास बिड़ला।
(१५) „ पारस नाथ सिंह
(१६) „ पद्मराज जैन।
(१७) „ बाबूलाल राजगढ़िया।
(१८) डा० बटकृष्ण घोष।
(१९) पं० अयोध्या प्रसाद।
(२०) श्रीयुत सतीश चन्द्र शील (परिचालक)
(२१) „ कालिदास मुकरजी (सह-सम्पादक)
(२२) कुमारी पद्मा मिश्रा (सह-सम्पादिका)

प्राचीन भारत का उद्देश्य

हिन्दी में मासिक एवं त्रैमासिक कई पत्रिकायें हैं लेकिन भारतीय संस्कृति एवं शास्त्र सम्बन्धीय कोई पत्रिका नहीं दिखलाई पड़ती। प्राचीन भारत की ज्ञान-गरिमा को हम क्रमशः भूलते ही आ रहे हैं कि इसी भारतवर्ष ने चीन, जापान के अतिरिक्त सुदूर अमेरिका में भी हिन्दुत्व का प्रभाव कैसे डाला था। कैसे यूनानियों ने यहां से चिकित्सा पद्धति सीखी? सम्राट सिकन्दर तो यहां की शिक्षा, एवं संस्कृति को देखकर दंग हो गया था। इस पत्रिका का उद्देश्य उस प्राचीन संस्कृति आदि पर प्रकाश डालना ही है। इस पत्रिका में नीचे लिखे विषयों पर लेख रहेंगे :—

(१) वैदिक शास्त्र (२) दर्शन-शास्त्र (३) धर्म-शास्त्र (४) बौद्ध तथा जैन शास्त्र (५) आयुर्वेद-शास्त्र (६) शिल्प एवं कला (७) प्राचीन विज्ञान-शास्त्र (गणित, ज्योतिष, रसायन, पदार्थ-विद्या आदि) (८) हिन्दी-साहित्य (९) समाज तथा नीति-शास्त्र (१०) प्राचीन तथा आधुनिक भारतवर्ष और दूसरे देशों की शिक्षापद्धति तथा उनका प्रचार कार्य (११) पुस्तक समालोचना तथा अन्यान्य विषयों में प्रकाशित लेखों पर मन्तव्य (१२) सम्पादकीय मन्तव्य। इसके अतिरिक्त अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियों का प्रकाशन एवं प्रकाशित दुष्प्राप्य पुस्तकों की समालोचना। संस्कृत, पाली एवं प्राकृत अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियों का हिन्दी अनुवाद।